आधुनिक काव्यधारा

लेखक—

डाक्टर केसरीनारायण शुक्ल एम्० ए०, डी० लिट्०,

रीडर—

लखनऊ विश्वविद्यालय,

लखनऊ ।

प्रकाशक—

२००७ वि०

हिंदी के अनन्य उपासक और सच्चे पथप्रदर्शक

स्वर्गीय पं० रामचंद्र शुक्ल

की

पुण्य स्मृति में

उन्हीं के छात्र द्वारा

सादर समर्पित

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों की प्रगति और विकास पर लिखे हुए निबंधों का संग्रह है। एकान्विति और धाराप्रवाह के लिए थोड़ी-बहुत पुनरावृत्ति भी हो गई है। सन् १९४० में श्रद्धेय पं० रामचंद्र शुक्ल की देख-रेख में हिंदू विश्व-विद्यालय की डी० लिट्० परीक्षा के लिए अंगरेजी में लिखे गए प्रबंध (Thesis) के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है।

इसमें नवीन युग की परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप नूतन दिशा की ओर प्रवाहित होनेवाली काव्यधारा के रूप को समझाने की चेष्टा की गई है। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तक में कवियों की कृतियों का इतिहास न लिखकर आधुनिक कविता की प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। नवीन चेतना से जागरित कवियों ने अपने-अपने युगों के जीवन और विचारों को सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा देशभक्तियुक्त कविता के द्वारा कौन सा रूप दिया, किस प्रकार के त्याग-ग्रहण तथा सामंजस्य बुद्धि के द्वारा कैसा विकास और परिवर्तन उपस्थित किया—इसमें इन्हीं के निरूपण का प्रयास किया गया है। इसमें प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रभाव, हेतु

और उत्तरोत्तर विकास का इतिहास देने का मेरा प्रयत्न रहा है। इस कारण कहीं तो प्रमुख कवि छूट गए हैं और कहीं सामान्य कवियों का उल्लेख हुआ है। इसी से जीवन की अभिव्यक्ति से विहीन आधुनिक काल के ब्रजभाषा के प्रधान कवियों का विवरण नहीं दिया गया है। काव्यभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने पर खड़ी बोली का इतिहास ही आधुनिक काव्य का इतिहास बन गया है। इसीलिए काव्यभाषा के पद से दूर अन्य विभाषाओं की सामयिक रचना को लक्ष्य से वाह्य समझा गया है। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि लेखक अन्य विभाषाओं को अनादर की दृष्टि से देखता है। प्रकृत विषय की परिमित तक ही अपने को रखने के कारण ऐसा करना पड़ा है। अपने उद्देश्य की पूर्ति में पुस्तक कहाँ तक सफल हुई है इसे साहित्य-मर्मज्ञ जानें।

बड़े शोक के साथ लिखना पड़ता है कि पं० रामचंद्रजी शुक्ल आज हमलोगों के बीच नहीं। अपने दुर्भाग्य से ही आज लेखक को इसी बात पर संतोष करना पड़ता है कि इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा उनकी आज्ञा का पालन हो रहा है। सन् १९४० में डी० लिट्० की उपाधि मिलने पर श्रद्धेय शुक्लजी ने इस प्रबंध को प्रकाशित करने का आदेश किया था, परंतु कुछ ही महीनों बाद उनका निधन हो जाने से उसका पालन उनकी जीवितावस्था में न हो सका। अब इतने वर्षों बाद इस प्रबंध का हिंदी-रूपांतर पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जा

रहा है। विश्वनाथजी की कृपा बिना कदाचित् ही यह कार्य सम्पन्न हो सकता।

मैं इस अवसर पर उन सब लोगों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय नष्ट कर मुझे सदैव सहायता दी है। हिंदू विश्वविद्यालय के अंगरेजी-विभाग के प्रोफेसर श्री जीवनशंकर याज्ञिक, ठाकुर सूर्यकुमार सिंह और पं० रामअवध द्विवेदी ने मुझे निरंतर सत्परामर्श से अनुगृहीत किया है। डाक्टर रामशंकर त्रिपाठी और डाक्टर बाबूराम मिश्र की समयोचित सहायता के लिए मैं अत्यंत कृतज्ञ हूँ।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के दौहित्र बाबू ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल्-एल्० बी० अपने निजी पुस्तकालय के उपयोग की आज्ञा प्रदान कर अमूल्य सहायता दी है। उनकी इस उदारता के बिना प्रबंध के प्रथम खंड की सामग्री दुर्लभ थी। लेखक इस कृपा के लिए उनका अत्यधिक कृतज्ञ है। प्रबंध लिखते समय पं० चंद्रबली जी पांडेय ने अपनी विद्वतापूर्ण सम्मति से मुझे बराबर कृतकृत्य किया है। पुस्तक की अनुक्रमणिका बनाने में हिंदी-विभाग के एम० ए० के छात्र बटेकृष्ण ने अत्यंत परिश्रम किया है।

मैं अपने विद्यार्थी-जीवन के उन मित्रों को नहीं भूल सकता जिन्होंने निराशा के समय विनोद और उत्साह के द्वारा लिखते रहने की प्रेरणा प्रदान की है। कुँवर राघवेंद्र सिंह, कुँवर रिपु-

दमन सिंह, श्रीपाल वैश्य और पं० चंद्रशेखर अवस्थी बिना कहे-सुने ही सहायता दिया करते थे।

जिन मिश्रबंधुओं ने हिंदी-साहित्य की वर्तमान उन्नति में विशेष योग दिया है, जिन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली की कविता, समालोचना, हिंदी-साहित्य का इतिहास, हिंदी-कवि-कीर्तन, हिंदूधर्म के प्राचीन भारतीय इतिहास, उपन्यास, नाटक, सामाजिक उपदेश, हिंदी-हस्तलिखित ग्रंथों की रचना करके साहित्य को समृद्ध किया है उनके द्वारा लिखे इस पुस्तक के 'प्राक्कथन' के लिए लेखक उनका विशेष कृतज्ञ है।

मेरे सहयोगी पंडित विश्वनाथप्रसादजी मिश्र के परिश्रम से ही इस पुस्तक के प्रकाशन का अवसर आ सका। इसका समस्त श्रेय मिश्रजी को है और पुस्तक की त्रुटियों का उत्तरदायित्व मुझ पर।

हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।
ऋषिपंचमी, २००० वि० } केसरीनारायण शुक्ल

प्राक्कथन

भारत में अँगरेजी राज्य की स्थापना होने के अनंतर यहाँ की पुरानी विचार-पद्धति बदलने लगी, जिससे सबसे पहले हमारी धार्मिक मनोवृत्ति में अंतर उपस्थित हुआ। इसके फल-स्वरूप हम व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधनों से कुछ-कुछ दृष्टि हटा-कर न्यूनाधिकरीत्या अपने लौकिक जीवन की ओर मुड़े। देश की दृष्टि राजनैतिक हुई और अपनी दरिद्रता या आर्थिक स्थिति सामने आ खड़ी हुई। यद्यपि भारत में सामाजिक दृष्टि को बदलने के लिए कितने ही आंदोलन आरंभ में हुए तथापि सबसे व्यापक प्रभाव स्वामी दयानंद के आंदोलन का पड़ा, क्योंकि उसका आधार भारतीय था और वह हमारी संस्कृति की रक्षा में भी दत्तचित्त था। विदेशी धर्मप्रचारकों के कारण जो विच्छेद की संभावना बढ़ रही थी और रूढ़िवादी लोगों की कट्टरता से सामाजिक-धार्मिक दशा जो गिराव का रूप धारण करती जा रही थी उसके निराकरण का कार्य इसके द्वारा सबसे अधिक बलशाली हुआ। पढ़े-लिखे लोगों पर इसका बहुत अच्छा और व्यापक प्रभाव पड़ा, विशेषतया पंजाब में। फल यह हुआ कि

साहित्यिक रचना करनेवालों की मनोवृत्ति भी बदलने लगी। उन्होंने जब अपने साहित्य की ओर देखा तो वह शृङ्गार की वासनामय रचना में ही विशेषतया लिप्त दिखाई पड़ा। अतः उसका त्याग करके नूतन परिपाटी पर साहित्य को बढ़ाने की आवश्यकता प्रतीत हुई और रचयितागण उसमें संलग्न होने लगे। इन्होंने पद्य को ही प्राचीन कवियों की भाँति अपने विचारों का व्यंजक नहीं रक्खा, वरन् गद्य को भी ग्रहण किया। तो भी पद्य का प्रभाव किसी को अविदित न था। अतः अत्यंत प्रभविष्णु रचनाएँ जीवन का व्यावहारिक रूप सामने लाने के लिए पद्य में भी निर्मित होने लगीं। इस समय के सब से प्रमुख कवि भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। इनकी प्रतिभा से तत्कालीन अधिकांश साहित्यकार चमत्कृत थे और इन्हीं की परिपाटी पर चलने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके अनुयायी कवियों के द्वारा हिंदी-काव्य में नूतनता का समावेश हुआ। यह नूतनता सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषयों से संबंध रखनेवाली थी। साहित्य की सीमा इसके समावेश से विस्तृत हो गई और हिंदी-काव्य में अपेक्षित आधार-भूमि पर फैल गया। हमारे साहित्य के लिए यह कार्य निश्चय ही मंगलमय हुआ।

पुरानी कविता में विषय की दृष्टि से चाहे कमी रही हो, पर जिस भाषा में वह निर्मित हो रही थी उसकी मधुरिमा, सरलता आदि के गुणों से सभी परिचित थे। ब्रजभाषा, अवधी आदि में कई सौ वर्षों से रचना होती आ रही थी और उन्हें हिंदी के अनेक समर्थ कवियों ने अपनी वाणी द्वारा माँजकर परिष्कृत कर रक्खा था, अतः पद्य के क्षेत्र में भाषा का परिवर्तन इन कवियों को अभीष्ट नहीं हुआ। वस्तुतः उस समय के कवि नई-पुरानी बातों

को स्वभावतः मिलाकर चलना चाहते थे। बात भी ठीक थी। विकास उत्तरोत्तर होता है। सहसा परिवर्तन से अनर्थ होने की संभावना बनी रहती है। फिर नई विचार धारा के साथ नई भाषा भी आ जाय तो वह एकाएकी अपना प्रभाव डालने में समर्थ भी तो नहीं हो सकती। इसलिए यह काम भी ठीक ही हुआ कि व्रजभाषा आदि में ही उस समय की. काव्य-रचनाएँ होती रहीं। उस युग में निश्चय ही लोग सामंजस्य-बुद्धि से काम कर रहे थे। यह सामंजस्य सर्वत्र दिखाई देता है, विचारों, प्रणाली और भाषा में भी।

बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने यह आंदोलन उठाया कि गद्य और पद्य दोनों में खड़ी बोली का व्यवहार हो सकता है और होना चाहिए। द्विवेदीजी ने इसके पहले अपनी रचनाएँ व्रजभाषा में ही लिखी थीं और अधिकांश लोग व्रजभाषा में ही उस समय तक रचना कर रहे थे। इस आंदोलन के चलने का प्रभाव यह हुआ कि कुछ लोगों ने इससे प्रभावित होकर खड़ी बोली में कविताएँ प्रस्तुत कीं और इसमें विविध प्रकार की रचनाएँ होने लगीं। कुछ लोगों ने संस्कृत की पदावली पसंद की और उसके लिए संस्कृत के छंद भी चुने। किसी ने ऐसी रचना सतुकांत रक्खी और किसी ने अतुकांत। कोई उर्दू की बहरों की ओर गया और उससे अरबी-फारसी के चलते शब्दों और शैली को भी ग्रहण किया। यदि किसी ने हिंदी के मात्रिक छंदों में ही खड़ी बोली को गाया, तो कोई अन्य व्रजभाषा के कवित्त-सवैयों में उसे ढालने लगा। तात्पर्य यह कि खड़ी बोली धीरे धीरे पद्य के क्षेत्र में छा गई। तथापि व्रजभाषा की भी रचनाएँ बराबर होती रहीं। खड़ी बोली वालों की बहुत सी रचनाएँ व्रजभाषा में भी मिलती हैं।

खड़ी बोली अधिकतर नई परिपाटी के विषयों के वर्णन में प्रवृत्त हुई। ब्रजभाषा में जैसे भारतेंदु-युग में नए विषय लिखे जाते थे वह बात अब नहीं रह गई है, यद्यपि कुछ रचनाएँ ब्रजभाषा में भी नए ढंग की हैं। खड़ी बोली पद्य के क्षेत्र में व्यवहृत तो अवश्य होने लगी पर उसमें अपनी परंपरा का ही निर्वाह रहा, यह नहीं कि कविता की प्रणाली भी बदले। केवल उर्दू ढर्रे पर चलनेवालों में कुछ बातें यत्र तत्र ऐसी अवश्य दिखाई देती थीं जिन्हें हम अपनी पुरानी पद्धति से भिन्न कह सकते हैं। पर उस प्रणाली का ग्रहण भी अपने ढंग से ही हुआ। किंतु रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं की ख्याति फैलती आ रही थी, जिसका फल यह हुआ कि बँगला के ढंग पर नई प्रणाली से रचना करने का श्रीगणेश हो गया। ऐसा हुआ तो उसी समय जिसे 'द्विवेदी-युग' कहते हैं पर इसका विकास और विस्तार आगे चलकर नवीन युग में हुआ तथा नए ढंग के गीत, नए प्रतीकों का ग्रहण, रहस्यवाद की रचनाएँ और नए ढंग की व्यंजक पदावली का प्रयोग होने लगा इस प्रकार की रचना को लोग 'छायावाद' की कविता कहने लगे। कुछ लोग तो सचमुच बड़े अच्छे ढंग की रचना करने लगे, जैसे पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा आदि, पर बहुत से ऐसे भी थे जो ठीक-ठिकाने की कोई बात न कहकर शब्दजाल में ही फँसे रह गए। इस प्रकार आधुनिक कविता बदलते बदलते छायावाद तक पहुँची। इस ढंग की रचनाएँ अब खड़ी बोली में ही होती हैं। ब्रजभाषा को बहुत लोग छोड़ ही बैठे हैं। छायावाद की रचनाएँ भी गूढ़ शब्दों और भावों की अधिकता, अस्पष्टता और टेढ़ेपन के कारण उठने लगी हैं। अब दूसरी ही मनोवृत्ति दिखाई दे रही है, जिसमें समाज के दलित वर्ग को कविता का

लक्ष्य बनाकर लोग 'प्रगतिवादी' नाम की रचनाएँ कर रहे हैं। अभी कहा नहीं जा सकता कि इन रचनाओं का स्वरूप क्या होगा, पर पहले इस प्रकार की क्रांतिवादी या प्रगतिवादी रचनाएँ 'छायावादी' पदावली में होती थीं और लोगों के लिए अनुकूल नहीं पड़ती थीं। अब ये रचनाएँ ऐसी सादी हो रही हैं कि लोग इनमें काव्य तत्त्व की कमी पा रहे हैं, क्योंकि नग्न वास्तविकता के साथ इनमें साहित्यिक गौरव का प्रायः अभाव रहता है। कविता तभी अच्छी हो सकती है जब उसमें भाव की सचाई हो और साथ ही भाषा में भी कुछ सजाव हो, पर केवल सजाव ही सजाव ठीक नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक में इन सब बातों का विस्तार के साथ विचार और विवेचन किया गया है। आधुनिक हिंदी-कविता पर जीवन की विभिन्न धाराओं के अनुरूप विस्तृत विचार करनेवाली यह उत्कृष्ट पुस्तक है। इसमें अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए सुव्यवस्थित तर्क तो दिए ही गए हैं, आवश्यक उद्धरण भी हैं। उद्धरणों की उत्तमता के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह स्वरुचि की बात होती है। लेखक की पद्धति बहुत ही स्पष्ट और विद्वत्तापूर्ण है। हिंदी में इस पुस्तक का यथोचित मान होगा इसकी पूर्ण आशा है।

ग्रंथ में भारतेंदु-युग, द्वितीय-युग और वर्तमान युग को लेकर विविध विषयों के अनुसार लेखक ने प्रकाश डाला है। वर्तमान काव्य को महत्त्वपूर्ण मानकर उसने उसकी विवेचना में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है और हरिश्चंद्र तथा द्विवेदी युगों पर प्राप्त सामग्री की कमी और तत्कालीन कवियों द्वारा परमोच्च भावों के स्वल्प प्रदर्शन के कारण अधिक नहीं लिखा है। प्रथम दो युगों के कवियों का कथन कम समझा जा सकता, किंतु यह

कमी वर्तमान युग संबंधी उच्च समालोचना से पूरी हो जाती है। कुल मिलाकर विचार-स्वातन्त्र्य, नवविचारोत्पादन, सहृदय काव्य-कथन तथा उच्च समालोचना के लिए ग्रंथ द्रष्टव्य तथा लेखक धन्यवादार्ह है।

मिश्र-भवन
गोलागंज, लखनऊ,
३० अगस्त, १९४३

मिश्रबंधु

श्यामविहारी मिश्र
(रावराजा, डी० लिट्०,
रायबहादुर)
शुकदेवविहारी मिश्र
(रायबहादुर)

अध्याय-सूची

आधुनिक काव्यधारा

उपक्रम

प्रवेशिका

नवयुग की जागर्ति और चेतना के प्रसार के साथ-साथ आधुनिक काव्य की व्यापकता भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। आज की कविता में जीवन की सर्वांगीणता लक्षित होती है और आज का कवि सामयिक विचारों से ओत-प्रोत होकर उन्हें अपने भावों की अभिव्यक्ति का सफल साधन बना रहा है। जनता तथा समाज के अधिकाधिक वर्गों की भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनकर नवीन कविता सब के हृदय पर अधिकार जमा रही है। प्राय: सभी स्थिति और वर्ग के मनुष्य वर्तमान कविता के उपासक बन रहे हैं।

वर्तमान युग की कविता का अपना महत्त्व है। नवयुग की जागर्ति का स्पष्ट आभास वर्तमान कविता की नवीन चेतना में मिल रहा है। वर्तमान युग की कविता हिंदी-साहित्य के इतिहास में नवीन अध्याय का श्रीगणेश करती है। कवि विचार एवं प्रक्रिया के क्षेत्र में नूतन रमणीयता के अनुसंधान में व्यस्त हैं। वर्तमान कविता लोक को जीवन के उत्साह, स्थिति की संकुलता और समस्याओं की जटिलता से परिचित करा रही है। राष्ट्रीय चेतना से जागरित समाज को वाणी का वरदान देकर और जीवन की विविधता एवं अनेकरूपता की झलक दिखाकर यह अपनी व्याप्ति का संकेत कर रही है।

आज की कविता अपना मधुर संगीत सुना रही है, जो सुनना चाहें वे सुन सकते हैं। पाठक या श्रोता को इसकी अनेकरूपता और रमणीयता के हृदयगंम करने में जो कठिनाई पड़ती है उसका

कारण स्पष्ट है, वस्तुतः इसका रूप-रंग पूर्ववर्ती कविता से भिन्न है। इसी से केवल विशिष्ट प्रकार की कविता का अभ्यासी और केवल उसी को कविता माननेवाला सामान्य पाठक नूतन और परिवर्तित काव्य को अनर्गल प्रलाप मात्र समझता है।

जीवन की परिवर्तित परिस्थिति का सम्यक् महत्त्व न समझने के कारण ही आधुनिक काव्य के रसास्वादन में कठिनता हो रही है। उन्नीसवीं और बीसवीं शती ने वस्तुस्थिति और मनोद्दष्टि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। इसी से जीवन और जगत् की परिस्थिति को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करनेवाली नवीन कविता भी बदली हुई दिखाई देती है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आदर्शों में विश्वव्यापी उलट-फेर हो रहा है। आज की कविता विगत कल के प्रचलित विचारों, मनोभावों और परंपरा से छूटकर दूसरी ओर बढ़ रही है।

स्वच्छंदता और परिवर्तन के उपस्थित होने पर भी काव्यधारा अप्रतिहत गति से ही प्रवाहित होती रहती है। उसके मनोभावों और विचारों में पारंपर्य और क्रमिक विकास बराबर बना रहता है। इसी पारंपर्य और अखंडता के कारण साहित्य के दो विभिन्न युग शृंखला की कड़ियों की भाँति परस्पर जुड़े रहते हैं, यद्यपि दो युगों के बीच संक्रांतिकाल का होना अनिवार्य है। इस संक्रांति-काल में परवर्ती युग की प्रवृत्तियों को अपदस्थ कर स्वयं पदारूढ़ होने की चेष्टा करने लगती हैं। इसीलिये इसके अनुशीलन से आनेवाले युग के महत्त्व, उसकी विविध प्रवृत्तियों के हेतु और प्रभाव के अध्ययन में विशेष सहायता मिलती है।

ऐसे ही महत्त्वशाली संक्रांतिकाल के दर्शन हिंदी का भारतेंदु-युग कराता है, जब आधुनिक काव्य रीतिकाल की भावना और

मनोदृष्टि की पुरानी पद्धति त्याग कर नूतन पथ को ग्रहण करने की चेष्टा कर रहा था। आधुनिक काव्य का आरंभ ऐसे ही त्याग और ग्रहण से हुआ और भारतेंदु-युग आधुनिकता के प्रथम प्रयास के रूप में दिखाई पड़ा। नूतनता-विधायक इस प्रथम युग का नाम 'भारतेंदु-युग' अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि सभी हिन्दी-प्रेमी जानते हैं कि 'भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र और उन्हीं के रंग में रंगे हुए उनके सहयोगियों के सतत परिश्रम से ही इस युग का प्रवर्तन संभव हो सका। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम खड का नामकरण 'भारतेंदु-युग' किया गया है। भारतेंदु-युग ईसाई संवत् १८६५ से १९०० तक माना जा सकता है। भारतेंदु-युग की गति विधि और गतपूर्व युग के साथ उसके संबंध के सम्यक अध्ययन के लिये रीतिकाल का आलोचनात्मक परिचय देना आवश्यक है और वर्तमान काव्य के स्वरूप-बोध के लिए भारतेंदु-युग का पर्यालोचन अपेक्षित है, क्योंकि स्वतन्त्रतापूर्वक पुरानेपन का त्याग और नएपन का ग्रहण तथा दोनों के समन्वय के लिए सामंजस्य-बुद्धि का उदय इसी समय से हुआ। पर यह सामंजस्य केवल विचार के क्षेत्र में लक्षित हुआ, भारतेंदु-मंडल ने परंपरा से प्राप्त भाषा और प्रक्रिया को ज्यों का त्यों बनाए रखा।

भाषा के क्षेत्र में परिवर्तन उपस्थित होने पर आधुनिक काव्य के दूसरे युग का आरंभ हुआ। इस युग में गद्य की भाषा खड़ी बोली ब्रजभाषा को अपदस्थ कर पद्य या काव्य की भाषा बनी। यद्यपि खड़ी बोली को पद्य की भाषा बनाने का आंदोलन भारतेंदु-युग के अंतिम वर्षों में ही खड़ा हो गया था तथापि इस क्षेत्र में इसका सर्वसम्मति से ग्रहण इसी समय हुआ। पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के परिष्कार का वास्तविक उद्योग स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के तत्त्वावधान में ही हुआ। उन्होंने लेखकों को गद्य-

रचना करना ही नहीं सिखलाया प्रत्युत आज के कई खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवियों को 'सरस्वती' के सम्पादक के नाते उसमें काव्य-रचना करना भी सिखलाया। इस प्रकार हरिश्चन्द्र के समान द्विवेदीजी का भी साहित्य की गति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उनके अथक परिश्रम से ही आज खड़ी बोली फल-फूल रही है। इसका अधिकांश श्रेय उन्हीं को है। द्विवेदीजी के इसी व्यापक प्रभाव को ध्यान में रखकर प्रस्तुत-पुस्तक के द्वितीय-खंड का नाम 'द्विवेदी-युग' रखा गया है। इसका आरम्भ ईसाई संवत् १९०० से माना जा सकता है।

नवीनता के उपर्युक्त दो युग हमें आधुनिक काव्य के विचार तथा भाषा संबंधी परिवर्तनों से परिचित कराते हैं और वर्तमान कविता हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं, जिसकी विविधता और अनेकरूपता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये दो युग नवीन कविता के विचार तथा भाषा संबंधी विकास के दो सोपान हैं। इन दो युगों का रंग चढ़ने के बाद ही वर्त्तमान काव्य का पूरा-पूरा चित्र प्रस्तुत हो सका। अत: आज की कविता का स्वरूप समझने के लिये 'भारतेंदु-युग' तथा 'द्विवेदी-युग' की विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान काव्य की विविध तथा विरोधी प्रवृत्तियों और प्रक्रिया के निर्धारण एवं निर्माण में इन्होंने ही विशेष योग दिया है। इन दो युगों के सम्यक अध्ययन से इसका पता लग जाता है कि आधुनिक प्रवृत्तियों का उदय अकारण या अनायास नहीं हुआ है, प्रत्युत इनके क्रमिक विकास

का पूरा इतिहास है। इस इतिहास का विवरण देने के अनन्तर पुस्तक के तृतीय खण्ड में आधुनिक काव्य के वर्तमान युग का परिचय देने की चेष्टा की गई है। वर्तमान युग का आरंभ ईसाई संवत् १९१८–२० से माना जा सकता है, जब से कवियों का एक समुदाय विचार तथा प्रक्रिया में नवीन रमणीयता लाने में दत्त-चित्त हुआ। पूरी काव्यधारा को प्रभावित करनेवाले किसी व्यापक तथा प्रभावशाली कर्ता के अभाव में इस काल को 'वर्तमान युग' कहना ही उचित होगा।

वर्तमान युग के महत्त्व तथा आधुनिक काव्य की आधुनिकता का सम्यक् बोध इन्हें साहित्य के इतिहास का अंग और अंश मानने पर ही हो सकता है। इतिहास की विशद भूमिका के बीच स्थित करके देखने पर आधुनिक काव्य के ये युग विरोध का रूप-रंग त्यागे हुए पूर्ववर्ती काल से संलग्न परवर्ती युगों के रूप में ओत-प्रोत होकर शृंखला की कड़ियों की भाँति परस्पर नथे हुए दिखाई देते हैं। ऐसी व्यापक दृष्टि से देखने पर आधुनिक काव्य के ये साठ वर्ष हिंदी–साहित्य के इतिहास में नवीन उत्थान अनु-प्राणित करते दिखाई देते हैं। अतः भक्तिकाल और रीतिकाल की भाँति आधुनिक काव्य के इन साठ वर्षों को 'नवीनकाल' कहा जा सकता है। जीवन और काव्य के अन्योन्याश्रित संबंध को जानते-बूझते आधुनिक काव्य के अध्ययन का महत्व प्रतिपादित करने की कदाचित् ही कोई आवश्यकता प्रतीत हो। भारतीय इतिहास और जीवन में उन्नीसवीं और बीसवीं शती का अत्यधिक

महत्त्व है। जीवन के सभी क्षेत्रों—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आदि—में इनका प्रभाव लक्षित होता है। इन दो शतियों ने कवियों की मनोदृष्टि में भी अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। कवि वर्तमान जीवन की जटिलताओं और समस्याओं द्वारा वाणी के शृंगार के उपकरण जुटा रहे हैं। आधुनिक काव्य के तीन युगों में से प्रत्येक अपने समय का दर्पण है। इस प्रकार इन युगों का महत्त्व जीवन और साहित्य के अध्येताओं के लिये और भी बढ़ जाता है। आज की वस्तुस्थिति के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये आधुनिक काव्य के अनुशीलन की अत्यन्त आवश्यकता है।

रीतिकालीन काव्यधारा

विक्रम सत्रहवीं शती के अंतिम चरण से हिंदी-काव्यधारा नवीन दिशा में प्रवाहित होने लगी। काव्यगत इस परिवर्तन के साथ-साथ देशदशा में भी परिवर्तन लक्षित हुआ। विदेशी आक्रमणों का अन्त हो गया और मुगल बादशाहों के आधिपत्य में व्यवस्थित शासन का प्रारंभ हुआ। देश में शांति और समृद्धि का आविर्भाव होने लगा, फलतः प्रजा अपने तन-धन को सुरक्षित समझने लगी।

शांतियुक्त और व्यवस्थासम्पन्न परिस्थिति से प्रवाहित होकर हिंदी-कविता का क्षेत्र भी परिवर्तित हो गया। तत्कालीन कवि अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों की भाँति आमुष्मिक कामना करने से विरत होकर लोकरुचि के अनुकूल ऐहिक सुख और भोग-विलास के गीत गाने लगे। देशदशा के इसी परिवर्तन से काव्य प्रभावित हुआ और नए ढंग की कविता का उद्भव हुआ।

हिंदी-साहित्य के इतिहास में यह नई काव्यधारा रीतिकालीन कविता (सं० १७००–१९०० वि०) के नाम से प्रसिद्ध है। यह नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह कवि और आलोचक के कर्तव्यों की उस अस्पष्टता का भी संकेत देता है जो इस काल की सर्वसामान्य विशिष्टता थी। इस समय साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों को पद्यबद्ध करके कतिपय उदाहरण देने की परंपरा सी चल पड़ी। यथार्थ में रचयिताओं का ध्येय साहित्यशास्त्र का सम्यक् निरूपण न होकर काव्यनिर्माण की शक्ति का प्रदर्शन मात्र था। इसी कारण बहुत से कवि आलोचक का बाना धारण किए दिखाई

देते हैं। इन आलोचकाभास कवियों के ग्रंथों से साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध नहीं हो सकता। रीतिकाल के कवियों में अलंकार या रस की पद्यबद्ध व्याख्या का फैशन सा चल पड़ा। अधिकांश कवि ऐसा ही खिलवाड़ करने में संलग्न हुए। इससे इन कवियों की तत्कालीन साहित्यिक रूढ़ि की दासता लक्षित होती है। यह रीतिकाल की सर्वसामान्य प्रवृत्ति है।

रीतिकाल की अधिकांश कविता धार्मिकता का बाना धारण किए हुए है, यद्यपि वास्तव में इसका विषय लौकिक प्रेम ही है। कविता की सबसे बड़ी कसौटी, भावानुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति का ही रीतिकाल की धार्मिक कविता में पूर्ण अभाव है। केवल राधा और कृष्ण के नाम के समावेश के कारण इस समय की कविता को धार्मिक नहीं माना जा सकता। सच बात तो यह है कि भक्त कवियों के भावातिरेक का समय समाप्त हो चुका था, रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे और उनका ध्येय था अपने आश्रयदाता की तुष्टि। इन कवियों के लिए कविता लौकिक सुख का साधन थी। अतः उसमें संसार से विरक्त भक्त कवियों की सी उद्दीप्त भावना की खोज व्यर्थ है। दरबार और आश्रयदाता की प्रसन्नता के लिए लौकिक वासनायुक्त प्रेम की कविताओं की अत्यधिक रचना हुई। इससे दरबारी लोग प्रसन्न भी हुए और कवियों का मान भी बढ़ा। इसलिए यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं होता कि रीतिकाल के अधिकांश कवि प्रेम के कवि हैं और अधिकांश कविता प्रेम की कविता है, जो थोथी वासना को ही उद्दीप्त करती है। समझदार जनता की कटु आलोचना से बचने के लिए इन कवियों ने अपनी रचना में 'राधा' और 'कन्हाई' का नाम देकर उस पर धार्मिकता का रंग भर चढ़ा दिया है। इस प्रकार राधा और कृष्ण के नाम की आड़ लेकर

इन कवियों ने अपनी कोरी वासना की ही अभिव्यक्ति की। यदि इन कविताओं से राधा और कृष्ण के नाम निकाल दिए जायँ तो इन धार्मिक कविताओं और भौतिक प्रेम की कविताओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

रीतिकाल की कविता का प्रधान वर्ण्य विषय प्रेम है। इस काल में प्रेम की कविता की जैसी उन्नति हुई वैसी कभी नहीं। प्रेमभावना की अत्यंत मधुर और मार्मिक अभिव्यंजना अवश्य हुई। रीतिकाल के कवित्तों, सवैयों, दोहों इत्यादि में प्रेम का बढ़ाचढ़ा रूप बराबर दिखाई पड़ता है। अतः यह समय प्रेम की मधुर अभिव्यक्ति के लिए हिंदी-साहित्य में निश्चय ही चिरस्थायी रहेगा, भले ही इस काल में उस प्रेम पर घोर शृंगार का गहरा रंग चढ़ गया हो।

रीतिकाल में 'प्रेम' 'वासना' का पर्याय बन गया और प्रेम की कविता नायक-नायिका-विषयक रचना मात्र रह गई। कवि अपने को बाह्य सौंदर्य की मोहिनी से मुक्त कर आभ्यन्तर रमणीयता के वर्णन में प्रवृत्त करने में असमर्थ रहे। इस कारण इनकी स्थूल दृष्टि रमणीयता की सच्ची परख में असफल रही। रीतिकाल के अधिकांश कवियों को इतने बड़े संसार में केवल नायिका के बाहरी रूप-रंग में ही सौन्दर्य की झलक मिली। कवियों ने प्रकृति के भी उन्हीं दृश्यों का कविता में समावेश किया जिनसे उनकी वासनामय प्रेमवृत्ति के उद्दीपन में सहायता मिल सकती थी। इस-लिए शिशिर और ग्रीष्म का ग्रहण विरह-वेदना की अभिव्यक्ति के ही लिए अपेक्षित हुआ। वर्षा प्रवासी को अपनी विरहिणी का स्मरण दिलाकर घर लौटने के लिए प्रेरित करनेवाली ही दिखाई पड़ी। विप्रलंभ और संभोग शृंगार के विषाद-हर्ष को उद्दीप्त करने के अतिरिक्त षट् ऋतुओं का मानों कोई और उपयोग ही नहीं था।

ऋतु ही नहीं, उनके लिए सारी प्रकृति तक अर्थहीन थी। भारत के पार्वत्य प्रदेश की उपत्यकाओं, निर्झरिणियों, सरिताओं, लता-वीरुधों शस्यश्यामल क्षेत्रों आदि में इन कवियों को कोई स्वच्छंद सौंदर्य नहीं दिखाई देता था। कवि उत्कट प्रेमवासना के गीत गाने में इतने व्यस्त थे कि उन्हें अपने चारों ओर आँख उठाकर देखने तक का अवकाश नहीं था। रीतिकाल के प्रेमकाव्य में यहाँ से वहाँ तक दरबारी उच्छृंखलता और भोग-विलास की यही ओछी वासना प्रतिबिंबित है। देश की राजनीतिक शांति और समृद्धि की पूरी-पूरी झलक इस कविता में विद्यमान है।

पूर्वोक्त विलास की सामग्री के भार से दबकर काव्य की दृष्टि संकुचित हो गई और उसमें व्यापकता न आ सकी। कवियों को रचना के लिए नए-नए विषय न मिल सके इसी से प्रेम के अतिरिक्त अन्य विषयों पर बहुत कम कवियों ने काव्य-रचना करने का उत्साह दिखलाया। फलस्वरूप इस काल की कविता में विविध तथा अनेकरूपता के दर्शन दुर्लभ हो गए और उसमें कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की छाप पूरी-पूरी पड़ ही नहीं सकी। फिर इन रचनाओं में विशिष्ट शैलियों का विकास होता तो कैसे होता। कवि केवल परंपरा के निर्वाह में उलझ गए, उससे छूटकर अपनी-अपनी पृथक शैली के विकास की चेष्टा कोई करता भी तो कैसे करता। परिणाम यह हुआ कि नाम हटाकर यदि इन कवियों की रचनाएँ मिला दी जायँ तो इनकी रचनाओं को रचयिताओं की विशेषता के आधार पर छाँटना अत्यन्त कठिन हो जाय। इस काल के कवियों ने भक्तिकाल से मिली छंदों तथा भाषा की जमी-जमाई पद्धति को पाकर ही पूर्ण संतोष-लाभ कर लिया। नए-नए छंदों का विधान करने की न तो उनमें उमंग ही उठी और न भाषा-शैली में अपना-अपना रंग लाने के लिए उनकी वाणी का कोश ही खुला।

यह सभी जानते हैं कि साहित्य के रूढ़िग्रस्त हो जाने पर ही परंपरा के विरुद्ध प्रतिवर्तन अथवा परिवर्तन का आरंभ होता है। आधुनिक काल में यही घटना घटित हुई। रीतिकाल में प्रेम की कविता अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची। पर इसमें जीवन के प्रति उदार दृष्टि न आ सकी, जिससे धीरे-धीरे इसकी संजीवनी शक्ति का नाश हो गया। क्या भाषा, क्या भाव और क्या वृत्त सभी कुछ रूढ़ि से जकड़ गया, संजीवनी शक्ति टिकी भी रहती तो किस आधार पर।

रूढ़ि ने कवियों की सर्वतोमुखी भावना कुंठित कर दी। प्रकृति का तो बहिष्कार-सा हो गया। कवि अपने चतुर्दिक् नित्यप्रति घटित होनेवाली घटनाओं से भी आकृष्ट न हो सके। इस काल में लोकगत साधारण चेतना भी लुप्तप्राय हो गई थी और जनता कूपमंडूक बन बैठी थी। कवि अपने काव्य की नायक नायिकाओं की प्रेमक्रीड़ा और विरह-वेदना के वर्णन में ही व्यस्त थे। वे न तो जीवन के अन्य अंगों पर दृष्टिपात ही कर सके और न सामयिक घटनाओं और विचारों का अपनी रचनाओं में समावेश ही। इसी लिए रीतिकाल की अधिकांश कविता में सामयिकता का पूर्ण अभाव है। रीतिकाल की रचना से सामान्य रूपमें यह भ्रांति हो सकती है कि इस काल में निरवच्छिन्न शांति वीराजमान् थी, किंतु इस काल की तीन शतियों तक अटूट शान्ति थी नहीं। बीच-बीच में राजनीतिक षड्यन्त्र, विद्रोह और उत्पात होते ही रहते थे, यद्यपि कविगण न तो उनसे प्रभावित हुए और न उनका महत्त्व ही समझ सके। इस प्रकार रीतिकाल के कवियों का देश के सामान्य जीवन से कोई सम्पर्क नहीं रह गया। इस काल की कविता में ऐतिहासिकता के अभाव का प्रधान कारण यही है।

यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त पंक्तियों में रीतिकाल के अवगुणों पर ही दृष्टि रखी गई हैं, पर सच पूछिए तो यह उस काल की असाधारण वास्तविक काव्यस्थिति का साधारण चित्र मात्र है। वस्तुतः यहाँ रीतिकालीन काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों की गति-विधि और विकास के दिग्दर्शन की ही चेष्टा की गई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस कालमें लक्षित होनेवाली कतिपय इन अवांछनीय प्रवृत्तियों के साथ-साथ इस काल की कविता में यत्र-तत्र रमणीयता के भी खुले दर्शन होते हैं। परंपरा-पालन और रूढ़ि-निर्वाह वाले इस काल में भी विहारी की कविता में रचना-कौशल, अर्थ-गौरव तथा मौलिकता पर्याप्त परिमाण में मिलती है। घनानंद की कृति में अंतर्वृत्ति की गूढ़ एवं मार्मिक अभिव्यंजना उपलब्ध होती है। उस विलासपूर्ण परिस्थिति में भी भूषण की रचनाओं में इतिहास ने काव्य का बाना धारण कर लिया है और इस प्रकार उनकी कविता में वास्तविकता और काव्य एक-दूसरे से जुड़ गए हैं। फिर भी इन्हें उस काल की साधारण प्रवृत्ति से पृथक् और अपवाद-स्वरूप ही मानना पड़ेगा। इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रमुख कवियों को छोड़कर इस काल की कविता में उदात्त भावना के बहुत कम दर्शन होते हैं प्रेम का वासनापूर्ण रूप ही अधिक दिखाई देता है और उसमें भी घोर शृंगारिकता का पुट है। सौंदर्य-चित्रण में संयम का पूर्ण अभाव है और कवि कभी-कभी उच्छृङ्खलता की सीमा तक पहुँच जाते हैं। प्रकृति-सौंदर्य के लिए तो अधिकांश कवियों के पास आँखें ही नहीं हैं।

फिर भी यह न समझ लेना चाहिए कि काव्य की ऐसी स्थिति का संपूर्ण उत्तरदायित्व केवल इन कवियों पर ही है और इसका सारा दोष इन्हीं के सिर पर मढ़ा जाना चाहिए। उस समय की परिस्थिति तथा भावना काव्य के उदात्त आदर्शों की प्राप्ति के

प्रतिकूल थी। यह मुगल बादशाहों का शासन-काल था और उनके भोग-विलास की कहानियाँ चारों ओर प्रचलित हो गई थीं। उनके उच्छृङ्खल विलास का अनुकरण अन्य छोटे-छोटे राजा भी कर रहे थे, अतः उस समय की शृंगारी कविता में विलासपूर्ण जीवन का चित्र स्वाभाविक है क्योंकि अधिकांश कवि किसी न किसी दरबार के आश्रित थे। इन कवियों का व्यक्तित्व इतना दृढ़ नहीं था कि ये तत्कालीन प्रचलित साहित्यिक परंपरा और प्रवृत्ति से ऊँचे उठ सकते और काव्यधारा को मोड़कर सद्वृत्तियों का उद्धार और उत्थान कर सकते।

काव्य की ऐसी स्थिति अधिक समय तक टिक नहीं सकती थी। समय में परिवर्तन होने लगा। सन् सत्तावन के विद्रोह नें जागरण के युग का आभास दिया। समग्र भारतवर्ष में नवजीवन का संचार हो गया, देश में समाज-सुधार की लहर फैलने लगी। अंगरेजी शासन तथा शिक्षा के प्रसार से भारत का रूप-रंग बदलने लगा। नवजागर्तिके दर्शन होने लगे। ऐसी दशा में हिंदी-साहित्य इनके प्रभाव से अछूता कैसे रह सकता था! अतः हिंदी-साहित्य की आधुधिक जागर्ति अत्यंत स्वाभाविक थी। फलतः काव्यक्षेत्र में रीतिकालीन प्राचीन काव्यधारा का प्रवाह रुक गया और नवीन काव्यधारा नए मार्ग पर स्वच्छंद गति से प्रवाहित होने लगी। हिंदी की नए ढंग की आधुनिक कविता इसी परिवर्तित प्रवाह का परिणाम है।

इस प्रकार साहित्यिक तथा राजनीतिक इतिहास का फिर से संघटन होने लगा और दोनों काव्य तथा जीवन के अन्योन्याश्रित संबंध की पुष्टि करने लगे। आधुनिक समय की सामाजिक तथा राजनीतिक जागर्ति के बीच काव्य के नवीन दिशा की ओर मुड़ने

के कारण इस नूतन काव्यधारा को 'आधुनिक काव्यधारा' कहना अनुपयुक्त न होगा।

काव्यक्षेत्र के इस नव-प्रभात के सर्वप्रथम वैतालिक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र थे। हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में पचीस वर्षों तक उनका अत्यंत व्यापक प्रभाव पड़ता रहा और न जाने कितने कवियों ने उनसे स्फूर्ति तथा उत्साह प्राप्त किया। इसलिए नई रंगत की आधुनिक कविता के प्रथम उत्थान का शीर्षक 'भारतेंदु-युग' रखा गया है।

आधुनिक कविता की गति-विधि तथा विकास के सम्यक् बोध के लिए भारतेंदु-युग की प्रवृत्तियों का विश्लेपण अत्यंत आवश्यक है।

प्रथम खंड–

प्रथम उत्थान

भारतेंदु-युग

(विचार में परिवर्तन)

भारतेंदु-युग

समय-चक्र की गति के साथ साहित्य में भी परिवर्तन अवश्यंभावी है। इसलिए सन् सत्तावन की नवजागर्ति से निश्चित हो गया कि रीतिकालीन काव्य का आदर्श नवयुग में गृहीत न हो सकेगा। रीतिकाल की कविता का प्राचीन आदर्श नवप्रवर्तित समय के अनुकूल नहीं था। सौंदर्यपूर्ण होते हुए भी रीतिकाल की ऐकांतिक शृंगारी कविता नूतन-युगकी नवजागरित भावनाओं के मेल में न होने के कारण धीरे-धीरे प्रभावहीन हो रही थी। नवयुग के प्रतिनिधित्व के लिए काव्य में किसी ऐसे नवीन आदर्श की आवश्यकता थी जो नवीन चेतना से अनुप्राणित और उन्नति की आकांक्षिणी जनता की आशा-निराशा, भय-उत्साह तथा उसकी हृद्गत इतर भावनाओं की पूर्ण रीति से अभिव्यंजना कर सकता। काव्य के इस नवीन आदर्श का वास्तविकता से समन्वित और स्फूर्तिदायक होना भी आवश्यक था। भारतेंदु-युग काव्य के इस आदर्श की प्रतिष्ठा में पूर्णतया सफल हुआ।

भारतेंदु-युग के इस नवीन आदर्श से काव्यरूढ़ि एवं परंपरा का क्रमशः त्याग अनिवार्य था। इस आदर्श की सब से बड़ी विशेषता थी भावानुभूति की सचाई। रीतिकाल में सामान्य जनता से कवियों का संपर्क छूट गया था। फलतः इनकी कविता में जनता के भावों की झलक बहुत कम है। अपने आश्रयदाताओं के परितोष के लिए शृंगारी रचना में प्रवृत्त रीतिकालीन कवि सामयिकता तथा वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़े थे। इसके विपरीत

भारतेंदु-युग का नवीन आदर्श यथार्थवादी तो था ही, सर्वांगीण भी दिखाई पड़ा। इसने संपूर्ण जीवन को अपनाया था। यह देश की दुरवस्था से पूर्णतया परिचित था। यह आदर्श आश्रयदाताओं की चाटुकारिता को छोड़कर कवियों में आत्मसंमान की भावना भरने लगा। इस नवीन आदर्श ने भारत की मूक तथा पीड़ित जनता की हृद्‌गतभावना की पूर्ण अभिव्यक्ति की। विषम परिस्थिति से आँख न मूंदकर इस आदर्श ने कवि तथा देशवासियों के विचारों को भली भाँति प्रत्यक्ष किया।

राजनीतिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि रीतिकालीन काव्य का आदर्श एकनिष्ठ सत्ता (Autocracy) की ओर अभिमुख था तो भारतेंदु-युग का आदर्श लोकनिष्ठ सत्ता की ओर उन्मुख। दोनों समय के इतिहास से भी इस कथन की पुष्टि होती है। रीति-काल के कवि अपने आश्रयदाताओं के अधीन थे। उनका ध्येय था राजाओं की प्रशस्ति का पाठ तथा साध्य था उनका परितोष। इन कवियों के लिए जनसत्ता या लोकसत्ता महत्वहीन थी। वे जनता की भावधारा में अवगाहन करने की उमंग नहीं दिखाते थे। उन्हें इसकी चिंता तक नहीं थी। पर अब समय परिवर्तित हो रहा था, सन् सत्तावन के उपद्रव से बहुत से रजवाड़े लुप्त हो गए थे और अनेक देशी रजवाड़ों की शक्ति क्षीण हो गई थी। कवियों के आश्रयदाता भी नहीं रह गए थे। इस विप्लव ने उर्दू कवियों से दिल्ली छुड़ाई। उन्हें अन्य आश्रयदाताओं की खोज के लिए विवश किया और हिंदी के कवियों को स्वावलंबन का अवसर प्रदान किया। ये कवि अब छोटे-मोटे आश्रयदाताओं की कृपा पर अवलंबित नहीं रह सकते थे। इसलिए जहाँ रीतिकाल के कवि अपने लौकिक पालकों को प्रसन्न करके पुरस्कार पाने के लिए लालायित रहते थे वहाँ इस उत्थान से कवियों और लेखकों को

केवल जनता से ही प्रशंसा की आशा थी। इस परिवर्तन का एक कारण छापेखाने का चलन भी है, क्योंकि इससे जनता से सान्निध्य बढ़ाने के लिए लेखकों को सरल माध्यम मिल गया। इन नवीन लेखकों एवं कवियों को यह भली-भाँति ज्ञात था कि जनता में लोकप्रिय होने पर ही हमारी कृतियों की सफलता निर्भर है। थोड़े में यों कहिये कि कवियों का उत्तरदायित्व अब जनता के प्रति था। इस प्रजातंत्रात्मक विचार ने कवियों को अपने चारों ओर की परिस्थिति का पूरा-पूरा बोध कराया। इस उदार यथार्थवादिता ने कवियों की घनिष्ठता जीवन के सभी अंगों से बढ़ा दी। इस प्रकार भावानुभूति और सचाई को काव्य में फिर उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ। भारतेंदु-युग का यह परिवर्तन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

ऐसा न समझ लेना चाहिये कि काव्य का यह प्रजातन्त्रात्मक आदर्श केवल राजनीतिक (विचारों के) परिवर्तन का परिणाम था। यह देशवासियों की नवजागरित चेतना का विशद और प्रकाश्य रूप था। इस समय समग्र देश में जागर्ति की लहर फैल रही थी। जनता के सामने नवीन धार्मिक तथा सामाजिक समस्याएँ खड़ी हो गई थीं। आर्यसमाज का आन्दोलन हिन्दुओं की सामाजिक तथा धार्मिक कुप्रथाओं का तीव्र रूप से प्रतिवाद कर रहा था। नवीन सामाजिक भावना से प्रभावित पढ़े-लिखे लोगों में इस आन्दोलन का स्वागत हो रहा था। ऐसी परिस्थिति ने धीरे-धीरे राजनीतिक मनोदृष्टि में भी परिवर्तन उपस्थित किया।

भारतीय इतिहास की यह अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण घटना है कि राजनीतिक परिवर्तन सदा धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का अनुगामी रहा है। जैसी घटना मरहठा संघ के स्थापित होने के पहले घटी वैसी ही उन्नसवीं शती के उत्तरार्ध में भी। हिन्दुओं के सामाजिक एवं धार्मिक पुनरुत्थान से ही भारत के आधुनिक राष्ट्रीय

आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ है ❀। इस प्रकार इस समय के सामाजिक आन्दोलन जनता की राजनीतिक चेतना के अग्रदूत थे। सुधार और व्यवस्था की भावना एक बार जागरित होते ही अपने आप जीवन के सभी पक्षों पर छा गई। सामाजिक अभाव तथा दुरवस्था की चेतना ने आर्थिक कठिनाई की ओर बरबस ध्यान आकृष्ट किया तो आर्थिक परवशता ने विदेशी शासन की ओर संकेत किया।

यह भारतीय इतिहास में नवजागर्ति का समय था। देश की भावना तथा विचारों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। साहित्य में इनकी झलक मिलना अत्यंत स्वाभाविक था। साहित्य अब केवल शृंगार के गीतों से संतुष्ट नहीं रह सकता था। उदार राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों से अभिनव काव्य का निर्माण हुआ और इसमें नवयुग पूर्णतया प्रतिविम्बित हुआ।

हिन्दी-काव्य (तथा साहित्य) के पुनरुत्थान का सारा श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को है। इनके तथा इनके सहयोगियों के प्रभाव से कविता जनता की वाणी बनी। इन लोगों के द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि जीवन और साहित्य का जो संबंध रीतिकाल में शिथिल पड़ गया था, फिर से घनिष्ट हो गया। भारतेंदु-युग की यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसका आगामी साहित्य पर अत्यंत व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु-युग की कविता

❀ सर वैलेंटाइन सिरोल का मत—

"From 'Hindu Revival' was born the National Movement af modern India."

From *"How India Wrought for Freedom."*— Annie Besant.

में देशवासियों की समस्या, उनके विचार तथा उनकी भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। कवि प्रेम के गीतों की रचना के साथ-साथ जनता की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मनोदृष्टि एवं परिस्थिति की झलक दिखाने लगे।

शिक्षाप्रसार और सामाजिक आंदोलनों से यद्यपि जनता की चेतना जागरित हो गई थी तथापि भारतेंदु के आगमन से पूर्व साहित्य रीतिकाल की परंपरा का ही अनुसरण कर रहा था, साहित्य-क्षेत्र में तब तक रीतिकाल के ऐकांतिक आदर्श की ही प्रतिष्ठा थी। शिक्षा ने तो देशवासियों के विचारों को उदारता का वरदान दे दिया था, पर साहित्य अभी रूढ़िग्रस्त ही था। इसका हेतु स्पष्ट है। वस्तुतः शिक्षित जनता अपने को हीन समझने लगी थी। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से इसे अपने साहित्य में नाममात्र की भी उत्तमता नहीं दिखाई देती थी। राजभाषा के रूप में प्रचलित उर्दू भाषा ने भी शिक्षित जनता और हिंदी साहित्य के बीच लंबी-चौड़ी खाई बना रखी थी। इस समय ऐसे प्रतिभाशाली और दृढ़ व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो साहित्य में नवजीवन का संचार कर सकता। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र में ऐसी ही प्रतिभा के दर्शन हुए। अपनी उदार तथा समानुभूतिपूर्ण मनोदृष्टि की सहायता से इन्होंने हिंदी-साहित्य को समृद्धिशाली बनाया। अपने प्रतिभाबल से इन्होंने एक ओर तो परंपरा से चली आती हुई पुरानी कविता को अर्थहीन रूढ़ियों से मुक्त किया और दूसरी ओर समयानुकूल नवीन कविता की स्थापना की। जीवन से प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त कर भारतेंदु ने साहित्य में भी नवजीवन का संचार किया। यही भारतेंदु-युग का सब से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है।

शिक्षित जनता की मनोवृत्ति के परिवर्तन का भी श्रेय हरिश्चंद्र को है। गुणयुक्त होते हुए भी पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव जनता

के मस्तिष्क पर बुरा पड़ रहा था। यह शिक्षा लोगों को पश्चिम का अनुकरण मात्र सिखा रही थी। अपने अतीत गौरव और सभ्यता का अभिमानी बनने के स्थान पर पाश्चात्य-शिक्षा-प्राप्त लोग भारतीय इतिहास तथा संस्कृति को हीन दृष्टि से देखने लगे थे। अपना साहित्य इनको ग्राम्य प्रतीत होने लगा और अपनी गौरव-गाथा मिथ्यापूर्ण। इतना ही नहीं, ईसाई मिशनरी अशिक्षित जनता को उसके धर्म से च्युत करने की भरपूर चेष्टा कर रहे थे। इन ईसाई पादरियों का वास्तविक ध्येय राजनीतिक था, सेवा की उदार भावना से प्रेरित नहीं। इनका उद्देश्य जनता को अपनी ही दृष्टि में असभ्य दिखाना था। इस प्रकार शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों ही हीनता की भावना से आक्रांत हो रहे थे। ऐसी हीन मनोवृत्ति देश की उन्नति तथा उसके आशापूर्ण भविष्य के लिए अत्यंत बाधक हो रही थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस अवसर पर अनुकूल और गुणकारी प्रयोग का विनियोग किया। अपनी रचना में भारत के अतीत गौरव के चित्र खींच-खींच कर इन्होंने जनता को भारत के प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास की ओर उन्मुख किया। इससे जनता में छाई हुई हीनता की भावना छँटने लगी और देशवासियों ने अब अपने को गर्हित समझना बंद कर दिया। इनकी सामाजिक कविता ने जनता के सामने समाजगत उपयुक्त मनोदृष्टि उपस्थित की और साथ ही इनकी राजनीतिक कविता ने भी उसमें अच्छी राजनीतिक चेतना जागरित की। अंत में ये केवल जनता में फैली हुई हीनता की भावना के निराकरण में ही सफल नहीं हुए प्रत्युत इन्होंने देशवासियों के हृदय में आत्मसंमान की भावना की भी अवतारणा की। इस प्रकार देशवासियों के चित्त से आत्महीनता की मनोवृत्ति को निकाल बाहर करने का संपूर्ण श्रेय हरिश्चंद्र और उनके सहयोगियों को है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र की ही कविता में हमें सबसे पहले परिवर्तन के संकेत मिलते हैं। अन्य कवियों ने इन्हीं से प्रेरणा एवं उत्साह प्राप्त किया। इस प्रकार कवियों का एक नवीन समुदाय या मंडल स्थापित हुआ। इसे 'भारतेंदु-मंडल' कहा जा सकता है। इस नवीन समुदाय का कार्यक्षेत्र तथा कविताकाल आधुनिक काव्यधारा का 'प्रथम उत्थान' कहलाता है। यह समुदाय तब तक जीवित रहा जब तक भाषा में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ और जब तक विभिन्न मनोदृष्टिवाले कवियों का काव्य के क्षेत्र में आगमन नहीं हो सका। इसलिए हम भारतेंदु हरिश्चंद्र (जो इस समुदाय के प्रथम कवि थे) के कृतिकाल के आरंभ से लेकर बालमुकुन्द गुप्त (जिनका काव्यकाल प्रथम उत्थान के अंतिम वर्षों से आरंभ होकर द्वितीय उत्थान के आरंभिक वर्षों में समाप्त हुआ) के कृतिकाल के बीच के समय को 'प्रथम उत्थान' की काल-सीमा मान सकते हैं। प्रथम उत्थान का विस्तार-काल ईसाई संवत् १८६५ (जब हरिश्चंद्र का साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण हुआ) से लेकर १९०० तक (जब 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा पुनरुत्थान की सूचना मिली) माना जा सकता है।

आधुनिक काव्यधारा का यह समय भारतेंदु हरिश्चंद्र की स्मृति में तो 'भारतेंदु-युग' के नाम से प्रसिद्ध है ही, ऐतिहासिक और विवेचनात्मक दृष्टि से भी इसका यही नाम उपयुक्त जान पड़ता है। इन्होंने समय के परिवर्तन का महत्त्व समझकर शतियों से छाई हुई देशवासियों की मोहनिद्रा हटाकर उन्हें सचेत करने का उद्योग किया। इन्होंने सर्वप्रथम काव्य में नए विचारों का समावेश कर उसकी उन्नति का पथ प्रदर्शित किया। समस्त साहित्य में नवीन चेतना जगाई और उसे सुव्यवस्थित भी किया। जनता में देशभक्ति की भावना के संचारक तथा राजनीतिक

एवं सामाजिक जागर्ति के प्रसार का सारा श्रेय इन्हीं को है। यह सफलता साधारण नहीं थी। इस प्रकार आगे बढ़कर हरिश्चंद्र ने जीवन और साहित्य के टूटे हुए संबंध-सूत्र को फिर से जोड़ दिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक हिंदी साहित्य की यह सबसे महत्त्वशालिनी घटना है। वर्तमान साहित्य भी आज तक इससे प्रभावित है। इसलिए इनको नवीन या आधुनिक हिंदी-साहित्य का सूत्रधार या संस्थापक कहना युक्तियुक्त है। काव्य पर हरिश्चंद्र का ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि प्रथम उत्थान का कोई भी प्रमुख कवि इनके प्रभाव से बच न सका, सभी कवियों को हरिश्चंद्र से उत्साह और प्रेरणा बराबर मिलती रही।

प्रश्न होता है कि इन परिवर्तनों का मूल कारण क्या था? कुछ विद्वानों की संमति में भारतेंदु-युग की जागर्ति और चेतना का प्रधान कारण अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार था। कतिपय मनीषियों के मतानुसार इसके हेतु वे सामाजिक आंदोलन हैं जो पूर्णतया भारतीय थे। मरहठा एवं सिखों की राज्यस्थापना के उदय के पूर्व जिस प्रकार महाराष्ट्र तथा पंजाब में धार्मिक आंदोलनों की लहर उठी थी उसी प्रकार भारतेंदु-युग में समग्र देश में सामाजिक आंदोलनों का प्रभाव फैल रहा था। हिंदू सदा से धार्मिक तथा सामाजिक संदेशों के प्रति विशेष रूप से उन्मुख रहे हैं। धर्म तथा समाज के बीच होने वाले पारस्परिक भेद-भावों को भूलकर वे अपनी व्यापक एकता का अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक संदेशों में उन्हें उदात्त वृत्तियों को उद्बुद्ध करने की महती शक्ति तथा सत्साहस मिला करता है। भारतेंदु-युग में ऐसा ही दृश्य उपस्थित हुआ।

हमारी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याएँ ऐसी संवादिनी हैं कि एक पर उँगली रखते ही दूसरे के तार अपने

आप झंकृत हो उठते हैं। इनमें से किन्हीं दो समस्याओं से उदासीन होकर किसी एक को ही सुलझा लेना असंभव है। सामाजिक भावना हमारे विचारों को स्वयं अन्य दो समस्याओं की ओर आकृष्ट करती है। सामाजिक समस्या सुलझाते समय आर्थिक कठिनाइयाँ हमारा ध्यान बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं और फिर उसे राजनीतिक दासता की ओर उन्मुख कर देती हैं। इस प्रकार हमें तो ये सामाजिक आंदोलन ही इस नवीन चेतना के मूल प्रेरक प्रतीत होते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि अंगरेजी शासन और शिक्षा का भी इस नवीन जागति में कुछ न कुछ योग अवश्य है। अँगरेजी शासन के द्वारा देशवासी पहले से अधिक संनिकट हुए। इससे सम्यक् अध्ययन और सहोद्योग का अवसर प्राप्त हुआ। अँगरेजी शिक्षा से जनता की मनोदृष्टि पहले से अपेक्षाकृत विशेष उदार हुई जिससे सामाजिक आंदोलनों को और भी प्रेरणा एवं उत्तेजना मिली।

उपर्युक्त तत्त्व से अवगत हो जाने से नवीन हिंदी-काव्य की आधुनिकता के समझने में भली-भाँति सहायता मिलेगी। देश में नवीन व्यवस्था की प्रतिष्ठा हुई और नवीन कविता ने उसकी अभिव्यंजना की। फलतः आज हमारी राजनीतिक चेतना अधिक जागरित है और हमारी सामाजिक मनोदृष्टि बहुत व्यापक तथा उदार बन गई है।

यह कहा जा चुका है कि भारतेंदु-युग के काव्य की सब से प्रमुख प्रवृत्ति एकनिष्ठ सत्ता से लोकनिष्ठसत्ता की ओर झुकना है। इस झुकाव से काव्य का क्षेत्र अधिक व्यापक और साथ ही स्वच्छंद हो गया। अब काव्य के वर्ण्य कतिपय निश्चित विषय मात्र नहीं थे। देशवासियों के अब अधिक उन्नत तथा विकासोन्मुख

होने के कारण विविध प्रकार के विषय काव्य के वर्ण्य बने। क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक, क्या आर्थिक सभी प्रकार के विषयों ने कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रकार भारतेंदु-युग की कविता जीवन की समालोचना करने बैठी। इस समय के कवियों ने केवल कल्पनालोक में विचरण न कर अपने वास्तविक जीवन की भी अभिव्यंजना की।

इस समय की कविता में राजनीतिक तत्व की प्रमुखता सर्वथा नवीन थी। इस राजनीतिकता का आरंभ तो हुआ राजभक्ति से पर इसका पर्यवसान हो गया धीरे धीरे देशभक्ति में। यह देशभक्ति, जो भारतेंदु-युग की सब से प्रमुख प्रवृत्ति थी, देशवासियों में प्रतिदिन प्रचलित होती हुई नवीन जागर्ति की अभिव्यक्ति कर रही थी।

राजनीतिकता की इस नूतन प्रवृत्ति के समान सामाजिक भावना भी नई थी। इस समय समाज-सुधार की विभिन्न धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। कट्टरपंथियों तथा आर्य समाजियों दोनों की भावनाओं की झलक इस समय की सामाजिक कविता में मिलती है। इसमें समाज को उन्नत बनाने की सदिच्छा लक्षित होती है। हिंदू-विधवा, बाल-विवाह, मद्यनिषेध आदि सामाजिक समस्याओं की झलक इस समय के कवियों की कृतियों में बराबर मिलती है।

प्रथम उत्थान के संबंध में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। उस समय की आधुनिकता केवल विचारों की मौलिकता में है। कविता का माध्यम—भाषा तथा छंद—ज्यों का त्यों अर्थात् पुराने ढंग का ही था। उस समय देश के जीवन तथा परिस्थिति में परिवर्तन का श्रीगणेश मात्र हुआ था। यह नवीनता लानेवाला परिवर्तन अभी इतना व्यापक नहीं हुआ था कि प्राचीन काल से चली आती हुई परंपरा का सर्वथा निराकरण हो

जाता। इसलिए हमें भारतेंदु-युग में प्राचीन परंपरा तथा नवीन भावनाओं का संमिश्रण दिखाई पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रथम उत्थान पूर्ण प्रतिष्ठान का युग न होकर संक्रांतिकाल ही था, जिसमें नवीन विचारों का उदय तो हो गया परंतु प्राचीनता पूर्णतया अपदस्थ नहीं हुई थी। इसलिए हमें विचारों के परिवर्तन के साथ-साथ पारंपरिक भाषा और छंदों को देख कोई आश्चर्य नहीं होता।

भारतेंदु-युग की विविध प्रवृत्तियों के बीच हमें प्रथम उत्थान में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण लक्षण का आभास मिलता है। यह है सामंजस्य की भावना। भारतेंदु-युग के कवि परिवर्तन का स्वागत तो कर रहे थे परंतु वे प्राचीन के सर्वथा बहिष्कार के लिए तत्पर नहीं थे। सामंजस्य की इसी प्रवृत्ति के कारण हमें प्रथम उत्थान की कविता में राजभक्ति तथा देशभक्ति और कट्टरता तथा उदारवादिता के दर्शन साथ-साथ होते हैं। संक्रांतियुग होने के कारण सामंजस्य की यह भावना सर्वथा स्वाभाविक थी।

हिंदी के आधुनिक काल की इस नूतन काव्यधारा के प्रथम उत्थान की इन कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियों में से सर्वप्रथम राजनीतिक चेतना का विवरण उपस्थित करना उपयुक्त होगा क्योंकि यह भारतेंदु-युग की सब से प्रधान तथा विशिष्ट प्रवृत्ति थी।

राजनीतिक चेतना

सन् १८५७ का विप्लव भारतीय इतिहास में बड़ी ही महत्त्व-पूण घटना है। इसका सब से व्यापक प्रभाव यह पड़ा कि देश के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कंपनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश पार्लमेंट के हाथों में चली गई। महारानी विक्टोरिया के शासन से ही नई व्यवस्था का जन्म हो जाता है और देश में राजनीतिक जीवन का संचार होता है। विक्टोरिया की घोषणा का जनता ने अभिनंदन किया और वह राजनीतिक जीवन के प्रति उत्सुकता तथा उत्साह दिखाने लगी। देशवासियों को पूर्ण विश्वास हो गया कि घोषणा के वचन पूरे किए जायँगे। फलस्वरूप वह आशान्वित होकर राजनीतिक सुविधाओं के स्वप्न देखने लगी। उक्त उत्सुकता, उत्साह आर आशा भारतेंदु-युग की राजनीतिक चेतना के आरंभिक रूप के अंतर्गत हैं।

जनता की इस राजनीतिक उत्सुकता को भारतेंदु-युग के कवियों ने बराबर सजीव बनाए रखा। प्रायः सभी प्रमुख कवि मासिक या पाक्षिक पत्रिकाएँ प्रकाशित करते थे, जिनमें वे सभी विपयोंपर उपयोगी लेख लिखते रहते थे। देश की जागर्ति में इन पत्रिकाओं का विशेष योग रहा है। इन लेखों में होनेवाली स्पष्ट आलोचना और स्वतंत्र प्रवृत्ति ने देशवासियों को तत्कालीन परिस्थिति से भली भाँति अवगत कराया। ये लोग राजनीतिक जीवन में तो प्रवृत्त हुए थे पत्रकार के नाते ही, परन्तु इनका कविरूप भी था और उस रूप में इनका कार्य और भी महत्वपूर्ण दिखाई पड़ा। उपयुक्त अवसरों पर जनता के भावोन्मुख होने पर, ये कवि ऐसी कविताएँ लिखा

करते थे। ऐसे अवसरों की कमी भी नहीं थी। विक्टोरिया की जयंती से लेकर वायसराय, ड्यूक और गवर्नरों के आगमन तथा अफगान और बोर के युद्धों तक कविता के लिए अनेक उपयुक्त विषय एवं अवसर मिलते रहे। सामाजिक और धार्मिक उत्सव भी राजनीतिक प्रचार के साधन थे। इन अवसरों की कविताएँ जनता के भावों से संबंधित और साथ ही उनको पूर्ण रूप से प्रभावित करनेवाली होती थीं। कवि तत्कालीन राजनीतिक जीवन के चित्रों के साथ इनके प्रतिपक्ष में प्राचीन समय की भव्यता और उन्नति का अंकन किया करते थे। इन रचनाओं में देशभक्ति का स्वर भी झंकृत होता था। इस प्रकार जनता में राजनीतिक चेतना के प्रसार का प्रयास किया जा रहा था।

इस चेतना का प्रथम स्पष्ट रूप शासक और उसके प्रतिनिधियों के प्रति राजभक्ति का प्रदर्शन था। इस समय की अधिकांश राजनीतिक कविताएँ सुव्यवस्थित शासन की स्वीकृति और नवीन सुविधाओंकी आशा से विक्टोरिया, वायसराय तथा गवर्नरों के प्रति प्रदर्शित राजभक्ति से ओत-प्रोत होती थीं। भारतेंदु-रचित 'भारत-भिक्षा', 'भारत-वीरत्व', 'विजय-वल्लरी' और 'विजयिनी विजय-वैजयंती' में राजभक्ति और कृतज्ञता के उद्गार हैं। 'प्रेमघन' के 'आर्याभिनंदन', 'भारत बधाई', 'हार्दिक हर्षादर्श' और 'स्वागत' तथा अम्बिकादत्त व्यास का 'देवपुरुष-दृश्य' इसी प्रकार की रचाएँ हैं।

हरिश्चंद्र राजभक्ति की व्यंजना के लिए सर्वदा उत्सुक और तत्पर रहते थे। इनके लिए 'राजपद का परसन' परम फल है और इन्हें हिंदुओं का 'डिसलायल' कहा जाना बड़ा बुरा लगता है। इसी भावना से प्रेरित होकर ये हिंदुओं को ब्रिटिश गवर्नमेंट के पक्ष से अफगान-युद्ध में लड़ने को उत्साहित करतेहैं। ये इन लोगों

का उदाहरण भी देते हैं जो इससे पूर्व दूसरों के लिए लड़ चुके हैं—

"परम-मोक्ष-फल राजपद-परसन जीवन माँहि,
छूटन-देवता राजसुत-पद परसहु चित चाहि।"[१]
"'डिसलायल' हिंदुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग,
दगभर निरखहिं आज ते राजभक्ति-संजोग।"[२]
"मानसिंह बंगाल लरे परतापसिंह सँग;
रामसिंह आस्साम-विजय किय जिय उछाह-रंग।
तो इनके हित क्यों न उठहिं सब बीर बहादुर;
पकरि पकरि तलवार लरहिं बनि युद्ध चक्रधर।"[३]

'प्रेमघन' भी भारतीयों की राजभक्ति का बड़े गर्व के साथ उल्लेख करते हैं—

"राजभक्ति इनमें रही जैसी अकथ अनूप;
वैसी ही तुम आज हू पैहो पूरब रूप।
सबै गुनन के पुञ्ज नर भरे सकल जग माँहिं;
राजभक्त भारत सरिस और ठौर कहुँ नाहिं।"[४]

अंबिकादत्त व्यास भी विक्टोरिया का जयजयकार मना रहे हैं—

"जयति धर्म सब देश जय भारत-भूमि-नरेश,
जयति राजराजेश्वरी जय जय जय परमेश।"[५]

राधाकृष्णदास विक्टोरिया के निधन पर इन शब्दों में दुःख मनाते हैं—

---

(१) भारतेंदु-ग्रंथावली—भारतभिक्षा, पृष्ठ ७०२—७०३।
(२) „ „—भारत-वीरत्व, पृष्ठ ७६५।
(३) „ „—भारत-वीरत्व, पृष्ठ ७६४।
(४) आर्याभिनंदन—पृष्ठ ६।
(५) मन की उमंग—'दैवपुरुष-दृश्य'।

"मातृहीन सब प्रजावृन्द करि जगत रुलाई ;
मातु विजयिनी हाय हाय सुरलोक सिधाई ।
हाय दया की मूर्ति, हाय विक्टोरिया माता ;
हा, अनाथ भारत को दुख में आश्रयदाता ।"[1]

आज भले ही हम को ऐसी राजभक्तिपूर्ण उक्तियाँ कभी-कभी खटकती हों, परन्तु ये उद्गार सहेतु भी हैं और स्वाभाविक भी। विक्टोरिया के शासन द्वारा अशांत परिस्थिति का अंत और शांति एवं सुरक्षा के समय का आरंभ होता है। जनता सन् सत्तावन की अशांति से ऊब उठी थी, इसी से उसने नियमित और व्यवस्थित शासन का स्वागत किया। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन से देश-वासी असंतुष्ट थे, इसे जनता की सुविधा की कोई चिंता नहीं थी। इसके कर्मचारी केवल अपना हित देखते थे ❀। इसी से देशवासियों ने विक्टोरिया की घोषणा का हृदय से स्वागत किया।

---

(१) राधाकृष्ण ग्रंथावली—विजयिनी-विलाप, पृष्ठ ६।

❀ ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की कड़ी आलोचना 'प्रेमघन' ने की है। इनके विचारानुसार विक्टोरिया के हाथ में शासन आने से भारत की प्रजा सनाथ हो गई—

"ईस्ट इंडिया कंपनी कियो राज-काज इत ;
कियो समित उत्पात होत जे रहे इहाँ नित ।
पै वाकी स्वारथपरता अरु लोभ अधिकतर ;
राख्यो चित नित ही निज राज-बढ़ावन ऊपर ।
ह्याँ के मूढ़ प्रजा के चित को मात्र न जान्यो ;
हठ करि सोई कियो जबै जस ता मन मान्यो ।
लेकर राज कंपनी के कर सों निज हाथन ;
किय सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन ।"

—हार्दिक हर्षादर्श

इनको पूरा विश्वास था कि घोषणा में दिए हुए वचन पूरे किए जायँगे। फलतः शासनाधिकारियों को ये अपनी राजभक्ति का विश्वास बारंबार दिलाते थे। आज लोगों को चाहे इसका अनुभव हो रहा हो कि इन लोगों की आशाएँ कितनी भ्रांतिपूर्ण थीं, किंतु इसका कटु अनुभव भारतेंदु-युग के कवियों के बाँटे न पड़कर वर्तमान युग के लोगों के हिस्से पड़ा। यद्यपि भारतेंदु-युग के अंतिम वर्षों में इन कवियों में भी असंतोष की लहर उठने लगी थी तथापि अपनी आशाओं की विफलता के चटकीले दृश्यों के दर्शन इनकी दृष्टि से दूर थे। इसलिए राजभक्तिपूर्ण इन उद्गारों को कोरी चाटुकारिता नहीं कहा जा सकता। इनमें देश-वासियों की सच्ची भावना की अनुभूति की झलक भी है। ब्रिटिश शासन की नई सुविधाओं और विज्ञान के नूतन अविष्कारों से कवियों तथा जनता दोनों की मति अच्छादित थी। इसी से भारतेंदु-युग की जनता और कवि ब्रिटिश राज का गुणगान करते थकते नहीं थे। रेल, सड़कें, नहरें, गैस, बिजली और साथ ही शांति-सुव्यवस्था की सभी कवि प्रशंसा कर रहे थे। 'प्रेमघन' शासन की गुणावली का उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में करते हैं—

"जहाँ काफिले लुटत रहे सौ जतन किए हूँ;
जिन दुरगम थलमांहिं गयो कोऊ नाहिं कबहूँ।
रेल यान परभाय अँधेरी रातहु निधरक;
अंध पंगु असहाय जात बालक अबला तक।
तड़ित-गैस परकास राजपथ रजनि सुहाए;
महा महा नद माहिं सेतु सुन्दर बँधवाए।
बने विश्वविद्यालय विद्यालय पाठालय;
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनते बिन संसय।"[1]

(१) स्वागत, पृष्ठ २।

अंबिकादत्त व्यास भी ब्रिटिश शासन की इन सुविधाओं से मोहित होकर कहते हैं—

"नये नये बहु लाट आइकै भारत आरत बारत,
लफटिनेंटअरु गवर्नरादिक परजा-काज सवारत।
जंगल काटि काटि के केते नगर बजार बनाए,
नहर निकारि नदी अरु नद पै भारी सेतु बँधाए।
गाँव-गाँव विद्यालय करिकै बहुत विवेक बढ़ायो,
यान चलाइ रेल को ता पै मानो नगर उड़ायो।"[1]

राधाकृष्णदास विक्टोरिया के राजत्वकाल में संसार को सब से अधिक समृद्धिशाली मानते हैं। इनके विचार से ऐसी उन्नति न पहले कभी देखी गई और न सुनी—

"तुव शासन के समय जगत जो उन्नति पायो,
ज्ञान-विज्ञान कला-कौशल कल जो प्रगटायो।
जो कबहूँ सुनी नहिं कान सों रविरथहूँ थिर ह्वै रह्यो,
या साठ बरस के बीच में सो सुख-संपति जग लह्यो।"[2]

भारतेंदु-युग के कवि 'अँगरेज-राज' को 'ईस-कृपा' का फल मानते थे। ये इस अवसर से पूरा लाभ उठाना चाहते थे। प्रजा को अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हो जाने से ये शासितों की ऐसी उन्नति की कामना करते थे। 'हरिश्चंद्र' और 'प्रेमघन' देशवासियों से और देशी शासकों से उन्नति के लिए सचेत होने के प्रार्थी हैं। प्रार्थना के साथ-साथ हरिश्चंद्र देशी रियासतों की अकर्मण्यता की आलोचना भी करते हैं; क्योंकि ये रियासतें ब्रिटिश शासन में भी उन्नति के अवसरों की उपेक्षा करनेवाली दिखाई देती हैं—

---

(१) मन की उमंग—'जटिल बणिक्'।

(२) राधाकृष्ण-ग्रंथावली—जुबिली, पृष्ठ १९।

"वही उदैपुर, जैपुर, रीवाँ, पन्ना आदिक राज,
परवस भए न सोचि सकहिं कछु करि निज बल बेकाज।
अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़,
स्वारथपर विभिन्न है भूले हिंदू सब है मूढ़।"[1]

'प्रेमघन' देशवासियों को उन्नति के लिए जगा रहे हैं—

"उठो आर्य संतान सकल मिलि बस न बिलंब लगाओ,
ब्रुटिश राज स्वातंत्र्यमय समय व्यर्थ न बैठि बिताओ।"[2]

राजभक्त और ब्रिटिश शासन के प्रशंसक होते हुए भी ये कवि देश की वास्तविक स्थिति से अपरिचित नहीं थे। देशवासियों की दुर्दशा इन कवियों को क्षुब्ध बनाए रहती थी। इसी से देश की दरिद्रता के दयनीय चित्र इनकी रचनाओं में अंकित हुए हैं। देश के धन के बाहर जाने से और करों के लदने से ये कवि असंतुष्ट थे। इसी से इन कवियों ने ब्रिटिश शासन की बुराइयाँ और अभावों की भी आलोचना की है।

इस आलोचना के मूल में राजनीतिक चेतना का प्रसार स्पष्ट लक्षित होता है। चेतना का यह प्रसार इंगलैण्ड के संपर्क का प्रसाद है। भारत और ब्रिटेन के इस सीधे संपर्क से कवि अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हो रहे थे। ये कवि स्वाधीन इंगलैण्ड की उन्नत दशा की तुलना पराधीन भारत की अनुन्नत अवस्था से करते थे और फलतः भारत की दयनीय दशा से असंतुष्ट थे। इस संपर्क ने अधिकार पाने की इच्छा उत्पन्न की।

'प्रेमघन' देश की इस जागर्ति को इसी संपर्क का फल मानते हैं। इनके मतानुसार ब्रिटिश न्याय-दिनकर के प्रकाश में 'सूझ्यो साँचो स्वत्व प्रजा को भूलि शीत-भय।' ये भारत और

---

(१) भारतेंदु-नाटकावली—भारत दुर्दशा, पृष्ठ ६१।

(२) आनंद-अरुणोदय।

ब्रिटेन की प्रजा के अधिकारों की तुलना करते हैं और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पार्लमेंट में भारतवासियों के किसी प्रतिनिधि के बिना भारत का दुःख मिटने का कोई आशा नहीं है। राजसभा में भारतीय प्रतिनिधि होने के लिए ये आंदोलन भी करते हैं—

"ब्रिटिश न्याय-दिनकर दिनकर नास्यो रजनी-दुख ;
विद्या को निखर्यो प्रकाश विकस्यो सरोज-सुख।
सूझ्यो साँचो स्वत्व प्रजा को भूलि शीत-भय।"[१]
"बृटिश राज की प्रजा बृटिन औ हिंद उभय की ;
लखहु दशा पर युगल भाग के अस्त उदय की।
वे निज देश-हेतु विरचत हैं नीति-नियम सब ;
बिन उनकी सम्मति कछु राजा करत भला कब।
राजा नामै हेतु करति सब प्रजा प्रबंधहिं ;
पर उन कहँ इतनेहु पै है सपनेहु सँतोष नहिं।
औ हम भारतवासी जन निज दशा कहन को ;
जाय सकत नहिं तहाँ भूलि कै एकौ छन को।
तासों कोउ भारतवासी के बिना वहाँ पर ;
भारत के दुख मिटिबे की आसा नहिं दुस्तर।
नहिं उपाय इहि के सिवाय कछु और अहै अब ;
राजसभा से पहुँचि दुःख निज गाय कहैं सब।"[२]

दादाभाई नौरोजी पार्लमेंट के सदस्य चुने जाते हैं तो 'प्रेमघन' इस पर देशवासियों को और उनको हार्दिक बधाई देते हैं। परंतु नौरोजी के 'काले' कहे जाने पर कवि की प्रफुल्लता विलीन हो जाती है। इनको पहली बार दासता का कटु अनुभव होता है और ये क्षोभ से कह उठते हैं—

---

(१) स्वागत, पृष्ठ २। (२) नागरी-नीरद, ८ सितंबर, सन् १८९२।

"कारो निपट नकारो नाम लगत भारतियन ;
यद्‌पि न कारे तऊ भागि कारो विचारि मन।
अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे ;
तासों कारे कारे शब्दन पर हैं वारे"[१]।

इस क्षोभ से हमें उस असंतोष के दर्शन होते हैं जो समय के साथ बढ़ता ही गया। भारतेंदु-युग के कवियों का असंतोष शासन-कार्य में भारतीयों की अनियुक्ति तथा करों के स्थापन ऐसे साधारण कार्यों के कारण था, परन्तु साधारण माँगों की अवहेलना ने आगे चलकर वास्तविक और अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उत्पन्न कर दीं, जिनसे असंतोष की व्याप्ति बढ़ गई। असंतोष केवल प्रांतीय न रहकर भारतवर्षीय बन गया। हम हरिश्चंद्र को 'प्रेस ऐक्ट' और 'आर्म्स ऐक्ट' से असंतुष्ट पाते हैं—

'सबहि भाँति नृपभक्त जे भारतवासी लोक ;
शस्त्र और मुद्रण विषय करि तिनहूँ की रोक।"[२]

'प्रेमधन' विक्टोरिया के दिए हुए वचनों की अधिकारियों को याद ही दिलाते रहे। इनकी निम्नलिखित इच्छा शुद्ध अरण्यरोदन सिद्ध हुई—

"करहु आज सों राज आप केवल भारत-हित ;
केवल भारत के हित-साधन में दीने चित।"[३]

शासकों ने इन प्रार्थनाओं पर कभी कान न दिया, फलतः असंतोष बहुत बढ़ गया। भारतेंदु-युग की पत्रिकाएँ इसका साक्ष्य देती हैं। काव्य के क्षेत्र में बालमुकुंद गुप्त की कविता में असंतोष का उग्र रूप मिलता है। बालमुकुंद गुप्त भारतेंदु-युग के अंतिम और द्विवेदी-युग के आरंभिक कवियोंमें हैं। इन्होंने जनता की

---

(१) नागरी-नीरद, ८ सितंबर, सन् १८९२। (२) भारतेंदु-ग्रंथावली—विजय-वल्लरी, पृष्ठ ७९५। (३) हार्दिक हर्षादर्श।

असंतुष्टि को ओजस्वी शब्दों में व्यक्त किया है। इनके समय तक भारतेंदु-युग के कवियों की आशाएँ निष्फल सिद्ध हो चुकी थीं। इसी से इनकी रचनाओं में पूर्ववर्ती कवियों की सी चाटूक्तियाँ और कोरी राजभक्तिबोधक उक्तियाँ नहीं मिलतीं। बालमुकुंद गुप्त जातीय एकता और सक्रिय योजना के समर्थक हैं।

इस प्रकार स्पष्ट दिखाई देता है कि कोरी राजभक्ति से असंतोष भारतेंदु-युग की राजनीतिक चेतना का अंतिम स्वरूप है। इन कवियों की रचनाएँ आरंभ में राजभक्ति से ओत-प्रोत हैं, परन्तु क्रमशः मोह का परदा हटता गया और समय एवं दासता की कठोरता सामने आती गई, जिससे इनकी बाद की रचनाओं में असंतोष की स्पष्ट झलक मिलने लगी। इस समय का इतिहास भी इन कवियों की भावनाओं की सत्यता प्रमाणित करता है। यह असंतोष भारतेंदु-युग में अपनी पूर्ण तीव्रता को नहीं पहुँच सका, क्योंकि उस समय कोई ऐसी प्रभावशालिनी संस्था नहीं थी जो संघटन कर असंतुष्ट जनता का पथ-प्रदर्शन कर सकती।

द्विवेदी-युग में असंतोष को संघटित कर उसे आंदोलन का रूप देने की चेष्टा की गई और आज वही असंतोष देशभक्ति में परिवर्तित हो विदेशी शासन से देश की स्वतंत्रता के लिए मोरचा ले रहा है। कांग्रेस की स्थापना से जनता के सामने कुछ निश्चित राजनीतिक ध्येय और आदर्श आए, जिनकी प्राप्ति के लिए देश को उत्साहित किया गया। कांग्रेस की स्थापना 'प्रेमघन' के जीवनकाल के अंतिम वर्षों में हुई। इसकी स्थापना से इनको देश की उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधी। देश के आशापूर्ण भविष्य के विश्वास की झलक इनकी निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है। कवि को कांग्रेस के जातीय गान 'वंदे मातरम्' की ध्वनि सुनाई पड़ती है—

'हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरतदशा निशा का--
समझ अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका।
उन्नति-पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई;
खग वंदे मातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई।'[1]

बालमुकुंद गुप्त के समय तक कांग्रेस कुछ प्रभावशालिनी हो गई थी। ये कांग्रेस के स्वदेशी आंदोलन के समर्थक थे और इनको बंग-भंग-आंदोलन से पूर्ण सहानुभूति थी। लार्ड कर्जन पर इनकी बहुत-सी व्यंगपूर्ण राजनीतिक रचनाएँ हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाद की जागर्ति और आज की देशभक्ति भारतेंदु-युग की राजनीतिक चेतना के परिणाम हैं। पहले राजभक्ति से असंतोष, फिर राजनीतिक स्वत्वों के लिए आंदोलन भारतीय राजनीतिक हलचल का इतिहास है। भारतेंदु-युग के कवि इस मार्ग पर पहले-पहल बढ़े। इन लोगों ने देश के राजनीतिक जीवन के प्रति देशवासियों में अभिरुचि उत्पन्न की। इन कवियों की राजभक्ति के कारण आरंभ में दिए जा चुके हैं। इसलिए आज देशभक्ति के आवेश में हम इन्हें कोरे खुशामदी टट्टू नहीं कह सकते। देशभक्ति की भावना के संचार में इन कवियों ने विशेष योग दिया है; क्योंकि इनकी वाणी ब्रिटिश शासन में बढ़ती हुई देश की दरिद्रता की प्रतिध्वनि है। भारतेंदु-युग के कवियों की देशप्रेम से पूर्ण रचनाएँ लोगों के संदेह-निवारण में स्वयं समर्थ हैं।

---

(१) आनंद-अरुणोदय।

आर्थिक स्थिति

भारतेंदु-युग की लोकजीवनगत सर्वतोमुखी जागर्ति के दर्शन हमें तत्कालीन काव्य में भी मिलते हैं। जीवन और साहित्य दोनों में व्यापकता और उदारता की भावना का प्रवाह मिलता है। कवियों की दृष्टि एकांगी और संकुचित न होकर जीवन और परिस्थिति के विविध पक्षों का निरीक्षण करती दिखाई देती है और उनसे प्रभावित होकर उनके वर्णन में संलग्न होती है। सामाजिक और राजनीतिक अंगों के समान तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति ने भी भारतेंदु-युग के कवियों को आकर्षित और प्रभावित किया। इस ओर कवि अपने आप आकृष्ट हुए, क्योंकि ये देश की आर्थिक आवश्यकताओं और इनके महत्त्वपूर्ण प्रभाव को भली भांति समझते थे। इस समय के प्रमुख कवियों ने देश की आर्थिक पराधीनता दूर करने और इस हेतु देशवासियों को जगाने के लिए कविता का संबंध जीवन की वास्तविकता से जोड़ दिया।

देशवासियों की आर्थिक उन्नति इनका ध्येय था और इस ध्येय के लिए भारतेंदु-युग के कवि जनता को औद्योगिक काम-धंधे सीखने के लिए उत्साहित करते थे और अधिकारियों से भारतीय व्यवसाय के प्रोत्साहन तथा रक्षा के लिए प्रार्थना किया करते थे। ये देशवासियों की कटु समालोचना करते थे, क्योंकि अधिकांश जनता शुद्ध ज्ञानवृद्धि के लिए न पढ़कर पेट पालने के लिए पढ़ती थी।

देश की आर्थिक आत्मनिर्भरता की कामना भारतेंदु-युग के कवियों में स्पष्ट लक्षित होती है। इनकी रचनाएँ स्वदेशी वस्तुओं

के प्रति जनता में प्रेम उत्पन्न करने के प्रयत्न हैं। ये कवि उन लोगों पर बराबर व्यंग-बाणों की वर्षा करते थे जिन्हें भारतीय वस्तुओं से घृणा थी और जो विदेशी वस्तुओं के दास थे। ये जनता से भारतीय वस्तुओं के व्यवहार का अनुरोध करते थे। यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि ऐसा उद्बोधन उस समय हुआ है जब कि स्वदेशी आंदोलन का जन्म भी नहीं हुआ था।

इन कवियों को समय की परिवर्तित गति विधि का पूरा ध्यान था। ये परिवर्तन के महत्व को भली भाँति समझते थे। इनकी रचनाओं में स्थल स्थल पर यह चेतावनी मिलती है कि समय बदल गया, इसलिए परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल कार्य करना बुद्धिमानी होगी। भारतीय वस्तुओं की उत्कृष्टताओं को अधिकाधिक बढ़ाने पर ये बराबर जोर देते थे। इसी समय भारत की औद्योगिक उन्नति का लक्ष्य करके ये भारतीय कारीगरों को नवीन ज्ञान के उपार्जन के निमित्त विदेश जाकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्साहित करते रहते थे।

समय के साथ-साथ भारतेंदु-युग के कवियों की सहानुभूति व्यापक और उदार होती गई। किसानों तथा समाज के अन्य दीन वर्गों से इन कवियों की पूरी सहानुभूति है। इनकी रचनाओं में देश की दयनीय स्थिति के करुणोत्पादक चित्र मिलते हैं, जिनसे जनता का असंतोष अपने-ऊपर किए गए दुर्व्यवहार और अविचार के विरुद्ध जागरित हो उठा। कवियों ने ग्रामजीवन के प्रति उत्सुकता दिखलाई और गाँवों की शोचनीय दशा पर दुःख प्रकट किया, आर्थिक समस्याओं के प्रति इन लोगों की उत्सुकता क्रमशः बढ़ती गई और देश की स्थिति सँभालने में ये अधिकाधिक तत्पर होते गए।

सर्वप्रथम हरिश्चंद्र को भारत की आर्थिक स्वाधीनता की

आवश्यकता प्रतीत होती है। विदेश में भारतीय धन के अपहृत होकर चले जाने से ये बहुत क्षुब्ध हैं। अपने देशवासियों का उदासीनता और आलस्य से इनको बड़ा दुःख है। इनको इसका खेद है कि जनता केवल अपनी जीविका चाहती है, उसे उच्च शिक्षा प्राप्त करने का चाव नहीं है। इसी कारण देशवासी यंत्रों का अविष्कार नहीं कर पाते। इनका जीवन विदेशी वस्तुओं पर निर्भर है। देश की आर्थिक परिस्थिति से निराश होकर हरिश्चंद्र ईश्वरीय सहायता की रचना करते हैं—

"सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल ;
पसु-समान सब अन्न खात पीवत गंगाजल।
धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल;
जड़-समान ह्वै रहत अकिलहत रचि न सकत कल।
जीवत बिदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत।"[1]

हरिश्चंद्र उन लोगों की कटु आलोचना करते हैं जिनका काम विदेशी मलमल और मारकीन के बिना नहीं चल पाता। ये देशवासियों से आलस्य छोड़ने तथा भारत की उन्नति में तत्पर होने के लिये अनुरोध करते हैं। संसार की अन्य जातियाँ उन्नति के पथ पर आगे बढ़ी जा रही हैं, उनके अनुकरण की शिक्षा निम्नलिखित पंक्तियों में दी गई है—

"मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम ;
परदेसी जुलहान के मानहुँ भए गुलाम।
बढ़न चहत आगे सबै जग की जेती जाति ;
बल बुद्धि ज्ञान विज्ञान में तुम कहँ अबहूँ राति।

---

(१) भारतेंदु-ग्रंथावली—प्रबोधिनी, पृष्ठ ६८४।

परदेसी की बुद्धि अरु करि वस्तुन की आस ;
बरबस ह्वै कब लौं कहौ रहिहो तुम ह्वै दास ।
काम खिताब-सिताब सों अब नहिं सरिहै मीत ;
तासो उठहु सिताब अब छाँड़ि सकल भयभीत ।"[१]

देश की औद्योगिक उन्नति का अभाव ही हरिश्चंद्र को भारत की दरिद्रता का मुख्य कारण प्रतीत होता है। विदेश जाकर उन्नति के साधनों को सीखने और फलतः देश की उन्नति करने की ये देशवासियों से प्रार्थना करते हैं। अँगरेजी पढ़कर और विलायत जाकर ऊँची शिक्षा प्राप्त करने से ही देश की दरिद्रता का अंत हो सकता है, अन्यथा नहीं। देश विदेशी मशीनों द्वारा ठग लिया गया है। राजकरों ने देश को और भी दीन बना दिया है। इस दरिद्रतासे उबारनेका एकमात्र साधन है कला की उन्नति—

बदरीनरायन चौधरी 'प्रेमघन' भी भारत की आर्थिक स्थिति

"कल के कल बल छलन सों छले इते के लोग ;
नित नित धन सों घटत है, बाढ़त है दुख-सोग।
कुछ तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माहिं ;
बाकी सब व्यवहार में गयो रह्यो कछु नाहिं ।
निरधन दिन-दिन होत है भारत-भुव सब भाँति ;
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुधि बल कांति ।
यह सब कला अधीन है तामें इतै न पंथ ;
तासों सूझै नाहिं कछु द्रव्य बचावन-पंथ ।
अंग्रेजी पहिले पढ़ै पुनि विलायतहिं जाय ;
या विद्या को भेद सब तो कछु ताहि लखाय ।"[२]

---

(१) भारतेंदु ग्रंथावली, पृष्ठ ७३५, ७३७, ७३८ ।
(२) भारतेंदु ग्रंथावली, पृष्ठ ७३५, ७३६, ७३७, ७३८ ।

से भली भाँति परिचित हैं। ये देशवासियों की आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझते हैं। ये भी देश की आर्थिक उन्नति के इच्छुक हैं और अधिकारियों से शिक्षा तथा शिल्प की उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं, जिससे भारतीय कारीगर अपनी दशा सुधार सकें और समय के परिवर्तन के साथ स्वयं भी आगे बढ़ सकें। समय-चक्र की परिवर्तित गति को देखकर ये चाहते हैं कि पुराने कारीगरों की दृष्टि भी समयानुकूल बदल जाय, अन्यथा इनकी वस्तुओं और इनके परिश्रम तथा चातुर्य से कोई लाभ न होगा। इनका दृढ़ विश्वास था कि शिल्प की उन्नति के बिना देश की उन्नति कठिन है—

समय गई वह पलटि चालहू बदलि गई सब;
बदली सबै पसंद चाह कछु और भई अब।
सब अँगरेजो पढ़े भए सब गाहक इनके;
फिर ये बरतन कैसे होय काम के तिनके।
पर ये सब कारीगर हैं जैसे के वैसे;
तब टुक सोचिय चलै काम इनको अब कैसे।
विद्या-उन्नति भई शिल्प की उन्नति नाहीं;
देशु'न्नति जाके बिन जग में कहुँ न लखाहीं।
तासों सिच्छा-सिल्प कृपा करि देहु इन्हैं अब;
जाके बिन फलहीन होत इनके सब करतब।"[1]

भारत की आर्थिक परवशता कभी कभी इन्हे सांस्कृतिक-दासता से भी अधिक क्षुब्ध बना देती है। बाजारों में अङ्गरेजी माल इस आर्थिक दासता का साक्षी है—

"देस नगर बानक बनो सब अंग्रेजी चाल;
हाटन मैं देखह भरो बस अंग्रेजी माल।"[2]

(१) स्वागत, पृष्ठ ५। (२) आर्याभिनंदन, पृष्ठ ५।

अंबिकादत्त व्यास साहबी रंग में रँगे उन नवयुवकों की कटु समालोचन करते हैं जो स्वदेशी वस्तुओं को नहीं पसंद करते और मैनचेस्टर तथा लिवरपूल से सामान मँगाते हैं—

"पहिरि कोट पतलून बूट अरु हेट धारि सिर ;
भालू चरबी चरबी लवेंडर को लगाइ फिर।
निज भाइन के रचे वसन भूषन नहि भावत ;
मैनचेस्टर अरु लिवरपूल से लादि मँगावत।"[1]

कवियों की उपर्युक्त अनुनय विनय जनता की दरिद्रता दूर करने के लिए हैं। देश की आर्थिक दुरवस्था से कवि क्षुब्ध हो उठे हैं, इसी से हम देखते हैं कि भारतेंदु-युग के कवि आगे चलकर शुद्ध राजभक्ति से संतुष्ट न रहकर शासन की कटु आलोचना भी करते हैं और देश की बढ़ती हुई दरिद्रता का उत्तरदायित्व सरकार के ही मत्थे मढ़ते हैं। हरिश्चंद्र, 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त आदि कवियों ने देश की दुर्दशा के करुण चित्र खींचे हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र को भारतीय धन का विदेश चला जाना खलता है। महँगी, अकाल और कर की आपत्ति हरिश्चंद्र को भारत-सरकार की कटु आलोचना करने को प्रेरित करते हैं—

"अँगरेज-राज सुखसाज सजे सब भारी :
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पर महँगी काल रोग बिस्तारी ;
दिन दिन दूने दुख देत ईस हा हारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई ;
हा हा भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"[2]

---

(१) मन की उमंग—भारतधर्म।

(२) भारतेंदु-नाटकावली, पृष्ठ ५९८।

'प्रेमघन' को भारतीय संपत्ति की क्रमिक क्षीणता व्याकुल बनाए है। इसी से ब्रिटिश शासन का सुकाल भी इनको अकाल सा प्रतीत होता है, क्योंकि कई करोड़ भूखे रहते हैं। 'प्रेमघन' आलोचना के साथ-साथ अधिकारियों से प्रार्थना करते हैं कि सच्चे हृदय से भारत के धन, उद्यम और व्यापार की रक्षा तथा उन्नति की जाय—

"यदपि तिहारो राज भयो भारत अति उन्नत ;
आने से अब सब कोऊ सब विधि सुख पावत।
पै दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता ;
भारत में संपति की दिन दिन होत छीनता।
सुख सुकाल हू जिनहिं अकालहिं के सम भासत ;
कई कोटि जन सदा सहत भोजन की साँसत।
करहु आज सों राज आप केवल भारत-हित ;
केवल भारत के हित-साधन में दीने चित।
भारत को धन अन्न और उद्यम व्यापारहिं,
रच्छहु वृद्धि करहु साँचे उन्नति आधारहिं।"[1]

भारतेंदु-युग के अन्य कवियों के समान प्रतापनारायण मिश्र भी देशवासियों की दुरवस्था पर आंसू बहाते हैं। देश की दीन दशा के कारण होली इनके लिए मुहर्रम है। इनकी रचनाओं में किसानों की दुर्गति तथा कड़े करों के बैठाने से उत्पन्न शोचनीय दशा के चित्र मिलते हैं—

"मँहगी और टिकस के मारे सगरी वस्तु अमोली है;
कौन भाति त्यौहार मनैये कैसे कहिये होली है।
सब धन ढोयो जात बिलायत रह्यो दलिद्दर छाई;
अन्न वस्त्र कहँ सब जब तरसैं होरी कहाँ सोहाई।

(१) हार्दिक हर्षादर्श।

भूखे मरत किसान तहूं पर कर हित डपट न थोरो है,
गारी देत दुष्ट चपरासी तकति विचारी छोरी है।"[१]

ये रचनाएँ पद्यबद्ध गद्यमात्र हैं। इनमें भावोद्बोधन की शक्ति अधिक नहीं है। इनमें काव्यत्व कम है। पाठकों के हृदय में करुणा या उत्साह भरने की शक्ति इनमें कहाँ! यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। समय के साथ-साथ कवि सादी तथा साधारण पद्धति छोड़कर विशिष्ट शैली की ओर बढ़े। देश की दरिद्रता का सीधा-सादा सामान्य चित्रमात्र न खींचकर इन कवियों ने भारतीय दीनता के वास्तविक प्रतीक किसान तथा मजदूरों को अपनी कविता का विषय बनाया। भारतेंदु-युग के कवियों को इनसे पूरी समानुभूति है। इनकी दीनता कवियों को क्षुब्ध बनाती है। राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र तथा 'प्रेमघन' को किसानों की दुरवस्था चिंतित बनाए हुए है। इनमें से प्रथम दो तो किसानों की दीनता के चित्रमात्र उपस्थित करते हैं, परन्तु 'प्रेमघन' किसानों की अवस्था सुधारने के लिये वैज्ञानिक रीति से कृषिकर्म करने की शिक्षा पर भी जोर देते हैं—

"दीन कृषक जन औरहु दया-जोग दरसाहीं;
जिनके तन पर स्वच्छ वस्त्र लखियत कहुँ नाहीं।
मिहनत करत अधिक पर अन्न बहुत कम पावत;
जे निज भुजबल हल चलाय के जगत जियावत।
तिनहिं सिखावहु कृषीकर्म जस होत बिलायत;
करि सहायता और सुखी करि देहु यथावत।"[२]

जिस ओज तथा प्रवाह के अभाव का आधिक्य भारतेंदु-युग की आरंभिक रचनाओं में था वह इस युग के अन्तिम समय के

---

(१) होली है। (२) स्वागत, पृष्ठ ८।

कवि बालमुकुंद गुप्त की कविता में नहीं है। इनकी रचनाओं में प्रवाह तथा प्रभाव दोनों हैं। इनकी भावानुभूति की सचाई में किसी को संदेह नहीं हो सकता। किसानों की करुण दशा पर इनकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

"जिनके कारण सब सुख पावें जिनका बोया सब जन खाँय;
हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लाँय॥
काल-सर्प की सी फुफकारें लुएँ भयानक चलती हैं;
धरती की सातों परतें जिसमें तावा सी जलती हैं।
तभी खुले मैदानों में वह कठिन किसानी करते हैं;
नंगे तन बालक नर नारी पित्ता पानी करते हैं।
अहा बिचारे दुख के मारे निस दिन पच-पच मरें किसान;
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवा ले जाय लगान।"[1]

दीनों से अत्यधिक समानुभूति होने के कारण बालमुकुंद गुप्त धनियों की कटु आलोचना भी करते हैं। दीनों या सामान्य वर्ग के नाश में इन्हें धनियों या उच्च वर्ग का नाश भी छिपा दिखाई देता है। इसी लिए ये धनियों को दीन-दरिद्रों पर अत्याचार करने से सावधान करते हैं क्योंकि दरिद्रों के मिटनेपर उन्हीं की बारी आएगी—

"हे धनियो क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार;
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार।
हे बाबा जो यह बेचारे भूखों प्राण गँवावेंगे;
तब कहिये क्या धनी गलाकर अशर्फियाँ पी जावेंगे।
हे धनवानों हा धिक किसने हर ली बुद्धि तुम्हारी है;
निर्धन उजड़ जायँगे तब फिर कहिए किसकी बारी है।"[2]

(१) स्फुट कविता—'जातीय गीत,' पृष्ठ ६१।
(२) ,, ,, पृष्ठ ५८।

देश की बढ़ती हुई दरिद्रता इनकी दृष्टि से अन्तर्हित नहीं है। देश कड़े-कड़े करों से लदता जा रहा है। बालमुकुंद गुप्त सरकार के सैनिक व्यय की कड़ी आलोचना करते हैं। सीमा की रक्षा में व्यस्त सरकार सीमा में रहनेवालों की दशा पर ध्यान भी नहीं दे रही है। सरकार की सैनिक नीति के विषय में तत्कालीन असंतोष की व्यंजना निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है—

"साहूकारों के अब तो प्रतिवर्ष दिवाले कढ़ते हैं;
आठो पहर घोर आपद है ऋण के तूदे बढ़ते हैं।
बाबा उनसे कह दो जो सीमा की रक्षा करते हैं;
लोहे की सीमा कर लेने की चिंता में मरते हैं।
प्रजा तुम्हारी दीन दुःखी है रक्षा किसकी करते हो;
इससे क्या कुछ भी होना है नाहक पच-पच मरते हो।"[1]

बालमुकुंद गुप्त, भारतेंदु-युग के आरंभिक कवियों के समान, अधिकारियों से किसी सुविधा के लिए कभी प्रार्थना नहीं करते। इनको पूर्णतया ज्ञात था कि प्रार्थनाएँ निष्फल होंगी। इसी से इनकी रचनाओं में राजभक्ति या चाटुकारिताबोधक एक पंक्ति भी नहीं मिलती। ब्रिटिश शासन तथा उसकी प्रतिज्ञाओं का सुख-स्वप्न अब टूट चला था। बालमुकुंद गुप्त को 'प्रेमघन' की निम्नलिखित प्रार्थना के पूर्ण होने की कोई आशा नहीं थी—

"करहु आज सों राज आप केवल भारत-हित;
केवल भारत के हित साधन में दीने चित्त।
भारत को धन अन्न और उद्यम व्यापारहिं;
रच्छहु वृद्धि करहु साँचे उन्नति-आधारहिं।"[2]

(१) स्फुट कविता—'जातीय गीत,' पृष्ठ ६४।
(२) आर्याभिनंदन, पृष्ठ ८।

इनको अधिकारियों का कोई भरोसा नहीं रह गया था, क्योंकि ये भली-भाँति जानते थे कि विदेशी शासक शासितों की सुविधा का ध्यान न रख अपने देश को समृद्ध बनाने में लगे रहते हैं। इसी से ये अधिकारियों से कृपा की याचना न कर देश-वासियों से ही सहायता की प्रार्थना करते हैं। इनकी अभिलाषा है कि देश आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर हो जाय। इसी से ये उनमें आर्थिक स्वतंत्रता की भावना भरते हुए दिखाई देते हैं। विदेशी वस्तु के बहिष्कार के लिए ये देशवासियों को उत्साहित करते हैं—

"अपना बोया आप ही खावें, अपना कपड़ा आप बनावें।
माल विदेशी दूर भगावें, अपना चरखा आप चलावें।
बढ़े सदा अपना व्यापार, चारों दिस हो मौज बहार।"[1]

आर्थिक स्वतंत्रता की उपर्युक्त भावना निस्संदेह कांग्रेस के आदर्शों से प्रवाहित है। बालमुकुंद गुप्त के समय तक कांग्रेस देश के राजनीतिक जीवन में पर्याप्त प्रभावशालिनी हो चली थी। इनकी ऊपर उद्धृत पंक्तियाँ आर्थिक आत्मनिर्भरता और आर्थिक राष्ट्रीयता (Nationalisation of Economic policy) की ओर संकेत करती है, जिनमें देशवासी अभी सफल नहीं हुए हैं और जिसके लिए आन्दोलन चल रहा है।

कवियों के इस आर्थिक ध्येय तक आने की अवस्थाओं का भारतेन्दु-युग की रचनाओं में पूरा पता चलता है। आरंभ में कवियों की आर्थिक दृष्टि अनिश्चित तथा साधारण थी। ऐसा होना स्वाभाविक था। यद्यपि कवि भारतीय धन के अपहरण तथा देश की दरिद्रता से क्षुब्ध थे तथापि इनके सामने कोई

---

(१) स्फुट कविता, पृष्ठ १९६।

निश्चित कार्यक्रम नहीं था। इसी से इन कवियों को हम सर्वप्रथम अधिकारियों की प्रार्थना करते और अपनी राजभक्ति का आश्वासन देते पाते हैं। भारतेंदु-युग के कवि औद्योगिक तथा आर्थिक शिक्षा के लिए अधिकारियों की कृपा के अभिलाषी हैं। वह कृपा जो इनको संतोषजनक मात्रा में न प्राप्त हो सकी। प्रार्थना द्वारा सफल न होने पर ये देशवासियों के आलस्य और निष्क्रियता की आलोचना करते हैं। जनता को अपने पैरों पर खड़े होने के लिए उत्साहित करते हुए ये कवि उनमें विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की उत्तेजना भरते हैं। देश की व्यापक दरिद्रता का निरंतर वर्णन कर इन कवियों ने जनता के असंतोष को उभाड़ा और इस प्रकार ये राजनीतिक अधिकारों के आन्दोलन में सहायक हुए।

देश की दरिद्रता ने इन कवियों का ध्यान किसानों की ओर आकर्षित किया। इन कवियों ने किसानों की दशा का समानुभूति पूर्ण चित्र खींचा है। समय के साथ कवियों की समानुभूति अधिकाधिक व्यापक और उदार होती गयी। फलतः किसान तथा श्रमजीवी तत्कालीन आर्थिक कविता के प्रमुख विषय बन गये।

इस प्रकार यह स्पष्ट दिखाई देता है कि भारतेंदु-युग के कवियों ने देश की आर्थिक अभाव की भावना जनता में जगाई, जिससे इस प्रकार के आंदोलनों को विशेष सहायता पहुँची। प्रधानतया आज आर्थिक भावना देश के राजनीतिक आंदोलन का अंक बन गई है और कांग्रेस के स्वातंत्र्य-आन्दोलन को अधिकाधिक प्रेरणा दे रही है। इस प्रकार आज की आर्थिक चेतना का बहुत कुछ श्रेय भारतेंदु-युग के कवियों को भी है।

देश भक्ति की भावना

देशभक्ति की भावना समाजगत एवं जातिगत होती है । यह एक मनोभाव है जिसका उद्देश्य मातृभूमि की स्वतंत्रता और उसकी संस्कृति की रक्षा है। देशप्रेम स्वदेश और संस्कृति की रक्षा के लिए साहस और त्याग का आह्वान करता है, क्योंकि अपना शासन और अपनी संस्कृति, खरी-खोटी आलोचना के बाद भी, विदेशी शासन और सभ्यता की अपेक्षा देशवासियों के अधिक निकट होने के कारण उन्हें भली प्रतीत होती है। इसका लक्ष्य स्वाधीन देश की स्वतंत्रता की रक्षा और परतंत्र देश की पराधीनता से मुक्ति है। देशभक्त का दृढ़ विश्वास होता है कि 'सुराज्य' 'स्वराज्य' का स्थानापन्न कभी नहीं हो सकता।

प्रत्येक देश की स्वतंत्रता का अपने यहाँ के सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन से घनिष्ठ संबंध है। जातीय जीवन के ये तीनों पक्ष परस्पर इतने घुले मिले होते हैं कि पृथक नहीं किये जा सकते। इसी से यदि एक पक्ष को धक्का पहुँचता है तो अन्य दो पक्षों पर उसका कुप्रभाव अनिवार्य हो जाता है। इस लिए जिस कविता में जातीय जीवन के इन पक्षों की ओर संकेत हो और जिसका लक्ष्य मातृभूमि की स्वतंत्रता, प्रशंसा तथा उन्नति हो उसे हम देशभक्ति की रचना कह सकते हैं। देशभक्ति की रचनाओं का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि इनके मूल में राजनीतिक अधिकारों का संकेत, आर्थिक जीवन का आभास या स्वदेश का सभ्यता का चित्रण रहता है। समय की आवश्यकता के अनुसार इन तीनों में से कोई एक पक्ष प्रधान होता है और लोकप्रियता का कारण बन जाता है।

भारतेंदु-युग की देशभक्ति की अधिकांश रचनाओं में भारत के अमित गौरव के संकेत मिलते हैं। ये कविताएँ आधुनिक पाठकों को भारत के महापुरुषों का स्मरण दिलाती हैं। ये कविताएँ एक ओर ता उन महापुरुषों के उदार चरित्रों का विशद वर्णन करती हैं और दूसरी ओर आधुनिक काल में देश की गिरी हुई दशा के करुण चित्र उपस्थित करती हैं। इस प्रकार ये रचनाएँ पाठकों में परोक्ष रूप से देशभक्ति की भावना भरती और उसका हित करने के लिए उत्तेजित करती हैं।

भारतेंदु युग के सभी प्रमुख कवि भारत की अतीत कालीन भव्यता की ओर संकेत करते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र देश की सांप्रतिक दीन अवस्था पर आंसू बहाते सामने आते हैं। कृष्ण, अर्जुन, राम और बुद्ध के देश में आज अज्ञान और कलह का राज्य है—

"जहँ शाक्य भए हरिचंदरु नहुष ययाती,
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती,
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई,
हा हा भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"[1]

'प्रेमघन' भी देश की अतीत और वर्तमान अवस्था के वैषम्य पर क्षुब्ध हैं। कहाँ तो प्राचीन काल का शक्तिशाली भारत, जिसकी ओर कोई दृष्टि तक उठाकर देखने का साहस नहीं करता था, और कहाँ आधुनिक काल का निर्बल तथा पददलित देश जिस पर सभी अत्याचार कर रहे हैं—

(१) भारतेंदु-नाटकावली—भारतदुर्दशा, पृष्ठ ५७८।

"रही सकल जगव्यापी भारतराज बड़ाई;
कौन विदेशी राज न जो या हित ललचाई।
रह्यो न तब तिन में इहि ओर लखन को साहस;
आर्य राज राजेसुर दिग्विजयिन के भय-बस।
पै लखि वीरविहीन भूमि भारत की आरत;
सबै सुलभ समुझ्यो या कहँ आतुर असि धारत।"[1]

प्राचीन वैभव के विनाश पर राधाकृष्णदास को अत्यंत दुःख है। अच्छे शासकों और वीरपुंगवों की स्मृति इनको लज्जा एवं ग्लानि से अभिभूति कर देती है, क्योंकि परीक्षित, जनमेजय आदि के वर्तमान वंशजों में उन पूर्वजों का कोई गुण शेष नहीं रहा, प्रत्युत ये उनकी कीर्ति में कलंक लगा रहे हैं—

"कहाँ परीक्षित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज;
नंदवंश कहँ चंद्रगुप्त कहँ हाय कहाँ वह ओज।
काल-बिवस जो गए नृपति वे तो क्यों उनके बालक;
भए न उनके सम काकी अज्ञा उपजे कुल-घालक।
हा कबहूँ वह दिन फिर ह्वैहे, वह समृद्धि, वह सोभा;
कै अब तरसि-तरसि मसूसि कै दिन जैहैं सब छोभा।"[2]

अंबिकादत्त व्यास भी भारत के प्राचीन रत्नों की याद कर आँसू बहा रहा है—

"कहाँ आजु इक्ष्वाकु कुकुत्स्थहु कहँ मांधाता;
कहँ दिलीप रघु अजहुँ कहाँ दशरथ जगत्राता।
पृथ्वीराज हमीर कहाँ विक्रम सक-नासक;
कहाँ आजु रनजीत सिंह जग विजय प्रकाशक।

---

(१) हार्दिक हर्षादर्श।

(२) राधाकृष्ण-ग्रंथावली—'विजयिनी-विलाप', पृष्ठ ८।

जाही दिन दुरदसा सबै भारत पै आई ;
ताही दिन क्यों नहीं गयो पाताल समाई ।"[1]

भारत के अतीत गौरव के ये स्तंभ कवियों को भारत की भव्यता की स्मृति दिलाते हैं और साथ ही साथ वर्तमान हीन दशा का कारुणिक चित्र सामने लाते हैं। इन कीर्तिस्तंभों का ध्यान कर कवि लज्जा से नतमस्तक हो जाते हैं। कभी कभी क्षोभ और निराशा से अत्यधिक अभिभूत होकर ये कवि आवेश में प्राचीन गौरव के स्मृतिचिह्नों का नाश भी चाहने लगते हैं। हरिश्चंद्र में इस प्रकार की नैराश्यमयी भावना का आधिक्य है। इनके क्षोभ का आभास हमें उन रचनाओं में मिलता है जिनमें हिन्दुओं के प्राचीन वैभवशाली ऐतिहासिक नगरों के प्रति संकेत है–

"काशी प्राग अयोध्या नगरी, दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी ।
हाय पंचनद हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत ।
हाय चितौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहि मझारी ।
जो दिन तुव अधिकार नसायो, सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो ।"[2]

—हरिश्चंद्र ।

\+ \+ \+ \+

"दुर्ग माँधाता तथा रोहिताश्व अब देखि ।
कालिंजर चित्तौर त्यों दशा देवगढ़ पेखि ।
पाय सकत आनंद को निरखि दशा अति दीन ।
विविध नगर कन्नौज से हाय आज छबिहीन ।।"[3]

—'प्रेमघन' ।

\+ \+ \+ \+

(१) मन की उमंग—'देवपुरुष-दृश्य' । (२) भारतेंदु-नाटकावली-भारत-दुर्दशा, पृष्ठ ६३० । (३) आर्याभिनंदन, पृष्ठ ३ ।

"हाय सोई यह भूमि! भए जहँ धर्मधुरंधर;
आजु जहाँ रही छाय धूरिधानी सी घर घर।
जाही दिन दुरदसा सबै भारत पै आई;
ताही दिन क्यों नाहिं गयो पाताल समाई।"[1]

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि भारतेंदु-युग के अंतिम वर्षों में 'प्रेमघन' जी की उपर्युक्त भावना में परिवर्तन दिखाई देता है। कांग्रेस की स्थापना हो जाने से कवि की निराशा बहुत कुछ दूर हो जाती है और उसे देश का भविष्य उज्ज्वल और आशापूर्ण प्रतीत होता है। देश की जागर्ति और उन्नति के प्रभाव पर कवि को पूरा पूरा विश्वास हो जाता है।

इन कवियों के अतीत गौरव के प्रतीकों की व्याप्ति पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। इन कवियों की रचनाओं में आए हुए व्यक्ति प्राचीन हिंदु-इतिहास एवं परंपरा के रत्न और हिंदु-संस्कृति के प्रतिक हैं। इसी से ये रचनाएँ 'हिंदू-भाव' को सब से पहले उद्‌बुद्ध करती हैं। भारतेंदु-युग के कवि प्राचीन हिंदू गौरव की ओर संकेत कर देशभक्ति की भावना जागरित करते हैं, ये कवि सब से पहले हिंदू हैं। किंतु इसी कारण हम इन कवियों को अनुदार और सांप्रदायिक नहीं कह सकते। हिंदू होने के ही कारण इन कवियों का हिंदूरत्नों की ओर संकेत करना अनिवार्य था। इसी कारण इनकी कल्पना हिंदू जीवन और परंपरा के ही चित्र उपस्थित करती है। यह सब होते हुए भी इन कवियों की दृष्टि उदार और व्यापक थी। ये केवल हिंदुओं की उन्नति के ही अभिलाषी नहीं थे, संपूर्ण भारत के उत्थान की चिंता में व्यग्र थे। इनका उद्बोधन किसी विशेष समुदाय के प्रति

---

(१) मन की उमंग—'देवपुरुष-दृश्य'।

नहीं था, समग्र देशवासी—तीस करोड़—के प्रति था। ये कवि सच्ची देशभक्ति से प्रेरित थे और इनका हृदय वस्तुत: उदार था, इसलिए इनको सांप्रदायिक कहना इनके साथ घोर अन्याय करना होगा।

इस प्रसंग में यह सूचित कर देना आवश्यक है कि मुसलमानों के आघातों के विरुद्ध मुसलमानी काल में जो आंदोलन हिंदू-संस्कृति की रक्षा के लिए चला था और जिसने मरहठा जाति को मुसलमानों के विरुद्ध मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए सन्नद्ध किया था उसकी गूँज अब तक बनी थी। आर्यसमाज-आंदोलन तथा हिंदुओं के अन्य सामाजिक आंदोलनों के प्रभाव से वही थोड़े भेद के साथ फिर जागरित हो उठा। भेद केवल दृष्टि का था। जहाँ पहले हिंदू-संस्कृति की रक्षा की भावना हिंदुओं को देश से मुसलमानों को निकाल बाहर करने की उत्तेजना देती थी वहाँ भारतेंदु-युग में वह हिंदू ज़ाति, धर्म और समाज की रक्षा तथा उन्नति से संतुष्ट थी। इससे लोगों को देशोन्नति की प्रेरणा मिली।

इस समय की देशभक्ति की रचनाओं की एक और सर्व-सामान्य विशेषता है। इस समय के सभी कवि सहायता के लिए ईश प्रार्थना में संलग्न दिखाई देते हैं। देश की दीन अवस्था के निवारणार्थ ही ये ईश्वरीय कृपा की याचना करते हैं। प्राय: सभी कवियों का ईश्वर में पूरा विश्वास था और इसीसे असमर्थता और निराशा में पड़कर ये ईश्वर से भावुकतामयी और ओजपूर्ण विनय करते थे। इन कवियों ने अभी आत्मा-वलंबन का पाठ नहीं पढ़ा था—

"गयो राज धन तेज रोष बल ज्ञान नसाई;
बुद्धि वीरता श्री उछाह सूरता विलाई।

आलस कायरपनो निरुद्यमता अब छाई ;
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लड़ाई ।
सब बिधि नासी भारत-प्रजा कहुँ न रह्यो अवलंब अब ;
जागो जागो करुनायतन फेरि जागिहौ नाथ कब ।"[1]

—हरिश्चंद्र

\+ + + +

"प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए ।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ॥"
महा अविद्या राक्षस ने या देसहिं बहुत सतायो ।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सब ही बिधिन गँवायो ॥"[2]

—राधाकृष्णदास ।

\+ + + +

"निज हाथन सर्वसु खोय चुके कहँ लौं दुख पै दुख ही भरिए ।
हम आरत भारतवासिन पै अब दीनदयाल दया करिए ॥"[3]

—प्रतापनारायण मिश्र ।

\+ + + +

"जाग जाग जगदंब मात यह नींद कहाँ की ;
कस दीनी बिसराय बान सुतवत्सल माँ की ।
एक पूत की मात नींद भर कबहुँ न सोवत ;
तीस कोटि तव दीन हीन सुत तव मुख जोवत ।

---

(१) भारतेंदु-ग्रंथावली—'प्रबोधनी', पृष्ठ ६८४ ।
(२) मन की लहर, सन् १८८५ । (३) राधाकृष्ण-ग्रंथावली—'विनय' पृष्ठ, ६१।

अपने निरबल निरधन सुतहिं मात रहो बिसराय कस ;
यों मोह छोह सब छांड़िकै होय रही क्यों नींद-बस।"[1]

—बालमुकुंद गुप्त।

वर्तमान युग के कवियों को ईशकृपा से कहीं अधिक विश्वास मनुष्यों की शक्ति में है। इसी से वर्तमान कवि नवयुवकों को देश के लिए अपना बलिदान देने को कहा करते हैं।

अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम स्वाभाविक होता है। सभी देशों के कवि अपनी जन्मभूमि की प्रशंसा के गीत गाया करते हैं। भारतेंदु-युग के अंतर्गत राधाचरण गोस्वामी में जन्मभूमि के प्रशस्तिपाठ का आधिक्य दिखाई देता है—

"हमारो उत्तम भारत देस।
जाके तीन ओर सागर हैं उत हिम गिरि अति वेष॥
श्री गंगा यमुनादि नदी हैं विंध्याधिक परवेश।
राधाचरण नित्यप्रति बाढ़ो जब लौं रवि-राकेश॥"[2]

'प्रेमघन' को भी भारतभूमि पर गर्व है—

"धन्य भूमि भारत सब रतननि की उपजावनि ;
बीर विबुध विद्वान जाति नरवर प्रगटावनि।
यदपि सबै दुख सों सब भांति मई है आरत ;
तऊ अन्य अनेक सुतन अजहूं लौं धारत।
यथा एक बहई है जाकी सुयश पताका ;
फहरत आज अकास प्रकासत भारत साका।"[3]

बालमुकुंद गुप्त में यह प्रेम भूमि के प्रति न होकर देश के निवा-

(१) स्फुट कविता—'दुर्गास्तुति, पृष्ठ ३१।'
(२) हरिश्चंद्रचंद्रिका और मोहनचंद्रिका, कला ८, सन् १८८१
(३) नागरी-नीरद, ८ सितंबर, सन् १८९२।

सियों के प्रति है और वे नवयुवकों से एक साथ रहकर जीने और मरने की प्रतिज्ञा करा रहे हैं—

"आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ।"[1]

यह बहुत बड़ा परिवर्तन है। बालमुकुंद गुप्त ईश्वर-प्रार्थना से ही संतुष्ट न रहकर देशवासियों को आलस्य छोड़कर देशोन्नति के काम करने का आमंत्रण देते हैं। इनमें हमें इस समय की देश-भक्ति की भावना परिवर्तित होती दिखाई पड़ती है। भारतेंदु-युग भी इसी समय समाप्त हो जाता है। इस समय से आगे के कवि देश-दशा सुधारने के लिए ईश्वर की प्रार्थना बहुत कम करते हैं। वे केवल भारत की सुषमा के गीत न गाकर नवयुवकों को मातृभूमि की स्वतंत्रता के निमित्त आत्मबलिदान के लिए उत्तेजित करते हैं। वे एकता पर अधिक जोर देते हैं। मजदूर तथा किसान उनकी कविता के प्रधान विषय हैं। उनमें समाजवाद और क्रांतिवाद की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

इस प्रकार स्पष्ट दिखाई देता है कि भारतेंदु-युग की देशप्रेम की कविता अतीत काल की ओर विशेष रूप से संकेत करती है। कवि संघटन पर जोर न देकर ईश-प्रार्थना में लगे हुए हैं। देशभक्ति का क्षेत्र भी इस युग में अधिक व्यापक नहीं है। किसान तथा मजदूरों की दीन अवस्था पर कवियों का ध्यान अधिक नहीं है।

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं कि भारतेंदु-युग की देशप्रेम की रचना का कोई मूल्य नहीं है। आज की व्यापक देशभक्ति की रचना उस समय की इसी प्रकार की रचना का महत्त्व कम नहीं कर सकती। भारतेंदु-युग की रचना देशभक्ति

---

(१) स्फुटकविता—'स्वदेशी आंदोलन'।

के नवीन स्वरूप का पहला रंग है। यदि देशभक्ति के क्षेत्र के संबंध में हिंदी-साहित्य पर दृष्टि डाली जाती है तो देशप्रेम की भावना का उत्तरोत्तर विकास दिखाई देता है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल के अंतर्गत् चंद के समय में कवि केवल सर्वशक्तिमान् राजा को संबोधित करता था। उस समय राजनीतिक दृष्टि में शासक सर्वोच्च गुण, शक्ति तथा संपन्नता का प्रतीक समझा जाता था। इसी से जब कवि देश की रक्षा के लिए केवल राजा को संबोधित करते थे तो वह आह्वान सामंतों तथा देशवासियों को उत्तेजित करने के लिए पर्याप्त माना जाता था।

'भूषण' के समय में हिंदू-शासक तथा हिंदू-जनता दोनों को जगाने का प्रयास किया जाता था। हिंदू-राजा तथा हिंदू-प्रजा दोनों को देश की स्वतंत्रता तथा हिंदूसंस्कृति की रक्षा के लिए उत्साह दिलाने को कवि उत्तेजित करते थे।

भारतेंदु-युग में स्थिति उलझी हुई थी। तीसरी शक्ति देश की दो प्रधान जातियों पर शासन कर रही थी। स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए सम्मिलित योजना की आवश्यकता थी। वह तभी संभव था जब दोनों जातियों में इतना देशप्रेम हो कि वे मिलकर एक हो सकें।

इस एकता और सामंजस्य के घटित करने में भारतेंदु-युग के कवियों ने हिंदू-जाति में देशप्रेम भरकर पहली मंजिल तय की। इन कवियों ने हिंदुओं को देश की उन्नति के लिए काम करने को उत्साहित किया। देशभक्ति की भावना से भरकर ही हिंदू-जाति ने अपने सामान्य लक्ष्य–भारत की स्वाधीनता—की प्राप्ति के लिए दूसरी जातियों के प्रति प्रेम का हाथ बढ़ाया। इसका सारा श्रेय भारतेंदु-युग की देशभक्ति की रचना तथा रचयिताओं को है।

सामाजिक परिस्थिति

१८५७ का विप्लव भारतीय इतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। यह विप्लव केवल राजनीतिक ही नहीं था। इसने हमारे सामाजिक जीवन और साहित्य में भी क्रांति उपस्थित की। इस क्रांति के फलस्वरूप देश का शासन-सूत्र ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से निकलकर सीधे पार्लमेंट के हाथों में चला गया और अँगरेज जाति एवं उसकी सभ्यता से हमारा घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ। अँगरेजी शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ इस संबंध का प्रभाव भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और हिंदू-समाज भी अपने को इस प्रभाव से अछूता न रख सका। अब हिंदू-समाज के लिए रूढ़िग्रस्त या कूपमंडूक बनकर रहना असंभव हो गया। वह परिवर्तनशील समय के अनुकूल अपने में परिवर्तन करने को बाध्य हुआ।

परिवर्तन अनिवार्य था। आवश्यकता के वशीभूत होकर ही उदार हिंदू-समाज मध्यकाल में कट्टरपंथी बन गया था। इस समय पुनः व्यापक सामाजिक दृष्टि के प्रसार की आवश्यकता हुई। मुसलमानों की धर्मगत कट्टरता और समाजगत अत्याचारों से ही अपनी रक्षा के प्रयत्न में हिंदू-समाज को अनुदार बनना पड़ा था। अब वह विपत्ति टल गई थी। समय बदल चुका था और देश में नवीन जीवन का संचार हो रहा था। इस समय हिंदू-समाज के विकास के लिए संकुचित और अनुदार दृष्टि अनपेक्षित थी। यद्यपि उसमें जीवनगत दृष्टि-प्रसार और कालानुमोदित व्यवहार की पूर्ण क्षमता थी तथापि शतियों की घोर निद्रा ने

उसे अक्रिय बना दिया था। हिंदू-समाज इस समय तक अंधविश्वासों तथा कट्टर नियमों से पूर्णतया जकड़ गया था और समय के साथ-साथ आगे बढ़ने में असमर्थ दिखाई देता था। इसे इस समय किसी ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ एवं निर्भय सुधारक की आवश्यकता थी जो विघ्न-बाधाओं को कुचलता हुआ आगे बढ़ सकता और समाज में अपेक्षित परिवर्तन कर सकता।

समय ने ऐसे ही उदारहृदय समाज-सुधारक की अवतारणा की। स्वामी दयानंद के आगमन ने हिंदू-समाज में नवजीवन का संचार कर दिया। समाज का कट्टरपन बहुत कुछ दूर हो गया और वह उदासीनता का त्याग कर सामयिक जीवन में उत्साह-पूर्वक संलग्न हुआ। स्वामी दयानंद द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज के आंदोलन ने उन्नीसवीं शती (उत्तरार्ध) के हिंदू-समाज में जागर्ति का आविर्भाव किया। महंतों के धार्मिक मायाजाल और समाज की अंधविश्वासपूर्ण रीति-नीति की कड़ी टीका ने जनता का ध्यान इस विद्रोहात्मक अंश की ओर आकृष्ट किया। कुछ लोगों ने तो इसे समाज का उद्धार करनेवाला मानकर इसका अभिनंदन किया और कुछ लोगों ने इसे नई विपत्ति समझा। फलस्वरूप नवजीवनसूचक आलोचना एवं प्रत्यालोचना का जन्म हुआ। आर्यसमाजियों का श्रम निष्फल नहीं हुआ। इस आंदोलन से हिंदू-जनता में सामाजिक चेतना अवश्य जगी। आज की सामाजिक उन्नति का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आर्यसमाजियों को है।

अँगरेजी शिक्षा से इस आंदोलन को और भी सहायता मिली। अँगरेजी पढ़े-लिखे हिंदू अपने समाज की कट्टरता से असंतुष्ट थे। उन्हें तत्कालीन हिंदू-समाज में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति का पूरा-पूरा अवसर नहीं मिल पाता था। इसलिए

इन लोगों ने इस सुधारवादी आंदोलन का हृदय से स्वागत किया और इसे सहायता पहुँचाई। उनकी आधुनिक मनोदृष्टि ने दूसरे प्रकार से भी आंदोलन की गति प्रखर की। कुछ लोगों पर आधुनिकता का रंग इतना अधिक चढ़ गया कि वे हिंदू-समाज को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। वे समाज की कट्टरता और रीति-नीति से विद्रोह कर प्रतिक्रिया के रूप में ईसाई तक बनने को कटिबद्ध से प्रतीत होने लगे। इससे विच्छेद की आशंका बढ़ी। हिंदू-समाज इसके लिए तैयार नहीं था। इसलिए इस नई विपत्ति की शंका ने सुधार की गति और तीव्र कर दी। इस प्रकार अँगरेजी शिक्षा ने दूसरे प्रकार से भी आंदोलन को सहायता दी। ऐसा कहने से किसी को यह न समझ लेना चाहिए कि अँगरेजी शिक्षा ने सामाजिक आंदोलन को जन्म दिया। अँगरेजी द्वारा विदेश के सांस्कृतिक संबंध से इस आंदोलन को केवल उत्साह भर मिला। समाज के जीवन को परिवर्तित करनेवाला आंदोलन वस्तुतः आर्यसमाज का ही आंदोलन था और यह पूर्णतया भारतीय था। इसके प्रवर्तक स्वामी दयानंद वैदिक आदर्शों के प्रतिष्ठापक थे। उनमें सारी प्रेरणा वैदिक अर्थात् भारतीय थी। उन पर तो किसी प्रकार भी अँगरेजी के प्रभाव का संदेह तक नहीं किया जा सकता।

हिंदी-काव्य स्वामी दयानंद और आर्यसमाज के व्यापक प्रभाव से बच न सका। इस समय की कविता में समाज-सुधार की भावना स्पष्ट मिलती है और सभी कवियों में यह प्रवृत्ति पूर्णतया लक्षित होती है। क्या कट्टरपंथी, क्या सुधारवादी और क्या आर्यसमाजी सभी समान रूप से समाज का कल्याण और सुधार चाहते थे, भले ही इन लोगों में साधन के संबंध में मतभेद दिखाई दे। यद्यपि कट्टरपंथी समाज की चली आती हुई

परंपरा में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं चाहते थे, वे वर्णाश्रम-धर्म के पूर्णतया पालन के पक्षपाती थे, विधवा-विवाह उनके लिए पाप था, वे सुधार की लहर और आवेश को पश्चिमी सभ्यता के भूत का आक्रमण कहते और इसका जी-जान से विरोध करते थे, तथापि यह न समझ लेना चाहिए कि वे समाज के दोषों से अनभिज्ञ थे। वे इन दोषों का हेतु वर्णाश्रम-धर्म की अवहेलना और सामाजिक नियमों के प्रति अश्रद्धा को मानते थे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक रीति-नीतिसंबंधी शास्त्रीय वचनों के अक्षरशः पालन से सब दोष दूर हो सकते हैं। इसी से कट्टरपंथी वर्णाश्रम-धर्म के नियमों के पालन पर जोर देते थे। कट्टरपंथियों की यही मनोदृष्टि उनको सुधारवादियों से भिन्न करती है। सुधारवादियों को पश्चिमी विचार और विद्या से सहायता लेने में कोई संकोच नहीं होता था। इसके विपरीत कट्टरपंथी पश्चिमी सभ्यता को ही घातक समझते थे, क्योंकि उनके विचारानुसार इस नवीन सभ्यता ने ही हिंदू युवकों को अपने समाज की प्राचीन रीति-नीति के प्रति अश्रद्धालु बना दिया था। इस कट्टरवादिता के संकेत हमें राधाचरण गोस्वामी और बालमुकुंद गुप्त की कविता में मिलते हैं।

राधाचरण गोस्वामी को केवल समाज की अधोगति ही दिखाई पड़ती है और इस दुर्दशा का कारण वे भारत का दुर्भाग्य ठहराते हैं। उन्हें भारत से धर्म, कर्म, योग और भक्ति का लोप ही लोप दिखाई देता है। ये सब भारत का त्याग कर स्वर्गलोक में जा विराजे हैं। भारत में अब केवल पतितपावनी गंगा ही बची हैं और ये भी यहाँ से लुप्त होनेवाली हैं—

> "धर्म चार पद नसो बसो सुरपति पुर जा के ;
> कर्म गयो उड़ि सत्यलोक सन्निधि ब्रह्मा के।

योग गयो कैलास शंभु ने लियो उठा के ;
भक्ति लई बैकुंठ पारषद जन अकुला के ।
अब केवल गंगा रही जाय रत दश साल में ;
भारत गारत ह्वै रह्यो अति आरत कलिकाल में ।"[1]

हिंदू-समाज की ऐसी दशा सामाजिक नियमों की अवहेलना से ही हुई है। इन्होंने यज्ञ और श्राद्ध न करनेवालों की कटु आलोचना की है। वेदमार्ग को छोड़ फारसी पढ़नेवालों से ये क्षुब्ध हैं। ये तत्कालीन हिंदू-समाज की आलोचना निम्नलिखित पंक्तियों में करते हैं—

"यज्ञ-याग सब मेट पेट भरने में चातुर ;
पितर पिंड नहिं देत यवन-सेवा में आतुर ।
पढ़े जनम तें फारसी छोड़ 'वेदमारग दियो ;
हा हा हा बिधि बाम ने सर्वनाश भारत कियो ।"[2]

राधाचरण गोस्वामी तो विधवा विवाह की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। उनकी दृष्टि में इसकी चर्चा भी अधार्मिकता थी। किंतु ये विधवा के दुःखों की सच्ची व्यंजना और ईश्वर से उसके त्राण की प्रार्थना अवश्य करते हैं। विधवाओं के प्रति इतनी सहानुभूति के होते हुए भी ये विधवा-विवाह से संमत नहीं हैं। विधवा-विवाह के प्रस्ताव पर ये विधवा से कहलाते हैं—

"प्यारे सिर दै मारिए इनके पाथर ऐंच ;
अनहोनी यह कहत हैं अपनी-अपनी खैंच ।"[3]

---

(१) हरिश्चंद्रचंद्रिका और मोहनचंद्रिका, कला ९, किरन ६, सन् १८८२। (२) हरिश्चंद्रचंद्रिका और मोहनचंद्रिका, कला ९ किरन ६, सन् १८८२। (३) हरिश्चंद्रचंद्रिका और मोहनचंद्रिका, कला २, किरन ११, सन् १८८२।

कट्टरपंथी होते हुए भी इनके उद्गार सच्चे हैं। ये समाज का संस्कार चाहते हैं। ये चाहते हैं कि प्रत्येक वर्ण शास्त्रानुकूल आचरण करे। इसके विपरीत कोई दशा देखकर ये दुखी होते हैं और प्राचीनता को तिलांजलि देनेवाले उपायों का विरोध करते हैं। ये हिंदू समाज के उद्धार के अभिलाषी हैं—

"जब जब करी पुकार भूमि अवतरे तबी तब ;
शिष्ट अनुग्रह कियो दुष्ट निग्रहन सबी सब।
रखी धर्ममर्याद याद करि कही कबी कब ;
ऐसे क्यों निरदई भए हे दई अबी अब।
राखो बिरद सँभारि कै गीता प्रति अर्जुन कही ;
जब जब ग्लानी धर्म की तब तब प्रगटों मैं (सही)।"[1]

उपर्युक्त प्रार्थना हिंदू-शास्त्रों में कवि के दृढ़ विश्वास और प्राचीन धार्मिक मनोदृष्टि की स्वयं सूचना देती है।

अंबिकादत्त व्यास जात-पाँत के विरोधी नवयुवकों की तीव्र आलोचना करते हैं—

"जातिभेद की जगत् विदित फुलवारी फूली ;
ये ताहू को तोरि करन चाहत निर्मूली।"[2]

वर्णाश्रम-धर्म की अवहेलना बालमुकुंद गुप्त को बहुत खटकती है। इनका जात-पाँत में दृढ़ विश्वास था और ये उन युवकों से असंतुष्ट थे जो इससे उदासीन थे। ब्राह्मणों के यज्ञयागादि छोड़ देने पर, क्षत्रियों के अस्त्र-शस्त्र को तिलांजलि-दान करने पर और वैश्यों के सद्व्यवहार से विमुख हो जाने पर ये बहुत क्षुब्ध थे। इन्होंने क्षत्रियों की आधुनिक संतति पर कड़ा व्यंग किया

(१) हरिश्चंद्रचंद्रिका और मोहनचंद्रिका, कला २, किरन ११; (२) मन की उमंग—'भारतधर्म'।

है, जिन्होंने तलवार और भाला छोड़कर घड़ी, छड़ी और चश्मा को अपना हथियार बनाया है—

"सेल गई बरछी गई गए तीर तलवार ;
घड़ी छड़ी चसमा भए छत्रिन के हथियार।
जिनके कर सों मरन लौं छुट्यो न कठिन कृपान ;
तिनके सुत प्रभु पेट-हित भए दास दरबान।
विप्रन छोड्यो होम तप अरु छत्रिन तलवार ;
बनिकन के पुत्रन तज्यो अपनो सद्व्यवहार।"[1]

ये विधवा विवाह के विरुद्ध हैं। इनके विरोधी विचारों का पता निम्नलिखित व्यंगात्मक पंक्तियों से लग सकता है—

"भला हम विधवा माँ का व्याह करें।
माता दादी नानी चाची फूफी घर की नार।
कोई विधवा को हम उसकी शादी पर तय्यार।
भला हम बीज न छोड़ें विधवा का।"[2]

अँग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ इनके व्यंग का शिकार बनी हैं—

"बात वह अगली सब सटकी, बहू मैं जब थी घूँघट की।
मजा अब सुख का पाया है, स्वाद शिक्षा का आया है।
खुले अब नैन नींद गई टूट, बुद्धि के पर आए हैं फूट।
घुटावें क्यों पिंजरे में दम, नहीं कुछ अंधी चिड़िया हम।"[3]

सामाजिक रीति-नीति और पुराण एवं वेद के प्रति अश्रद्धा इन्हें व्यथित करती है। सामाजिक परंपरा के त्याग और अधार्मिक विचारों के ग्रहण से इन्हें बड़ा असंतोष है। इन्हें हिंदू-

(१) स्फुट कविता—'श्रीराम-स्तोत्र', पृष्ठ ७।
(२) स्फुट कविता—'विधवा-विवाह'; पृष्ठ ११६।
(३) स्फुट कविता—'सभ्य बीबी की चिट्ठी' पृष्ठ ११०।

समाज में अवनति और विवशता दिखाई देती है। कवि इससे विवश होकर हिंदुओं की रक्षा के लिए ईश्वरीय सहायता की याचना करता है—

"पै हमरे नहिं धर्म कर्म कुलकानि बड़ाई ;
हम प्रभु लाज समाज आज अब धोय बहाई।
मेटे वेद पुरान न्याय निष्ठा सब खोई ;
हिंदूकुल-मरजाद आज हम सबहि डुबोई।
यह हिंदू गन दीन छीन हैं सरन तुम्हारे ;
मारो चाहे राखो तुम ही हो रखवारे।"[1]

इस प्रकार इन कवियों की रचना में हमें अपरिवर्तनवादी समाज की वाणी सुनाई पड़ती है। इन कवियों की भावानुभूति और सचाई के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता। यद्यपि नवयुग के सुधारवादी कवियों से इनका मतभेद था तथापि इनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है।

अपरिवर्तनवादी कवियों की मनोदृष्टि ही इनको सुधारवादियों से पृथक् करती है। ये कवि किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे। परिवर्तनशील समय पर ध्यान न देकर ये प्राचीन सामाजिक आदर्शों को ज्यों का त्यों स्थिर देखना चाहते थे। इसलिए ये उन विदेशी विचारों और साधनों का समावेश अपने समाज में नहीं करना चाहते थे जो अब नितांत आवश्यक हो गए थे। पश्चिमी विचारों की कटु आलोचना का कारण यही था। इसके विपरीत सुधारवादी कवि अंगरेजी विचार और विद्या का हृदय से स्वागत करते थे। सुधारवादियों का ध्येय पाश्चात्य मनोदृष्टि के सहारे सामाजिक उन्नति द्वारा हिंदू-जाति का कल्याण

---

(१) स्फुट कविता—'राम-भरोसा', पृष्ठ ११।

करना था। इन दो दलों में यही प्रधान भेद था, अन्य विषयों में दोनों एकमत थे। भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के संघर्ष के प्रति दोनों का रुख एक था। इस दृष्टि से सुधारवादी भी अपरिवर्तनवादी कवियों के साथ-साथ थे।

सुधारवादी कवियों में प्रमुख हैं हरिश्चंद्र और 'प्रेमघन'। इस दल में और भी अच्छे कवि हैं, जिन्हें समाज-सुधार से पूरी-पूरी सहानुभूति है और जो इसके समर्थक हैं।

हरिश्चंद्र प्रतिभा-संपन्न और उदार-हृदय कवि थे। सामाजिक विषयों में इनकी रुचि थी। ये प्रत्येक कल्याणकारी सामाजिक आंदोलन को सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे। समाज के दोष इनसे छिपे न थे, तत्कालीन समाज के दोषों का स्थूल वर्णन इनकी निम्नलिखित पंक्तियों में मिलेगा—

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए;
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए।
जाति अनेकन करी ऊँच अरु नीच बनायो;
खान-पान-संबंध सबनि सों बरजि छुड़ायो।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‌यो;
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‌यो।
रोकि विलायत-गमन कूप-मंडूक बनायो;
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी-देवता भूत-प्रेतादि पुजाई;
ईश्वर सों सब विमुख किए हिंदू घबराई।"[1]

उद्धृत पंक्तियों में अधिकतर उन समाजगत दोषों का विवरण मिलता है जिनकी ओर सुधारवादी कवियों का ध्यान था।

---

(१) भारतेंदु-नाटकावली—भारत दुर्दशा, पृष्ठ ६०४।

धार्मिक विवाद, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, जातिभेद, अंध-विश्वास, समुद्रयात्रा-निषेध आदि समस्याएँ हरिश्चंद्र के सामने थीं। हरिश्चंद्र ने यथाशक्ति इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया। संपादक के नाते इन्होंने समाज-सुधार के आंदोलन को प्रोत्साहित किया और उपयुक्त अवसरों पर सामाजिक विषयों पर कविताएँ रचीं।

हरिश्चंद्र को तत्कालीन समाज में स्पष्ट दो दल दिखाई पड़े, जिनमें कोई सामंजस्य न था। एक दल का हिंदू-पुराणों में अखंड विश्वास था, परंतु युगपरिवर्तन की ओर उसकी आँखें बंद थीं। दूसरा दल पश्चिमी सभ्यता में इतना रँग गया था कि उसे अपने समाज का रूप-रंग बदलने में ही कल्याण जान पड़ता था। समाज के इन दो अपरिवर्तनवादी और उग्रतावादी दलों का संकेत उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है—

"आधे पुराने पुरानहिं माने, आधे भए किरिस्तान हो दुहरंगी।
क्या तो गदहा को चना चबावैं, कि होइ दयानंद जाँय हो दुहरंगी।"[1]

हरिश्चंद्र ने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। ये न तो हिंदू-समाज को छोड़ने के लिए कटिबद्ध थे और न उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करने ही के लिए। इन्होंने समाज में सुधारों का समावेश सामंजस्य की भावना से भरकर किया। निम्नलिखित पंक्तियाँ इनकी समन्वयवादिनी दृष्टि को भलीभाँति व्यक्त कर देती हैं। हिंदी के अन्य सुधारवादी कवि भी इसी भावना से प्रेरित हुए हैं—

"खल-गगन सों सज्जन दुखी मत होहिं परिपद-मति रहै;
उपधर्म छूटै स्वत्व निज भारत गहै कर-दुख बहै।

(१) वर्षा-विनोद, छंद संख्या ४२।

बुध तजहिं मत्सर नारिनर सम होंहिं जग आनँद लहै ;
तजि ग्राम-कविता सुकवि-जन की अमृतबानी सब कहै।"[1]

हरिश्चंद्र स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती थे। इनकी आंतरिक अभिलाषा थी कि शिक्षा प्राप्त कर स्त्रियाँ सीता, अरुंधती और अनुसूया की सी उच्चता, विद्या और शील प्राप्त करें। ये स्त्रियों को सच्ची अर्धाङ्गिनी बनाना चाहते थे—

"जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष या मैं कछु न विभक्ति॥
सीता अनुसूया सती अरुंधती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण लहौ सकल जग नारि॥
वीर-प्रसविनी बुध-बधू होइ हीनता खोय।
नारी-नर-अरधंग की साँचेहि स्वामिनि होय॥"[2]

छुआछूत का संकेत हमें सर्वप्रथम इन्हीं की कविता में मिलता है। 'भारत-दुर्दशा' में सत्यानाश अपना महत्त्व धार्मिक मतभेद और छुआछूत फैलाकर बताता है—

"बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म।"[3]

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की सामाजिक भावना बड़ी उदार है। ये हिंदू-समाज में नवजीवन का संचार चाहते हैं। समयानुकूल सामाजिक परिवर्तन में इन्हें कोई संकोच नहीं है। ये प्राचीन और नवीन दोनों की उत्तम बातों को ग्रहण करने को प्रस्तुत हैं—

"आवश्यक समाज-संशोधन करो न देर लगाओ ;
हुए नवीन सभ्य औरों से अपने को न हँसाओ।

---

(१) कविवचनसुधा। (२) बालाबोधिनी।
(३) भारतेंदु-नाटकावली—भारत-दुर्दशा, पृष्ठ ६१६।

सीखो नई पुरानी दोनों प्रकार की विद्याएँ ;
दोनों प्रकार के विज्ञान सिखाओ रच शालाएँ।"[1]

'प्रेमघन' अंधविश्वास की आलोचना करते हैं। ये उन लोगों को चेतावनी भी देते हैं जो आँख मूँदकर सामाजिक रीति-नीति-संबंधी रूढ़ि का पालन करते चल रहे हैं। धार्मिक झगड़ों से ये बचना और बचाना चाहते हैं, क्योंकि सच्चा धार्मिक किसी से लड़ता नहीं। ये देशवासियों से पिछले झगड़ों को भूलकर आगे की सुध लेने की प्रार्थना करते हैं—

"प्रचलित हाय अंध परिपाटी पर तुम चलते जाते ;
आर्यवंश को लज्जित करते कुछ भी नहीं लजाते।
धर्म आग्रह सब है केवल करने ही को झगड़ा ;
नहिं तो सत्य धर्म-प्रेमी से कैसा किससे रगड़ा।
बीती जो उसको भूलो सँभलो अब तो आगे से ;
मिलो परस्पर सब भाई-बँध एक प्रेम-धागे से।"[2]

'प्रेमघन' ने अपने समय की एक प्रमुख सामाजिक विपत्ति का संकेत किया है। ईसाई पादरी हिंदुओं को धर्म से विमुख करते थे। इन्होंने उनकी तीव्र आलोचना की है—

"पकी-पकाई रोटी निज हाथनि खिखरावत ;
सहज पादरी लोग दुखिन के चित ललचावत।
कुलाचार मर्याद जाति धर्महु प्रयास बिन ;
लै लेते उनके दै दै रोटी द्वै द्वै दिन।
कहते सब सों हम कोटिन क्रिस्तान बनाए ;
प्रभु ईसू को मत भारत में भल प्रगटाए।"

(१, २) आनंद अरुणोदय।

(३) हार्दिक हर्षादर्श।

समाज-सुधार के क्षेत्र में हरिश्चंद्र और 'प्रेमघन' अकेले नहीं हैं, भारतेंदु-युग के अन्य कवि भी सामाजिक उन्नति के आकांक्षी हैं। राधाकृष्णदास भारत से अविद्या के नाश के लिए ईश्वर से अवतार लेने की प्रार्थना करते हैं। समाज में अज्ञान छाया हुआ है और जनता सुधारकों की शिक्षा पर ध्यान न देकर उन्हें मूर्ख और नास्तिक समझती है—

"प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख-दारिद हरिए।
महा अविद्या राच्छस ने या देसहिं बहुत सतायो।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सब ही निछिन गँवायो।
जो कोउ हित की बात कहत तो कोपैं सब ही भारी।
धरम-बहिरमुख मूरख नास्तिक कहि कहि देवें गारी॥"[1]

प्रतापनारायण मिश्र भी उदार दृष्टिवाले कवि हैं। ये चाहते हैं कि हिंदू आत्ममर्यादा का ध्यान रखें, अपने धर्म में रत हों और स्त्रियों को शिक्षा दें। ये बाल-विवाह की रोक-छेंक चाहते हैं और ईश्वर से विधवा तथा गो की रक्षा की प्रार्थना करते हैं। हिंदुओं को बहकानेवाले विधर्मियों के कुचक्र का भी संकेत इनकी रचना में मिलता है—

"निज धर्म भली विधि जानैं, निज गौरव को पहिचानैं।
स्त्रीगण को विद्या देवैं, करि पतिव्रता यश लेवैं।"[2]
झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिटि जाय;
बालब्याह की रीति मिटाओ रहे लाली मुँह छाय।"[3]

(१) राधाकृष्ण-ग्रंथावली—विनय।
(२) प्रेमपुष्पावली। (३) होली है।

"विधवा विलपैं नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय गोहार नहीं।
कोउ मूरख हिंदुन को ठगि कै निज निंदित शिष्य बनावत है;
बहकाय कुटुम्ब छुड़ाय छली फिर नेक नहीं अपनावत है।"[1]

दूसरों की आलोचना करते हुए प्रतापनारायण अपने कान्यकुब्ज समाज के दोषों से भी अनभिज्ञ न थे। कान्यकुब्ज-जाति की विधवाओं और बालिकाओं के प्रति इनकी सच्ची सहानुभूति है—

"कौन करेजो नहिं कसकत सुनि बिपति बालविधवन की है;
ताते बढ़ि कै क्रंदना कान्यकुब्ज-कन्यन की है।
बैर परे पितु मातु बनाई युवति बाल वृद्धन की है;
पशु सम समझी जात नहिं बनिता ऋषिवंशन की है।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियाँ यद्यपि देखने में कवियों के व्यक्तिगत उद्गार जान पड़ती हैं तथापि इनमें उस समय के सुधार की वाणी अवश्य गूँज रही है। इनसे कवियों की सुधार-संबंधी तत्परता भी लक्षित होती है।

इन सुधारवादी कवियों के साथ-साथ कुछ आर्यमतावलंबी कवियों ने भी अपनी वाणी में समाज-सुधार की बातें प्रस्तुत की हैं। सुधारवादी कवियों से आर्यसमाजी कवियों का कोई विशेष मतभेद नहीं है। इनकी सामाजिक रचनाओं के विषय सुधारवादी कविताओं से भिन्न नहीं हैं। गो-रक्षा, बाल-विवाह, विधवाओं की दशा, अंधविश्वास आदि विषयों पर इन कवियों की भी कृतियाँ हैं। भेद केवल रुख का है। सुधारवादी कवि परिवर्तन में सामंजस्य का ध्यान रखते हैं। इनकी आलोचना उतनी कटु नहीं है। इसके विपरीत आर्यसमाजी कवि अत्यंत उग्र हैं और उनकी समाज की आलोचना बड़ी तीव्र और तीखी है। वे

(१, २) मन की लहर।

समाज-सुधार के लिए अत्यंत अधीर हैं और कभी-कभी उनकी आलोचना शिष्टता की सीमा को भी पार कर जाती है।

आर्यसमाजी कवि सामाजिक रूढ़ि के विरुद्ध हैं। ये अंध-विश्वास और मूर्तिपूजा का तीव्र प्रतिवाद करते हैं। इसी कारण ये धार्मिक महंतों और पुजारियों को भला-बुरा कहते हैं और उन्हें 'पोप' की उपाधि देते हैं। यहाँ तक कि जिस छंद में इन्होंने 'पोपों' की पोल खोली है उसे ये 'पोप छंद' कहते हैं। नीचे 'पोप छंद' के कुछ चरण उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें पोपों द्वारा चलाई हुई मूर्तिपूजा का विरोध किया गया है—

"ये चाल चलावें क्या उलटा जो पत्थर को पुजवाते हैं;
क्या पत्थर फिर भगवान मिले जब इनका ध्यान छुड़ाते हैं।
सब नद्दी नाले ढूँढ़ चुके तब रेती पर भी वार करें।
ये गौर पुजावें देवी की फिर रेती का भरमार करें।
क्यों पड़े फंद में पोपों के तुम नाहक जन्म गँवाते हो;
जंजाल तजो जगदीश भजो क्यों भटके-भटके फिरते हो।"[1]

स्वामी दयानंद की प्रशंसा और पुराने पंडितों की कुत्सा करना बहुत से आर्यसमाजियों का व्रत सा था। स्वामीजी की प्रशंसा के साथ-साथ सनातनधर्मियों को गाली देना बहुतों के लिए आवश्यक था। कभी-कभी यह अनौचित्य की सीमा पर पहुँच जाता था। स्वामीजी की प्रशंसा वे इन शब्दों में करते थे—

"दयानंद हैं ब्रह्मचारी इन उत्तम एक विचारी,
देशोन्नति के कारण सभा बहु प्रचारी हैं;
पूर्व वेद को पसारो मिथ्या पुराण को निकारो
ब्याह विधवा को प्रचार्‌यो ऐसे महत् धर्माधिकारी हैं।

(१) भारत दुर्दशा-प्रवर्तक, खंड ४, नंबर २।

गोवध को निषेध कियो तीरथ में भेद कियो
ऐक्यता उपदेश कियो ऐसे परोपकारी हैं।
मुरलीधर गावे पोप किंचित ना लजावें
मिथ्याधर्म को गँवावे या सों भयेई वो भिखारी हैं।"[1]

आर्यसमाजी कवियों की रचनाओं का एक अच्छा पक्ष भी है। जब कभी वे निष्फल वाद-विवाद को छोड़ देते थे तब समाज-सुधार के उपायों को भी सोचते थे। वे आर्यसमाज का ध्येय समाज-सुधार और देश की समृद्धि बताते हैं। उनका उद्देश्य और कार्यक्षेत्र निम्नलिखित पंक्तियों में बहुत स्पष्ट है—

"बालविवाह कुदान अंडबंड पूजा दहेज
स्त्रीशिक्षा दान व्याख्या आर्यसमाज की।
मनुष्यन को उचित सब आपस में मेल राखें
गृहस्ती को कार्य सब वेदानुकूल करिबो।
मुरलीधर सुचित है कवित्त को बनाय कहै
हम आर्यन को उचित देश-उन्नति को करिबो।"[2]

बाल-विवाह का विरोध इन कवियों ने सबसे अधिक किया है। इसके कुप्रभाव का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलेगा—

"बाल-ब्याह जब कियो तज्यो सत्काम सकल विधि;
जार-पंथ चित दियो तिया शुचि लाग लेन बुधि।
भए सुमूरख सकल विधि तियमय लागे जग लखन;
सब मर्यादा धर्म तजि लगे मातु पितु से लड़न।
याते करिय विचार बाल-ब्याह नहिं कीजिए;
वय विद्या अनुहारि पूर्ण अवस्था ब्याहिए।"[3]

(१) भारत-दुर्दशा प्रवर्तक, खंड ३, नंबर ८।

(२, ३) शुभचिंतक, खंड १, नंबर १।

इस समय गोरक्षा का आंदोलन अपनी चरम सीमा पर था। आर्यसमाजियों ने इसकी सहायता की। आर्यसमाजी आधुनिक अशिक्षित हिंदू-समाज का चित्र प्राचीन भव्यता के प्रतिपक्ष में अंकित करते हैं। राम, कृष्ण, हरिश्चंद्र और व्यास के वंशज आज वेद का नाम भी नहीं जानते—

"हरिश्चंद्र से धर्मधुरंधर वेदव्यास जग जानी;
तिनकर वंश कहावत प्यारे तनिक लाज नहिं आनी।
एक समय वह रहा सबन कर वेद सहज मुख बानी;
अब तुम कारण समय सा आवा वेद नाम नहिं जानी।"[1]

वेद और वैदिक शब्दों की बार-बार आवृत्ति से पाठकों को आश्चर्य न होना चाहिए। आर्यसमाजियों के सुधार का आधार वेद था, उनके विचारानुसार सारे सामाजिक रोगों की एकमात्र औषध थी वेदनिष्ठा।

हम चाहे आर्यसमाजियों की आलोचना से सहमत न हों, परंतु हमें उनके सदुद्देश्य में संदेह नहीं है। वे सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग देने में किसीसे पीछे नहीं हैं। आज की सामाजिक उन्नति का श्रेय बहुत कुछ उन्हीं को है। सच्चे देशभक्त के समान वे देश को मोहनिद्रा से जगाने का प्रयत्न करते हैं—

"चेतो भइया अबहुँ न नींद सिरानी.
राति बीति गई दिन चढ़ि बीत्यो संध्या फिर नगिचानी।
अस गाढ़ी निद्रा नहिं देखी सुधि बुधि सबै हिरानी॥"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वतः अपरिवर्तनवादी, सुधारवादी और आर्यसमाजी कवियों में बहुत कम भेद है। इनकी

(१,२) शुभचिंतक, खंड १, नंबर ५।

एकता का आधार इनके उद्देश्य की समानता है। ये सब हिंदू-समाज की उन्नति चाहते हैं। सभी हिंदू-समाज की कल्याण-कामना से अनुप्राणित हैं। समाज पर विपत्ति की आशंका के आते ही सब कवि एक हो जाते हैं। सांस्कृतिक संघर्ष में सब कवि मतभेद भुलाकर साथ-साथ समान रूप से हिंदू-समाज और हिंदू-संस्कृति की रक्षा में सन्नद्ध दिखाई देते हैं।

भारतेंदु-युग में सांस्कृतिक चेतना की लहर सी उठी है। सभी कवि अपने समाज और संस्कृति की रक्षा में तत्पर हैं। इस सांस्कृतिक जागर्ति का सबसे बड़ा कारण भारतेंदु-युग है। भारतेंदु-युग में हमें सर्वतोमुखी जागर्ति के दर्शन होते हैं। राजनीतिक चेतना के समान सांस्कृतिक मनोदृष्टि भी भारतेंदु-युग की नवजागर्ति का एक अंग है। स्वामी दयानंद के आर्यसमाज आंदोलन से सांस्कृतिक चेतना को और भी उत्तेजना मिली। आर्यसमाज वैदिक आधार पर समाज में परिवर्तन करना चाहता था। किसी दूसरे समाज का अनुकरण इसे इष्ट न था। उस समय के सुधारक परिवर्तन चाहते हुए भी अपने समाज का रूप बिगाड़ना नहीं चाहते थे। इसीसे सुधारवादी पश्चिमी सभ्यता का आदर करते हुए भी पश्चिमी रंग में कदापि रँगना नहीं चाहते थे। इसी से सुधारवादी पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण से हिंदू संस्कृति की रक्षा में तत्पर थे और विभिन्न मतवाले दूसरे कवियों के साथ उन नवयुवकों की कटु आलोचना करते थे जो विदेशी सभ्यता के रंग में डूबे हुए थे।

भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख कवि 'पश्चिम की आँधी' को संदेह की दृष्टि से देखते थे। सुधारवादी कवि भी—जो पश्चिमी विचारधारा की सहायता लेने में तत्पर थे—यह नहीं चाहते थे कि हिंदू-समाज पश्चिमी सभ्यता में इतना डूब जाय कि उसका

रूप-रंग सब छिप जाय; वे समाज की उन्नति चाहते थे, सांस्कृतिक दासता नहीं। भारतेंदु-युग के कवि समाज और संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए 'हिंदूपन', 'निजत्व', 'अपन पौ' और 'भाषा, भोजन, वेष' की ओर संकेत कर हिंदुओं को बार-बार चेतावनी देते थे। वे चाहते थे कि हिंदू अपने रूप को पहचान लें, जिससे उन्हें दूसरे बहकाकर अपनी संस्कृति से विमुख न कर सकें। ऐसे उद्गार भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख कवियों में मिलते हैं।

बालमुकुंद गुप्त को राजनीतिक दासता से अधिक सांस्कृतिक दासता खटकती है। हिंदुओं को अपनी संस्कृति, आचार-विचार और रहन-सहन से विमुख देखकर इनको बड़ा संताप होता है। ये हिंदू-संस्कृति में दृढ़ विश्वास के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। 'भाषा, भोजन, वेष' और 'हिंदूपन' पर ये अधिक जोर देते हैं—

"बहु दिन बीते राम प्रभु खोयो अपनो देस।
खोवत हैं अब बैठ के भाषा भोजन वेस॥
दया करो यह आस पुजाओ हमरे मन की।
सुध न बिसारें कबहुँ तुम्हारे श्रीचरनन की॥
सदा रखें दृढ़ हिय महँ निज साँचो हिन्दूपन।
घोर विपत हूँ परे डिगै नहिं आन ओर मन॥
निज धर्म कर्म व्रत नेम नित दृढ़ चित ह्वै पालन करैं।
नहि आपनपौ बिसराय कै आन ओर सपनेहु ढरैं॥"

'हिंदूपन' और 'अपनपौ'—सामाजिक संस्कृति के प्रधान पक्ष—पर अंबिकादत्त व्यास भी जोर देते हैं। ये पश्चिमी सभ्यता में रँगे उन युवकों की कड़ी आलोचना करते हैं जिनको अपने

(१) स्फुट कविता—'राम-विनय', पृष्ठ १६।

समाज की रहन-सहन पर कोई श्रद्धा नहीं है। भारतीय रीति-नीति के प्रति इनका प्रेम है—

"पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर ;
भाल चरबी चरचि लवेंडर को लगाइ फिर।
नई विदेसी विद्या ही को मानत सर्वस ;
संस्कृत के मृदु वचन लगत इनको अति कर्कस।
अँगरेजी हम पढ़ी तऊ अँगरेज न बनिहैं ;
पहिरि कोट पतलून चुरुट के गर्व न तनिहैं।
भारत ही में लियो जनम भारत ही रहिहैं ;
भारत ही के धर्म कर्म अरु विद्या गहिहैं।"[1]

राधाचरण गोस्वामी पश्चिमी विचारधारा की वृद्धि पर अत्यंत चिंतित हैं। 'पश्चिमी आँधी' से अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए ये सहायता की याचना करते हैं—

"मैं हाय हाय दै धाय पुकारों रोई, भारत की डूबी नाव उबारो कोई।
उड़ गए वेद के बादवान अति भारे, ऋषिजन रस्सा नहिं रहे खैंचनेहारे।
यामैं चिंतामणि सदृश रत्न की ढेरी, यामैं अमृत सम औषधी फेरी।
बह चली सकल यूरोप हाय मति भोई, भारत की डूबी नाव उबारो कोई।"[2]

इस सांस्कृतिक संघर्ष में सुधारवादी कवि अपरिवर्तनवादियों से पीछे नहीं थे। इन कवियों ने भी आपत्तिजनक पश्चिमी विचारों और रहन-सहन का विरोध किया है। सुधारवादी कवियों में सब से उदार 'प्रेमघन' ने पश्चिमी सभ्यता में रँगे उन नवयुवकों की आलोचना की है जिन्हें हिंदू नाम से लज्जा होती है। विदेश की सांस्कृतिक दासता इनको सब से अधिक व्यथित करती है। ये अपने आचार और भाषा से प्रेम करने को कहते हैं—

(१) मन की उमंग—'भारतधर्म'। (२) भारतेंदु—खंड ८, पृष्ठ ८।

"पढ़ि विद्या परदेस की बुद्धि विदेसी पाय।
चालचलन परदेश की गई इन्हें अति भाय॥
अँगरेजी बाहन बसन, वेष रीति औ नीति।
अँगरेजी रुचि गृह सकल वस्तु देस विपरीत॥
सबै विदेसी वस्तु नर गति रति रीति लखात।
भारतीयता कछु न अब भारत मैं दरसात॥
हिंदुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात।
भारतीय सब वस्तु ही सों ये हाय घिनात॥

❀ ❀ ❀ ❀

अपनी जाति वस्तु अपने आचार देश भाषा से।
रक्खो प्रीति रीति निज धर्म वेष पर अति ममता से॥"[1]

हरिश्चंद्र भी सांस्कृतिक रक्षा में प्रयत्नशील हैं। राम, कृष्ण और युधिष्ठिर से हिंदू-संस्कृति के रक्षक आज नहीं हैं। कवि ईश्वर से 'आर्यमग' (या आर्यसंस्कृति) की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है—

"कहँ गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर;
चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर।
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गए किते गिर;
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर।
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो धूरहि धूर दिखात जग;
जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपनो आर्यमग।"[2]

---

(१) आर्याभिनंदन, पृष्ठ ५।
(२) भारतेंदु-ग्रंथावली—प्रबोधिनी, पृष्ठ ६८४।

प्रतापनारायण मिश्र को निजत्व का बड़ा ध्यान है। ये समाज के 'निजता' खोने पर चिंतित हैं। ईश्वरीय सहायता की याचना ये भी करते हैं—

"सब विधि निजता तजि जन-समाज सुख सोयो।
मूरख न सुनहिं बुध-वृंद बहुत दुख रोयो।
आस कौन की काहि हाय जहँ निजता सबनि गँवाई है।
दीनबंधु बिन दीन को दीसत कोउ न सहाई है॥"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपरिवर्तनवादी, सुधारवादी और आर्यसमाजी कवियों में कोई विशेष भेद नहीं है। इन सबका ध्येय एक ही है। चाहे सुधारवादी हों या अपरिवर्तनवादी, ये कवि प्रसन्नतापूर्वक समाज के हित में प्रयत्नशील हैं।

भारतेंदु-युग के सामाजिक जीवन की यह संक्षिप्त रूप-रेखा मात्र है जो उस समय के कवियों की रचना में अंकित है। कवि तत्कालीन सामाजिक समस्याओं से उदासीन नहीं हैं। इन्होंने किसी भी कटु सत्य के छिपाने की चेष्टा नहीं की। सामाजिक सुधार के विषय—वर्णाश्रम धर्म का पालन, अशिक्षा-निवारण, बालविवाह, विधवाविवाह, समुद्र-यात्रा, गोरक्षा आदि—इन कवियों के उत्साह, ध्येय और कार्यक्षेत्र की सूचना देते हैं।

कवियों के उपर्युक्त उद्गार कविता और जीवन के घनिष्ठ संबंध की स्थापना की ओर संकेत करते हैं। भारतेंदु-युग की कविता में पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति मिलती है। कवियों में सामयिक जीवन के प्रति उत्साह और स्फूर्ति है। उनमें उदारता और समानुभूति है। इन कवियों को समय की वास्तविकता का ज्ञान है और इनकी मनोदृष्टि यथार्थवादिनी है।

(१) मन की लहर।

भारतेंदु-युग में कवियों का सामाजिक जीवन के प्रति उत्साह हिंदी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण घटना है। सामाजिक कविता बहुत दिनों से उपेक्षित थी। कवि इस ओर से उदासीन हो गये थे। भारतेंदु-युग के पूर्व रीतिकाल में सामाजिक कविता का अभाव सा था। भारतेंदु-युग के कवियों ने पूर्ण जीवन को स्वीकार किया और उसके विविध पक्षों पर ध्यान दिया। भारतेंदु-युग हिंदू-समाज के जीवन का बड़ा महत्त्वपूर्ण समय था। इसी समय समाज में नवजीवन का संचार हुआ और सामाजिक उन्नति का श्रीगणेश हुआ। इस समय की कविता अपने कर्तव्य से विमुख नहीं रही। सामाजिक उन्नति में भारतेंदु-युग की कविता ने पूरा योग दिया। इस युग की कविता का महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की झलक मिलती है और उसमें उस समय के कवियों का सामाजिक प्रयास और सामाजिक मनोदृष्टि रक्षित है।

धार्मिक कविता

भारतेंदु-युग की धार्मिक कविता में भक्तिकाल की परंपरा का निर्वाह मात्र हुआ है। इस समय के कवियों में इस दृष्टि से ऐसी स्वतंत्र उद्भावना के दर्शन नहीं होते जिससे इनकी कविता अन्य काल की धार्मिक रचनाओं से अलग की जा सके। भारतेंदु-युग के कवि, जनता की धार्मिक भावना से रंजित होकर, राम और कृष्ण की स्तुति प्राचीन भक्त-कवियों के समान ही करते थे। पुराने भक्त कवियों के सदृश इन कवियों ने भी अपने उपास्यदेव के प्रति अपनी कामनाएँ निवेदित* की हैं। इनकी भक्तिपूर्ण

---

*"ब्रज के लता पता माहिं कीजै।
गोपी पद-पंकज पावन की रज जामै सिर भीजै।
आवत जात कुञ्ज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे श्रीराधे मुख यह बर हरीचंद को दीजै॥"
—हरिश्चंद्र (प्रेममालिका, भारतेंदु-ग्रंथावली, पृष्ठ ६५)।

"स्याम घन सम सोभित घनस्याम।
दामिनी सी राधारानी सँग मोहत मन अभिराम।
भव-भय-ताप हरहु प्रभु मेरे सुखदायक छबिधाम।
बरसहु प्रेम प्रेमघन हिय निज, अंबर आठहु जाम॥".
—प्रेमघन (नागरी-नीरद, १८ जुलाई, १८९५)।

"जयति जयति जय रामचन्द्र रघुवंश विभूषन।
भक्तन हित अवतार धरन, नाशन भवदूषन॥
जयति भानुकुल-भानु कोटि ब्रह्मांड प्रकाशन।
जयति जयति अज्ञान मोहनिशि तिमिर विनाशन॥

रचनाओं में विनय और आत्म-समर्पण की भावना है। इनमें आत्मीय राग और भावातिरेक अपने उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। मुक्तक गीतों के सौंदर्य से समन्वित होते हुए भी इन रचनाओं में कोई नवीनता नहीं है, क्या भावना और क्या अभिव्यंजना किसी में ऐसी विशेषता नहीं जिससे इस समय की धार्मिक कविता को दूसरी कोटि में रखा जा सके।

अन्य पक्षों की नूतनता की भाँति काव्य के धार्मिक पक्ष में इन कवियों की उपदेश की प्रवृत्ति में कोई नवीनता नहीं है। आनंदप्रद न होते हुए भी ये कवि नैतिकता का पाठ पढ़ाने का लोभ नहीं संवरण कर सके हैं। इनकी उपदेशात्मक रचनाएँ कबीर आदि उपदेशकों की नीति-संबंधिनी रचनाओं से भिन्न नहीं हैं। कबीर आदि की भाँति भारतेंदु-युग के कवि भी संसार की क्षणिकता का राग अलापते हैं❀।

जय निज लीलावश वपुधरन, करन जगत कल्यानमय।
जय कर धनुशर तूनीर कटि सियासहित श्रीराम जय ॥"
—बालमुकुंद गुप्त (स्फुट कविता, 'रामस्तोत्र', पृष्ठ १)।

❀"साँझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है।
खिल खिलकर सब फूल बाग में कुम्हला कुम्हला जाते हैं।
तेरी भी गति यही है गाफिल यह तुझको दिखलाते हैं ॥"
—हरिश्चंद्र (भारतेंदु ग्रंथावली, पृष्ठ २९९)।

"जो विषया संतन तजी ताहि मूढ़ लपटात।
जो नर डारत वमन करि स्वान स्वाद सों खात ॥
स्वान स्वाद सों खात ज्ञान बिनु बुरो न बूझै।
तू ताहू ते मूढ़ पाइ नर-तन नहिं सूझै ॥

फिर भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की दृष्टि इन कवियों की विशेषता है। भारतेंदु-युग के कवि धार्मिक झगड़ों से बचना चाहते हैं, क्योंकि इनको धार्मिक वाद-विवाद में कोई सार नहीं दिखाई देता। इन कवियों का दृढ़ विश्वास है कि समस्त धर्मों के मूल सिद्धांत एक हैं और सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर संकेत करते हैं। प्रेम ही इन कवियों का धर्म है।

जैन-मंदिर में जाने के कारण हरिश्चंद्र की कटु आलोचना हुई थी। अधिक विरोध होने पर इन्होंने 'जैन-कुतूहल' की रचना की, जिसमें प्रेम की अनन्यता का प्रतिपादन किया गया है। सच्चे प्रेम की दृष्टि से कोई भी धर्म पराया या विदेशी नहीं है। इनका कहना था कि ईश्वर-प्राप्ति केवल प्रेम से होती है। यदि धार्मिक झगड़ों से ही ईश्वर मिल सकता तो फिर कठिन खोज की आवश्यकता न होती—

"खंडन जग में काको कीजै।
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै॥
जो पै झगरेन में हरि होते।
तौ फिर श्रम करिकै उनके मिलिबे हित क्यों सब रोते॥

देखि जगत व्यवहार तऊ आवत नहिं हृदया।
बचिकै रहु तासों अनर्थ को जड़ जो विषया॥"

—राधाकृष्णदास—(राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृष्ठ ४०)।

"जागो भाई जागो रात अब थोड़ी।
काल चोर नहिं करन चहत है जीवन-धन की चोरी।
सत्य सहायक स्वामि सुखद से लेहु प्रीति जिय जोरी।
नाहिं तु प्रिय प्रताप हरि कोउ बात न पूँछिहि तोरी॥"

—प्रतापनारायण मिश्र (प्रेमपुष्पावली, 'वसंत')।

पियारो पइये केवल प्रेम में।

नाहिं ज्ञान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम कुल नेम में॥"[1]

'प्रेमघन' में भी धार्मिक उदारता है। हरिश्चंद्र के समान इनकी भी धार्मिक वाद-विवाद में कोई रुचि नहीं है। सब धर्मों की एकता में विश्वास रखने के कारण ये दूसरों के खंडन-मंडन से दूर रहने को कहते हैं—

"खंडन-मंडन की बातें सब करते सुनी सुनाई।

गाली देकर हाय बनाते बैरी अपने भाई॥

है उपासना-भेद न उसके अर्थ और बिस्तारो।

सभी धर्म के वही सत्य सिद्धांत न और बिचारो।."[2]

मतमतांतरों के झगड़ों से राधाकृष्णदास भी क्षुब्ध हो उठे हैं। वे ईश्वर से शंकर के समान अवतार लेने की प्रार्थना करते हैं, जिससे धार्मिक विवाद सदा के लिए शांत हो जाय और हिंदू-जाति का कल्याण हो—

"करुणामय शंकर स्वामी सम पुनि भूतल वपु धारो।

मेटि सकल उपधर्म अमित विश्वासहिं जड़ सों जारो॥

थापि प्रेम मन भक्ति अचल साँचे गुन हिंदुन दीजै।

मूल धर्म निर्धारित करि प्रभु त्राहि कल्यानहिं कीजै॥"[3]

प्रतापनारायण मिश्र भी इसी विचार के हैं। इनको निस्सार झगड़ों में कोई आनंद नहीं मिलता। ये सच्चा ईश्वरभक्त बनने की प्रार्थना करते हैं। ये अन्य कवियों से आगे बढ़कर, सन्मार्ग में संसार के नेतृत्व के लिए, ईश्वर से पौरुष की याचना करते हैं—

---

(१) 'जैन-कुतूहल', भारतेंदु-ग्रंथावली, पृष्ठ १३६।

(२) आनंद-अरुणोदय।

(३) राधाकृष्ण-ग्रंथावली, पृष्ठ ६६।

"झूठे झगड़ों से मेरा पिंड छुड़ाओ।
मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ।"

"तब सहाय तें देहिं सबन को हम सुपंथ में साथ।
वह पौरुष दीजिये कि जग को पकरि सकैं हम हाथ॥"[१]

विचार-स्वातंत्र्य और भ्रातृत्व की भावना की झलक इनकी धार्मिक रचना में मिलती है। अंधानुकरण इन्हें अप्रिय है। इनकी आंतरिक अभिलाषा है कि लोग अपने धर्म-कर्म से अभिज्ञ हों—

"निज धर्म भली विधि जानैं, निज गौरव को पहिचानैं।
आग्रह अनैक्य को छोड़ैं, मुख भेंड़-चाल से मोड़ैं।
समुझैं सब को सब भाई, सब के सब होयँ सहाई॥"[२]

आधुनिक कविता में मानवतावाद (Humanitarianism) की प्रवृत्ति का संबंध इन पंक्तियों से जोड़ा जा सकता है, यद्यपि ऐसा करना बहुतों की दृष्टि में क्लिष्ट कल्पनामात्र होगी। इतना निर्विवाद है कि भारतेंदु-युग में भक्तिकाल की उपासना की पद्धति और आदर्श का चलन था और व्यापक शक्ति के रूप में धर्म की सूक्ष्म भावना का अभाव था। आधुनिक काव्य में धर्म की भावना सत्य की खोज और मानवतावाद के प्रेरक के रूप में होती है। भारतेंदु-युग की धार्मिक कविता में ऐसी व्यापक उदार भावना के दर्शन बहुत कम मिलते हैं। सच तो यही है कि भारतेंदु-युग के कवियों की धार्मिक मनोदृष्टि में बहुत कम नवीनता और आधुनिकता है।

———

(१) प्रेमपुष्पावली—'वसंत'। (२) मन की लहर।

भाषा, छंद और प्रक्रिया

इस क्षेत्र में भारतेंदुयुगीन कवियों का कोई नवीन और स्वतंत्र प्रयास नहीं दिखाई देता। इस समय के कवियों ने किसी स्वतंत्र शैली की उद्भावना न कर रीतिकाल की प्रक्रिया और प्रणाली को ही अंगीकार किया। भाषा, छंद और अभिव्यंजना की पद्धति में रीतिकाल की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। भारतेंदु-युग की काव्यभाषा भक्तिकाल तथा रीतिकाल की प्रचलित और समादृत व्रजभाषा है, यद्यपि गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली मान्य थी।

भारतेंदु-युग के कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए, परंपरा से चले आते हुए छंदों का ही उपयोग किया है। इनमें छंद सौंदर्य का नवीन उपक्रम नहीं लक्षित होता। भक्ति तथा रीति काल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा और छप्पय इस युग में भी प्रचलित थे। इन छंदों में सवैया तथा रोला इस समय के कवियों को अधिक प्रिय थे। इन दो छंदों के उपयोग में किंचित स्वतंत्र उद्भावना के दर्शन होते हैं। प्रेम तथा शृंगार की अधिकांश कविता, सवैया (और कहीं-कहीं कवित्त) छंद में लिखी गई है और आधुनिक विषय रोला छंद में वर्णित हैं। भारतेंदु-युग में नवीन छंदों की कल्पना नहीं हुई।

तत्कालीन लोक-साहित्य (Popular Literature) के अध्ययन से भारतेंदु-युग में नवीन छंदों का अभाव इतना नहीं खटकता। शुद्ध साहित्यिकों से दूर रहकर भी साधारण जनता भिन्न-भिन्न छंदों में अपनी भावना व्यक्त कर लोक-साहित्य की वृद्धि कर रही थी। इनके प्रमुख छंद लावनी और कजली में

प्रयुक्त हुए हैं और इसीसे इनकी रचनाएँ लावनी तथा कजली के नाम से प्रसिद्ध और संगृहीत हैं।

कजली बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और खंगबहादुरमल को विशेष रूप से प्रिय थी। लावनी का क्षेत्र अधिक व्यापक था। इस समय लावनी का जनता में इतना आदर था कि भारतेंदु-युग के प्रमुख कवि भी इस ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने भी लावनी छंद में कविताएँ लिखीं। हरिश्चन्द्र, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र आदि लावनी के प्रेमी थे। इसलिए छंदों के संबंध में इतना और कहा जा सकता है कि भारतेंदु-युग में लावनी छंद का काव्यक्षेत्र में समावेश हुआ। यद्यपि इसे इनका नवीन आविष्कार नहीं कह सकते तथापि इसके प्रयोग से काव्यक्षेत्र में कुछ नूतनता अवश्य आ गई।

अभिव्यंजना के क्षेत्र में केवल रीतिकाल की परंपरा का पालन हुआ है। रीतिकालीन प्रतीक, कल्पना तथा अलंकार का प्रयोग भारतेंदु-युग में भी हुआ है। अधिकांश कवियों ने इनका उपयोग भावाभिव्यक्ति के लिए न कर रूढ़ि के निर्वाह के लिए किया है। इसका यह आशय नहीं है कि भारतेंदु-युग के कवि अभिव्यंजना की कला से अनभिज्ञ थे। क्योंकि हरिश्चंद्र की लोकप्रियता का प्रधान कारण उनकी सरल और प्रभावमयी शैली थी। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि इस युग के कवियों ने भावाभिव्यक्ति की नई सौंदर्यपूर्ण प्रणाली की सृष्टि नहीं की। वे नवीन भावना को प्राचीन वेशभूषा से सजाकर ही संतुष्ट रहे।

भाषा की दृष्टि से इस युग में शब्दशोधन की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अप्रयुक्त, रूढ़ और प्रभावहीन शब्दों का बहिष्कार और कोरी सजावटवाले अर्थहीन शब्दों का तिरस्कार हुआ। प्राकृत और व्रजभाषा की बोलचाल से उठे हुए अनेक शब्द त्याग

दिए गए। काव्यभाषा में चले आते हुए शक्तिहीन और फालतू शब्द निकाल बाहर किए गए। इस प्रकार शैली और काव्य-भाषा में बहुत कुछ सरलता, प्रवाह और सजीवता आ गई। यह प्रवृत्ति हरिश्चंद्र की शैली में दिखाई पड़ी। इनका प्रभाव अन्य कवियों पर भी पड़ा। फलस्वरूप इस समय की शैली में स्वच्छता आ गई।

भारतेंदु-युग की काव्यभाषा ब्रजभाषा है, यद्यपि कभी-कभी खड़ी बोली में भी कविताएँ लिखी जाती थीं। अधिकांश लावनियों की भाषा खड़ी बोली है, कभी-कभी एक ही कविता में दोनों भाषाओं का मेल भी दिखाई पड़ता है। इसका एक कारण तो कवियों में भाषा पर विस्तृत अधिकार का अभाव है और दूसरा कारण गद्य का प्रभाव है। भारतेंदु-युग गद्य और पद्य दोनों की उन्नति के लिए विख्यात है। इस युग में खड़ी बोली का कथाकाव्यों (निबंधों, नाटकों और उपन्यासों) में अत्यधिक प्रयोग हुआ। समाचारपत्रों का आविर्भाव तथा उनका सम्यक् प्रचार भी खड़ी बोली के प्रभाव को व्यापक बनाने में सहायक हुआ। गद्य की भाषा धीरे-धीरे जीवन के दैनिक-कार्यक्रम की भाषा बन रही थी। अतः पद्य की भाषा पर गद्य की भाषा का प्रभाव अनिवार्य था।

इस प्रकार भारतेंदुयुगीन साहित्य में दो भाषाओं का राज्य दिखाई देता है। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का और पद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का आधिपत्य था। एक ही साहित्य में दो भाषाओं का प्रयोग कुछ लोगों को विलक्षण प्रतीत होता था। गद्य की भाषा से पद्य की भाषा का भिन्न होना लोगों को खटकने लगा था। ऐसी अवस्था रूढ़ि का बहिष्कार करनेवाली भारतेंदु-युग की आधुनिकता के प्रतिकूल थी। इसलिए भारतेंदु-युग के

अंतिम वर्षों में खड़ी बोली को काव्यभाषा बनाने का आंदोलन आरंभ हुआ। इस आंदोलन को पूरी सफलता द्विवेदी-युग में जाकर प्राप्त हुई।

भारतेंदु-युग भाषा और शैली की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस समय के कवियों का ध्यान भाषा की ओर न होकर नवीन भावना की ओर अधिक था। अतः इस युग का वास्तविक महत्त्व तत्कालीन नवीन चेतना की जागर्ति है।

भाषा और भावाभिव्यक्ति का सौंदर्य आगे चलकर द्वितीय उत्थान के कवियों में दिखाई पड़ता है। भारतेंदु-युग ने पद्य को नूतन विचार-धारा प्रदान की और द्विवेदी-युग ने नवीन भाषा दी।
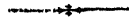
उपसंहार

पूर्व प्रकरणों में भारतेंदु-युग की काव्यगत प्रवृत्तियों के विश्लेषण की चेष्टा की गई है। उनकी गति-विधि तथा विकास के दिखाने का किंचित् प्रयास किया गया है। प्रथम उत्थान की कविता में परिवर्तन के जो लक्षण दिखाई पड़े थे उनका संक्षिप्त विवरण तो दिया जा चुका, अब हिंदी-काव्य-साहित्य में भारतेंदु-युग की देन पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए।

भारतेंदुयुगीन काव्य की सबसे बड़ी देन कवियों की यथार्थ-वादिनी मनोदृष्टि है। कविता का संबंध-सूत्र जीवन से फिर जोड़ दिया गया। काव्य का क्षेत्र अब व्यापक हो गया। इससे परंपरा से गृहीत काव्य-विषयों का एकाधिपत्य बहुत कुछ दूर हुआ और कवियों को अपनी कविता के विषय चुनने में उनकी रुचि के अतिरिक्त और कोई प्रतिबंध नहीं रहा। इस प्रकार अब कोई विषय स्वयं काव्य के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं रह गया था। कवि अब छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं में सौंदर्य की खोज के लिए स्वतंत्र थे। इससे कवियों द्वारा संपूर्ण जीवन का कोई पक्ष छूटने नहीं पाया। कवि देशव्यापी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं से पूर्णतया परिचित थे। इन कवियों ने जनता की भावना को वाणी प्रदान की। कवि अब केवल प्रेम तथा भक्ति के गीतों से संतुष्ट न होकर जीवन-सागर का स्वयं अवगाहन कर अपने मधुर तथा कटु अनुभवों का सच्चा वर्णन कर रहे थे। ये कवि जीवन की सर्वाङ्गीणता का हृदय से अभिनंदन कर रहे थे। कवि अपने चारों ओर घटित होनेवाली दैनिक घटनाओं से

अनभिज्ञ नहीं थे। ये इनसे प्रभावित होकर अपनी संमति तथा विचारों का प्रकाशन करते रहते थे। इन्होंने अपने समय की पूर्ण अभिव्यक्ति की। इसमें कोई संदेह नहीं कि कविता अपने समय के उन्नतिशील तत्त्वों के साथ आगे बढ़ रही थी। इस समय की कविता नवजीवन की संदेशवाहिका तथा रीतिकालीन रूढ़ि से स्वच्छंदता का पूर्ण आभास देनेवाली थी।

प्रथम उत्थान की कविता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए भी उसके भावाभिव्यंजन के दोषों को मानना पड़ता है। भारतेंदु-युग की नवीन कविता में रीतिकाल की शृंगारी कविता की मधुरता नहीं है। इसमें प्रेमगीतों की कलात्मकता नहीं दिखाई देती। अधिकतर कविता कल्पना से हीन है और पदावली में कर्णकटुता तथा कर्कशता विद्यमान है। कलापक्ष की आवश्यक योजना के अभाव में वह कोरी अखबारी कविता हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी आधुनिकता कवि के अंतर का उद्गार न बनकर समय की आवश्यकता का परिणाम है। यह संदेह हो सकता है कि प्रचार तथा प्रभावोत्पादकता के लिए कोरा गद्य छंदोबद्ध कर दिया गया है।

प्रथम उत्थान, नवयुग का आरंभमात्र था। इसलिए हमें इस समय की कविता में उस कलात्मकता के दर्शन नहीं होते जो कालांतर में सतत परिश्रम के अनंतर प्रकट हुई। काव्य-विषयों के सर्वथा नवीन होने के कारण, इनकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए समय की आवश्यकता थी। इसी से कवि नवीन कविता में रीतिकाल के प्रेमगीतों की कलाकुशलता दिखाने में असमर्थ रहे। परंपरा से प्राप्त वीरकाव्य का ओज तथा उत्साह भी इसमें अधिक न आ सका।

कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति के अभाव के साथ-साथ जनता भी

नवीन कविता का पूर्णतया स्वागत करने के लिए पहले से प्रस्तुत नहीं थी। वर्तमान तथा भविष्य दोनों को भूलकर जनता प्रेमगीतों के सुनने में लीन थी। इसलिए जब देशवासियों के सामने ऐसी कविता उपस्थित की गई, जिसका प्रधान विषय आधुनिक काल की समस्याओं का—जिनसे जनता उदासीन थी—निरूपण था तो वे अपने को शीघ्र इसके अनुकूल न बना सके। वे केवल आधुनिकता का गीत गानेवाली और जीवन की कटुता से त्राण पाने के लिए कल्पना-लोक का सर्जन करनेवाली कविता में कोई सौंदर्य न पा सके। इस प्रकार काव्याभिव्यक्ति का अभाव तथा विचारों की मौलिकता दोनों प्रथम उत्थान की कविता में कर्कशता तथा कलाहीनता के कारण बने। पर इसकी मीमांसा करते हुए यह न भूलना चाहिए कि इस युग में नवयुग का श्रीगणेश मात्र हुआ और इस युग की कविता के दोष आरंभिक अवस्था के अभाव मात्र हैं।

नवीन कविता में कलात्मकता के अभाव तथा प्रभावहीनता का एक और महत्त्वपूर्ण हेतु था। प्रथम उत्थान विचारों का संक्रांतिकाल था। इस समय नवीन कविता के साथ-साथ रीतिकाल की शृंगारी कविता का भी निर्माण हो रहा था। भारतेंदु-युग के अधिकांश कवियों की इस क्षेत्र में अधिक प्रसिद्धि थी। यद्यपि नवीन कविता की आधुनिकता का प्रसार धीरे-धीरे हो रहा था तथापि यह इतना व्यापक नहीं हुआ था कि परंपरा तथा रूढ़ि का साहित्य के क्षेत्र से सर्वथा निराकरण हो जाता, शृंगारी कविता का इन कवियों पर पर्याप्त प्रभाव था। कवि नवीन विचारा को पचाकर पूरी तरह से अपना नहीं बना सके। फलतः ये इनकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति में असफल रहे।

नवीन कविता का अखबारी बाना भी सहज ही समझ में आ

जाता है। भारतेंदु-युग में गद्य का प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ। निबंधों, नाटकों और उपन्यासों का लेखन आरंभ हुआ। इस समय समाचार-पत्रों की धूम मची। यथार्थ में इस समय का गद्य पद्य से अधिक समृद्धिशाली है। वास्तव में यह गद्य का युग था और यह लोगों के विचार के प्रकाशन का माध्यम बन गया था। इसलिए इस समय की कविता का गद्य के प्रभाव से बचना असंभव था। एक बात और थी, इस समय के सभी प्रमुख कवि पत्रकार थे। इन सब के अपने-अपने समाचारपत्र थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने चार समाचारपत्रों का संपादन किया। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' दो समाचारपत्रों के संपादक थे। इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी भी पत्रों का संपादन करते थे। नवीन भावनाओं की अधिकांश कविताएँ इन्हीं में प्रकाशित हुई थीं। कविसंमेलनों तथा कवि-समाजों में इन रचनाओं का पाठ नहीं होता था। इसी से कवियों ने इनको अधिक काव्यपूर्ण बनाने की विशेष चिंता नहीं की। नवीन कविताओं का अखबारीपन इसी परिस्थिति का स्वाभाविक परिणाम है।

भारतेंदु-युग के कवियों के सामने एक बड़ी कठिन परिस्थिति थी। इनकी भाषा का अस्तित्व ही संकट में था। हिंदी भाषा के विरोधी इसकी प्रतिदिन होती हुई उन्नति देखकर जल रहे थे और इसके मार्ग में कठिनाइयाँ उपस्थित कर रहे थे। उन्होंने विद्यालय तथा न्यायालय में हिंदी भाषा के प्रवेश का विरोध किया। इससे वाद-विवाद का वेग बढ़ा और इन कवियों को इसमें बरबस उतरना पड़ा। कवि इस समय हिंदी को अपमानित होने से बचाने के लिए जनमत जागरित करने में व्यस्त थे। यदि हम उस समय के हिंदी के समाचार-पत्रों को देखें तो स्पष्ट ज्ञात

हो जायगा कि कवि इस वाद-विवाद में कितने संलग्न थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इसमें विशेष याग दिया। यद्यपि हरिश्चंद्र अपने पक्ष की सफलता देखने को जीवित नहीं रहे तथापि उनका पक्ष अंत में सतत प्रयत्न के अनंतर विजयी हुआ। हिंदी को विद्यालयों तथा न्यायालयों में संमानपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। कवियों ने नागरी-आंदोलन-संबंधी अपने विचारों को पद्यबद्ध रूप दे दिया है। हिंदी की समस्या पर प्रमुख कवियों की रचनाएँ प्राप्त हैं।

उपरिलिखित कथन नवीन कविता के अभावों के परिमार्जन या छिपाने के लिए नहीं है, क्योंकि तत्कालीन कविता को किसी प्रकार के समर्थन या प्रामाणिकता की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर केवल उस समय की परिस्थिति का आभास मात्र देने की चेष्टा की गई है और यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा भाषा-संबंधी समस्याओं में इतने व्यस्त थे कि नवीन विचारों की काव्यपूर्ण सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं कर सके।

इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कवियों के उद्‌गारों में भावानुभूति की सरासर कमी है, इन उद्‌गारों में अनुभूति की सत्यता भी निस्संदेह है। भारतेंदु-युग के कवियों को अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व का पूर्ण ज्ञान है। इन कवियों ने अपनी अनुभूति का सच्चा वर्णन किया है। तत्कालीन जीवन में डूबकर इन्होंने अपने अनुभवों का निर्भय होकर वर्णन किया है। कटु सत्यों का वर्णन करने में भी ये कवि नहीं चूके हैं। इन कवियों ने अपने समय का यथार्थ चित्र खींचा है। इन कवियों का नैतिक साहस, भावानुभूति की सचाई तथा सत्य-प्रेम अत्यंत प्रशंसनीय है। इनका साहित्य पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे

साहित्य में संयम तथा वास्तविकता का समावेश हुआ। इसी यथार्थवादिता तथा वास्तविकता के प्रेम से प्रेरित होकर कवियों ने पुस्तकों से अधिक जीवन से उत्साह तथा स्फूर्ति प्राप्त की और इस प्रकार जीवन और साहित्य का निकट संबंध स्थापित किया।

व्याख्यात्मक महत्त्व के साथ-साथ इस समय की रचनाएँ कवित्व से नितांत शून्य नहीं हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमघन तथा बालमुकुंद गुप्त की देशभक्ति की रचनाएँ कवित्व से भरा-पूरी हैं। बालमुकुंद गुप्त की कविताओं के सौंदर्य से कोई असहमत न होगा। यद्यपि यह सच है कि इस समय की अधिकांश कविता न तो अधिक सरस है और न साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण स्थायी, तथापि उसमें इस समय (की साहित्यिक परिस्थिति) का सच्चा चित्र सुरक्षित होने के कारण उसका अपना अलग महत्त्व है। प्रथम उत्थान केवल साहित्यिक गतिशीलता के लिए विख्यात नहीं है। जनता के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के ढालने तथा संचालन में भी इस समय का विशेष हाथ रहा है। अतएव जीवन तथा साहित्य के अनुशीलन के लिए भारतेंदु-युग का महत्व और भी बढ़ जाता है।

द्वितीय खंड—

द्वितीय उत्थान

द्विवेदी-युग

(भाषा में परिवर्तन)

द्वितीय उत्थान

भारतेंदु-युग अथवा दूसरे शब्दों में प्राचीन आवरण में नवीन विचारों की कविता का युग समाप्त हो चला। इसके अंतिम वर्षों में काव्य के इस प्राचीन माध्यम का स्पष्ट विरोध भी लक्षित हुआ। यह आंदोलन साहित्य-सेवियों के उस दल के द्वारा प्रारंभ हुआ जो साहित्य के क्षेत्र में दो भाषाओं का उपयोग समीचीन नहीं समझता था और जो गद्य की भाषा का पद्य-क्षेत्र में भी प्रयोग चाहता था। यह दल पद्य की भाषा व्रजभाषा को हटाकर (गद्य की भाषा) खड़ी बोली को उसका स्थानापन्न बनाना चाहता था। व्रजभाषा के प्रेमियों को खड़ी बोली के समर्थकों का यह प्रयास अनुचित प्रतीत हुआ। फलस्वरूप वाद-विवाद का जन्म हुआ, जिसमें श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी आदि साहित्यिक व्यक्तियों ने योग दिया। धीरे-धीरे व्रजभाषा का पक्ष दुर्बल पड़ता गया और खड़ी बोली के समर्थक विजयी हुए। सन् १९०० में 'सरस्वती' (जिसका उद्देश्य खड़ी बोली का उत्थान था) के जन्म से यह विजय स्थायी हो गई। खड़ी बोली के पद्यभाषा बन जाने से नवीन हिंदी-कविता के नूतन उत्थान का आरंभ होता है। इसे 'द्वितीय उत्थान' कहा जा सकता है।

द्वितीय उत्थान भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस समय से कविता में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा और वह विकासोन्मुख हुई। इस युग के कवि खड़ी बोली को काव्यभाषा बन सकने के उपयुक्त सिद्ध करने में सतत प्रयत्नशील रहे। व्रज-

भाषा के प्रेमियों का यह कथन कि काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली असफल होगी, इनको मान्य नहीं था। वे कवि इसे मिथ्या प्रमाणित करना चाहते थे।

'सरस्वती' के संपादक स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस संबंध में सबसे अधिक कार्य किया। 'सरस्वती' के नाते द्वितीय उत्थान के आरंभ से ही संबंध होने के कारण हिंदी-साहित्य पर इनका अमिट प्रभाव पड़ा। इन्होंने भाषा की शिथिलता दूर कर उसे दृढ़ता प्रदान की, इन्होंने लोगों को व्याकरणसंमत और मुहावरेदार भाषा लिखने की शिक्षा दी। शिथिल रचना और खड़ी बोली में ब्रजभाषा के शब्दों के मेल की इन्होंने आलोचना की। साहित्य के इतिहास में यद्यपि द्विवेदी जी भाषा की व्यवस्था और श्रीवृद्धि के लिए ही विख्यात हैं तथापि इन्होंने कविता के क्षेत्र को भी व्यापक बनाया।

गद्य तथा पद्य की भाषा का भेद कम करने का इनको विशेष आग्रह था। इनके अनुयायियों ने इस प्रवृत्ति का ऐसा अक्षरशः पालन किया कि कविता बिल्कुल नीरस और सौंदर्यहीन हो गई। इससे कल्पना तथा सांकेतिकता दोनों का लोप हो गया। अभिव्यंजना की प्राचीन प्रणाली से नवीन भाषा में कुछ भी सरसता न आई। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता इति-वृत्तात्मक हो गई। निम्नलिखित प्रकार की रचनाएँ द्वितीय उत्थान में कई वर्षों तक चलती रहीं—

ग्रंथ-गुणगान

"विद्या तथा बुद्धिनिधिप्रधान, न ग्रंथ होते यदि विद्यमान।
तो जानते क्यों कर आज मित्र, स्वपूर्वजों के हम सच्चरित्र।
हे ग्रंथ द्रव्यादि न एक लेते; तो भी सुशिक्षा तुम नित्य देते।"[1]

---

(1) सरस्वती, जनवरी, १९०७।

इस रचना में कुछ भी काव्यत्व नहीं है। इसका शीर्षक भी महत्त्वपूर्ण है। इससे द्वितीय उत्थान में प्रचलित काव्य-विषयों का भी बहुत कुछ पता चल जाता है। कवि संतोष, आशा, साहस, दृढ़ता आदि विषयों पर कविताएँ लिखकर उनके सामान्य धर्मों पर वक्तृता देने लगते हैं, वे 'लेखकों की विशेषता', 'मेघ के गुण-दोष', 'समय,' 'प्रेम की महिमा' आदि ऐसे विषय चुनते हैं जिनसे उन्हें इनके गुण-दोष की विस्तृत विवेचना करने तथा लंबे-चौड़े उपदेश देने का अवसर मिल सके, कवियों की इस प्रवृत्ति के कारण उनकी रचनाएँ बिलकुल रूखी तथा नीरस हो गई हैं। इन रचनाओं की प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक है। इसमें काव्योपयुक्त कल्पना के स्थान पर बौद्धिक अंश की प्रधानता है। इनका सबसे बड़ा दोष है कल्पना का अभाव तथा जीवन की मानसिक गंभीरता का त्याग कर ऊपरी हल्की बातों का विवरण देने की प्रवृत्ति।

इस प्रकार हमें भाषा तथा भाव दोनों रूखे और नीरस प्रतीत होते हैं। इसमें सांकेतिकता और मधुरता का अभाव है, ऐसी परिस्थिति में इसके विरोध का जन्म होना स्वाभाविक था, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ख्याति से इस मनोभाव को और भी उत्तेजना मिली। पारसनाथ सिंह और मंगलप्रसाद विश्वकर्मा के बँगला अनुवादों की मधुर पदावली और नवीन अभिव्यंजना वाली कविताओं का इस युग की हिंदी-कविता पर बड़ा प्रभाव पड़ रहा था। इनके पाठकों के लिये हिंदी कविता में भी मुक्तक गीतों की सांकेतिकता की इच्छा अत्यंत स्वाभाविक थी। वे कोरे पद्यनिबंध के स्थान पर वास्तविक कविता चाहते थे। उनकी साहित्यिक भावनाएँ अत्यंत उच्च थीं और वे बँगला-कविताओं की मधुर पदावली और अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली का हिंदी में समावेश चाहते थे।

पाठकों की इस इच्छा की पूर्ति मैथिलीशरण गुप्त द्वारा हुई। गुप्तजी में समय को पहचानने, उसके अनुकूल चलने और परिवर्तन कर लेने की असाधारण क्षमता है। इन्होंने बँगला की मधुर पदावली और अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली का अपनी कविता में समावेश कर उनको स्वच्छंद रूप से विकसित किया। इन्होंने भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों पर अधिक ध्यान दिया। अन्य कवियों ने इनका अनुसरण किया। इस प्रकार इन्होंने केवल हिंदी के पाठकों की तृप्ति न कर मुक्तक गीत और अभिव्यक्ति की नवीन पद्धति के युग का प्रवर्तन किया, जिसका पूर्ण विकास तृतीय उत्थान की कविता में देखने को मिलता है।

द्वितीय उत्थान में प्रथम उत्थान की भाँति प्रत्येक कवि प्रत्येक निश्चित विषय पर तथा समस्त जनता के लिए कविता लिखने की चेष्टा नहीं करता। कवि अपनी रचनाओं के लिए मनोनुकूल विषय चुनने को पूर्णतया स्वच्छंद हैं। इसलिए इनकी कविता में विविधता तथा अनेकरूपता मिलती है। विषय की स्वच्छंदता से किसी कवि की अभिरुचि और मनोदृष्टि के अध्ययन में विशेष सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि नाथूराम 'शंकर' शर्मा प्रधानतया समाज के आलोचक हैं और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की सहानुभूति किसान तथा गरीबों के प्रति अत्यंत प्रबल है। कवियों ने अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुने, फलतः काव्य की श्रीवृद्धि हुई और उसका क्षेत्र व्यापक हुआ।

द्वितीय उत्थान के आरंभिक वर्षों (सन् १९००–१९१०) की कविता वर्णनात्मक तथा आख्यानात्मक दोनों ही है। कवियों ने राजा रविवर्मा के 'सरस्वती' में प्रकाशित चित्रों पर कवित्तों की रचना की। मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम 'शंकर' शर्मा आदि उत्कृष्ट कवि इन चित्रों का वर्णन किया करते थे। इस प्रकार

'सुकेशी', 'वसंतसेना', 'राधाकृष्ण' आदि चित्रों पर बड़ी मधुर और सौंदर्यपूर्ण रचनाएँ हुईं। इनमें संयम और शील का ध्यान बराबर रखा गया है। आख्यानात्मक कविता के अधिकांश विषय इतिहास से चुने गए हैं। पौराणिक कथाओं से भी कवियों को प्रेरणा प्राप्त हुई है। लाला भगवानदीन 'दीन' और मैथिलीशरण गुप्त ने इनका आधार लेकर छोटी-छोटी आख्यानात्मक कविताओं की रचना की है। 'दीन' जी की इस प्रकार की रचनाएँ भाषा के प्रवाह और ओज के लिए प्रसिद्ध हैं। कवियों ने पौराणिक साहित्य से कर्ण, दधीचि, व्यास आदि के समान संमानित व्यक्तियों को अपनी रचनाओं का वर्ण्य बनाया।

कवियों की रचनागत बाह्यार्थनिरूपिणी प्रवृत्ति अत्यंत स्वाभाविक है, क्योंकि भाषा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए अभी पूर्णतया विकसित नहीं हुई थी। स्वानुभूतिनिरूपिणी कविता के उपयुक्त भाषा में अभी तक लोच नहीं आ सका था। वर्णन तथा आख्यानों के अनुकूल भाषा में प्रवाह अवश्य आ चला था। इसलिए इस समय की बाह्यार्थनिरूपिणी कविता समय और परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल है। भाषा में लाक्षणिकता और अभिव्यंजना के क्रमशः समावेश और विकास के साथ द्वितीय उत्थान के आरंभिक वर्षों के स्थान पर इसके अंतिम वर्षों में मुक्तक गीतों की रचना होने लगी। इस समय से मुक्तक गीतों की अभिरुचि बढ़ती गई और कवि आख्यानात्मक काव्य से विमुख होने लगे। तृतीय उत्थान प्रधानतया मुक्तक गीतों का युग है।

कवियों की मनोदृष्टि में विशेष विकास और परिवर्तन लक्षित होता है। समय के साथ-साथ गंभीर अनुभूति और सचाई के भी दर्शन होते हैं। वे समाज तथा सभ्यता के संबंध में अपने

विचारों को निर्भय होकर जनता के सामने रखते हैं। कवि संसार और जीवन के अनुभवों को प्राप्त करने को सदैव उत्सुक हैं। वे मिथ्या स्वर में संसार की क्षणिकता का राग नहीं अलापते, क्योंकि उनका विश्वास है कि सुख एवं दुःख और पुण्य एवं पाप यह साथ-साथ चलते हैं। यह संसार ही स्वर्ग का द्वार है। कवियों को मानव-स्वभाव की अच्छाई में विश्वास है। उनमें आत्म-विश्वास है और वे प्रत्येक कठिनाई को हँसते-हँसते झेलने को तैयार हैं। उनके लिए यह संसार झूठा नहीं, सच्चा है। कवियों का जीवन के प्रति यह प्रेम संकुचित या स्वार्थपरायण नहीं है। कवियों को अपने चारों ओर की वस्तुओं से प्रेम है। उनको अपने देश, समाज और सभ्यता से प्रेम है। वे अपनी नवीन मनोदृष्टि के अनुकूल प्रत्येक वस्तु में सुधार और सुव्यवस्था चाहते हैं।

इस परिवर्तित मनोदृष्टि के दर्शन सर्वप्रथम हमें पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में होते हैं। इस ग्रंथ में राधाकृष्ण का ईश्वरीय रूप नहीं गृहीत हुआ। वे ईश्वर रूप में जनता की अर्चना प्राप्त न कर साधारण मनुष्यों के समान लोगों के बीच काम करते हुए जनता के पथ-प्रदर्शक बनते हैं। कर्तव्य के वशीभूत होकर कृष्ण को मथुरा जाना पड़ता है और राधा से मिलने की प्रबल इच्छा के होने पर भी वे वहीं रहते हैं। इस प्रकार राधा को कृष्ण के उदार उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अपना प्रेम दबाना पड़ता है। राधा सेवा-भाव और विश्व-प्रेम की भावना अपनाती हैं। दीन-दुखियों की सेवा तथा विश्व-प्रेम की भावना कवि की नवीनता है। इस प्रकार कवि ने नवधा भक्ति की व्याख्या में मौलिकता तथा आधुनिकता की छाप लगा दी है। इनका विचार है कि भक्ति के नौ प्रकारों का

उपयोग मातृभूमि और समाज की सेवा के लिए होना चाहिए। पौराणिक देवी-देवताओं के विषय में कवि की नवीन मनोदृष्टि लक्षित होती है। 'प्रियप्रवास' में राधा कृष्ण परंपरा से प्राप्त प्रेमिका और प्रेमी के रूप में नहीं चित्रित किए गए। कृष्ण केवल राधा के प्रेमी न बनकर देश के महान नेता के रूप में उपस्थित किए गए। इनके दैवी कार्यों का बौद्धिक समाधान किया गया।

'प्रियप्रवास' की नवीन मनोदृष्टि कभी-कभी गंभीरता से रहित भी प्रतीत होती है। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि देश-भक्ति तथा सेवा के भाव के आदर्श से प्रेरित होकर कवि ने राधा और कृष्ण के परंपरा-प्राप्त रूप में कुछ परिवर्तन उपस्थित कर सामयिक आवश्यकता की पूर्ति की है। फिर भी इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि बँगला के 'मेघनाद-वध' और 'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपक्ष में इसके चारित्रिक परिवर्तन पुराण-संमत तथा परंपरास्वीकृत भावना के प्रतिकूल नहीं हैं।

परिवर्तन का गंभीर रूप मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में मिलता है। वे भारत के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक पुनरुत्थान के पक्षपाती हैं। गुप्तजी अपने चारों ओर प्रतिदिन घटित होनेवाली घटनाओं से पूर्णतया परिचित हैं और उनसे सहानुभूति प्रकट करते हैं। उन्होंने प्रत्येक उत्तम विचार का स्वागत किया। मार्क्सवादी न होते हुए भी इन्होंने कार्ल मार्क्स की प्रशंसा में रचना की है। इसी प्रकार ये आधुनिक समय के आंदोलनों की गतिविधि से भी सुपरिचित हैं। जब हमें यह ज्ञात होता है कि इनका अँगरेजी का ज्ञान परिमित है और इस प्रकार शेष संसार से संपर्क के लिए इनके पास सीधा माध्यम नहीं है तो सामयिक विचारों से इनका परिचय और भी महत्त्व-

पूर्ण हो जाता है और इनके हृदय की उदारता की ओर संकेत करता है।

यह आधुनिकता केवल इनकी छोटी छोटी रचनाओं में ही नहीं मिलती, सर्वत्र पाई जाती है। गुप्तजी की भावना ही इससे रंजित है। रामायण की प्राचीन कथा से संबद्ध 'साकेत' में भी कवि की उदार हृदयता के कारण आधुनिकता का पुट दिखाई पड़ता है।

इस उत्थान के कवि मानवतावादी (Humanitarian Idealist) हैं। इनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक तथा उदार है और ये सत्य तथा न्याय के समर्थक हैं। ये प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान और न्यायोचित व्यवहार चाहते हैं। ये सामाजिक अत्याचार, राजनीतिक दासता तथा धार्मिक सांप्रदायिकता की समान रूप से कड़ी आलोचना करते हैं। पूर्व उत्थान के कवियों के समान इस समय के कवि केवल दुःख का चित्र खींचकर संतुष्ट नहीं होते, प्रत्युत पीड़ित जनता के साथ सहानुभूति भी प्रदर्शित करते हैं। अछूत, विधवा तथा समाज द्वारा सताए अन्य प्राणियों के प्रति इनकी पूरी सहानुभूति है। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण से पिसे हुए अशिक्षित किसान और मजदूरों के पक्ष का समर्थन इस समय के कवियों द्वारा बड़ी ओजपूर्ण भाषा में हुआ है। ये कवि इनकी दशा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण करते हैं। कवि इनकी और देश की समृद्धि के सच्चे इच्छुक हैं। कवियों की व्यापक धार्मिक भावना ने उन्हें सहिष्णु और उदार बना दिया है। कवि विश्व-प्रेम और मानवता की सेवा के पक्षपाती हैं। इन नई प्रवृत्तियों के साथ-साथ कवियों ने प्रतिदिन की घटित होनेवाली घटनाओं के प्रति उत्सुकता भी प्रकट की है। कुछ कवियों ने गत महायुद्ध की निंदा भी की है। ये शांति के समर्थक हैं।

द्वितीय उत्थान की परिस्थिति भी परिवर्तित है। कवियों की मनोवृत्ति भी बदली हुई है। देश के संबंध में हरिश्चंद्र की नैराश्यपूर्ण मनोदृष्टि इस समय लुप्त हो गई। इस युग के कवियों में आत्मविश्वास तथा दृढ़ता है। द्वितीय उत्थान में यहाँ से वहाँ तक आशा की लहर दौड़ रही है। यह आशावादिता मैथिली-शरण गुप्त के सतत उद्योग का परिणाम है, क्योंकि इनका अटल विश्वास है कि सत्य की विजय निश्चित है।

इन नई प्रवृत्तियों के साथ-साथ, भारतेंदु-युग की पुरानी प्रवृत्तियाँ भी अधिक विकसित हुई हैं। सामाजिक, धार्मिक तथा देशभक्ति की प्रवृत्तियों पर नवीन समय और नवीन कवियों की छाप पड़ी है। कवियों की नवीन मनोदृष्टि के अनुसार ये पुरानी प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ परिवर्तित हो गई हैं और यह परिवर्तन भी स्पष्ट लक्षित होता है, जिसका पूरा विवरण आगे के प्रकरणों में मिलेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय उत्थान की कविता संपन्न है और उसमें अनेकरूपता तथा विविधता है। इस समय में कुछ नवीन पक्ष और प्राचीन प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। भाषा के समान भावना भी उन्नत और विकसित हुई है।

इस उत्थान के कविता-काल और नामकरण के विषय में भी दो-चार शब्द कहना आवश्यक है। साहित्य में भाषा का परिवर्तन ही नवीन विभाजन के लिए पर्याप्त है। द्वितीय उत्थान में केवल गद्य की भाषा खड़ी बोली ही परंपरा से गृहीत काव्यभाषा की स्थानापन्न नहीं बनती, प्रत्युत कविता के विषय और कविता की शैली भी प्रथम उत्थान से भिन्न है। पुरानी प्रवृत्तियों में कतिपय विशिष्ट परिवर्तन और सभी कवियों में पाए जानेवाले कुछ

सामान्य नूतन लक्षणों के कारण नवीन विभाजन और पृथक् अध्ययन की आवश्यकता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, काव्यक्षेत्र में खड़ी बोली का विकास सन् १९०० में 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म से आरंभ होता है। हमने स्वर्गीय द्विवेदीजी और उनके अनुयायियों की इतिवृत्तात्मक शैली की प्रतिपक्षता लक्षित की, जो मैथिलीशरण गुप्त और उनके सहयोगियों की मधुर पदावलीवाले नवीन मुक्तक गीतों के समावेश से शांत हुई। इन मुक्तक गीतों का समय १९१५-१८ है। इनका पूरा विकास तृतीय उत्थान के कवियों द्वारा हुआ। द्वितीय उत्थान के कवियों से इन कवियों में विशेष अंतर है। इसलिए १९०० से १९२० के बीच के समय को 'द्वितीय उत्थान' कहा जा सकता है।

एक बात और। यह प्रतिपक्षता केवल भाषा के क्षेत्र में नहीं थी। जनता को कवियों की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और बाह्यार्थ-निरूपिणी कविता भी बहुत पसंद नहीं थी। वह उनके स्थान पर स्वानुभूतिनिरूपिणी मुक्तक-रचना चाहती थी। पारंपरिक आलंकारिक प्रयोगों के स्थान पर मुक्तक गीतों की लाक्षणिकता और सांकेतिकता से जनता बहुत प्रसन्न थी। उसने रहस्यवादी मुक्तक गीतों की प्रशंसा की। विश्लेषण की प्रवृत्ति और आख्यानात्मक काव्य की बाह्यार्थता १९१५-१८ तक लक्षित होती है। इसी समय से मुक्तक गीतों की रचना आरंभ होती है। इसलिए १९०० से १९२० के बीच के समय का 'द्वितीय उत्थान' नामकरण कर भाव और शैली की दृष्टि से भी अध्ययन हो सकता है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि साहित्य का विभाजन गणित के समान नहीं हुआ करता, क्योंकि बहुत से कवियों का

साहित्यिक जीवन एक उत्थान में आरंभ होता है और दूसरे में समाप्त होता है।

नवीन भाषावाला द्वितीय उत्थान, नवीन विचारोंवाले प्रथम उत्थान और नवीन शैलीवाले तृतीय उत्थान को जोड़नेवाली कड़ी है। ऊपरी दृष्टि से तो प्रथम उत्थान, और तृतीय उत्थान में आकाश-पाताल का अंतर है, किंतु द्वितीय उत्थान के सम्यक् अध्ययन से ही इस बात का पता चल जाता है कि तृतीय उत्थान भारतेंदु-युग का स्वाभाविक परिणाम है, इसके परिवर्तन अनायास नहीं हैं। द्वितीय उत्थान की भाषा के विकास के स्पष्ट निर्दिष्ट स्थलों से तृतीय उत्थान की भाषा और प्रक्रिया के समझने में सहायता मिलती है।

बहुतों को उत्थानों का प्रथम, द्वितीय और तृतीय कहना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि साहित्य में शाश्वत प्रवाह है। यह सच है, परंतु साहित्य का उत्थानों में विभाजन सर्वथा निष्फल नहीं है क्योंकि इसके द्वारा प्रत्येक समय की उन स्वगत विशिष्ट प्रवृत्तियों का पता लगता है जो उसे दूसरे कालों से पृथक् करती हैं। इस प्रकार नवीन कविता का प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थान में विभाजन सर्वथा उचित है क्योंकि इससे भाव, भाषा और शैली का नवीन परिवर्तित समय के अनुकूल परिवर्तन, विकास और विशिष्टता का पता लगता है, ये नवीन कविता के विकास के निर्दिष्ट स्थल हैं।

स्वर्गीय द्विवेदीजी का नाम जोड़ने से द्वितीय उत्थान में कुछ कोमलता लाई जा सकती है। द्विवेदीजी की पवित्र स्मृति में और उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए द्वितीय उत्थान को द्विवेदी युग कहा जा सकता है। एक तो द्विवेदीजी का इस उत्थान के आरंभ से ही संबंध था, दूसरे इसके विकास पर

इनका विशेष प्रभाव पड़ा। खड़ी बोली की आधुनिक शक्ति का श्रेय इन्हीं को है। इन्होंने काव्य की इस नवगृहीत भाषा को लोकप्रिय बनाया और इसे नवीन भावों और विचारों की अभि-व्यक्ति का सफल माध्यम बनने की क्षमता प्रदान की।

हरिश्चंद्र के समान ही स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की भी अत्यंत प्रसिद्धि हुई और भाषा एवं साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। हरिश्चंद्र ने हिंदी की कविता में नवीन भावना का संचार किया। द्विवेदीजी ने अभिव्यंजना के नवीन माध्यम को अपना-कर उसका विकास किया।

भाषा की समस्या

भारतेंदु-युग हिंदी-साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। इस समय की काव्यगत विशेषताओं से हम पूर्णतया परिचित हैं। कविता के समान गद्य की उन्नति भी इस समय की विशेषता है। हिंदी-गद्य की धारा का सतत प्रवाह इसी समय से आरंभ होता है। भारतेंदुयुगीन नवजागर्ति का संदेश गद्य के द्वारा हिंदीभाषी जनता को मिला, पत्र-पत्रिकाओं ने इसमें बड़ी सहायता पहुँचाई।

गद्य की भाषा खड़ी बोली थी। पत्रिकाओं के प्रसार ने इसको लोकप्रिय बना दिया, भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख कवि पत्रकार थे। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली में कहानी, उपन्यास और लेख लिखे जा रहे थे, जिन्हें जनता ने बहुत पसंद किया। क्रमशः हिंदी-गद्य अपना उचित स्थान प्राप्त कर रहा था। धीरे-धीरे भारतेंदुयुगीन गद्य की भाषा—खड़ी बोली—जीवन की भाषा बन गई।

ऐसी परिस्थिति में हिंदी-काव्य पर गद्य का प्रभाव अनिवार्य था। काव्य के क्षेत्र में हमें खड़ी बोली के प्रभाव के यथेष्ट लक्षण मिलते हैं। भारतेंदु-युग के अंतिम वर्षों में हमें व्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली की भी कविताएँ मिलती हैं। दो-एक कवियों की खड़ी बोली की रचनाएँ उद्धृत की जाती हैं। निम्नलिखित पंक्तियाँ भवदेव ने सन् १८८४ में लिखी थीं—

> "उठो अब नींद को त्यागो, बहुत सोए हो अब जागो।
> मेरी यह बात मानो, तुम दशा भारत की जानो।

सुधारो रीति-नीतों को, उठाओ सब कुरीतों को।
करो कुछ देश का उपकार कि दुखसागर से होवें पार ॥"[1]

हिंदीप्रदीप की निम्नलिखित पंक्तियाँ श्रीधर पाठक द्वारा लिखित हैं—

"यह भूमि भारती, अब क्या पुकारती।
इस्के ही हाथ से तो हुई इसकी दुर्गती।
होते हैं पाप घोर लाखों अरब करोर।
सब शोर करते हैं पचपच के मरते हैं ॥"[2]

निम्नलिखित 'पोप-छंद' की भाषा खड़ी बोली है—

"क्यों पड़े फंद में पोपों के तुम नाहक जन्म गँवाते हो।
जंजाल तजो जगदीश भजो क्यों भटके भटके फिरते हो॥"[3]

अप्रसिद्ध कवियों की (स्वर्गीय पाठकजी को छोड़कर) उपर्युक्त पंक्तियाँ गद्य की भाषा (खड़ी बोली) के सूक्ष्म प्रभाव को दिखाने के लिए जान-बूझकर रखी गई हैं। भारतेंदु-युग के प्रमुख कवियों ने भी खड़ी बोली में कविताएँ लिखी हैं जो उपयुक्त स्थान पर उद्धृत की जायँगी। खड़ी बोली का व्यापक प्रसार तथा प्रभाव देखकर कुछ साहित्यसेवी इसे काव्यभाषा का माध्यम बनाने का विचार करने लगे। भारतेंदु-युग तक काव्य की भाषा व्रजभाषा थी। यह नया दल व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना चाहता था। इसका ध्येय खड़ी बोली को हिंदी-साहित्य की एकमात्र भाषा बनाना था। इसे गद्य और काव्य के क्षेत्र में दो भिन्न भाषाओं का प्रयोग अनुचित प्रतीत होता था।

(१) शुभचिंतक, खंड १, नंबर ५। (२) हिंदीप्रदीप, खंड ८, नंबर ५। (३) भारत-दुर्दशा-प्रवर्तक, खंड ४, नंबर २।

इस उद्देश्य से सन् १८८७ में बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली की कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित किया; दो वर्ष बाद 'खड़ी बोली का पद्य' का दूसरा भाग भी जनता के सामने आया। इसके प्रकाशन के साथ बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री के समर्थकों ने खड़ी बोली को काव्यभाषा का माध्यम स्वीकार कराने के लिए आंदोलन आरंभ किया। हिंदी की बहुत सी पत्रिकाओं ने इसमें उत्साह से योग दिया। फलस्वरूप तीव्र वाद-प्रतिवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना का जन्म हुआ।

ब्रजभाषा के प्रेमियों को खड़ी बोली का यह आंदोलन बहुत खटका। भारतेंदु-युग के प्रमुख कवि राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र ने इसका तीव्र विरोध किया; हरिश्चंद्र भी ब्रजभाषा के समर्थक थे। खड़ी बोली के विषय में इन कवियों की संमति जानने और वाद-विवाद की प्रगति दिखाने के लिए दोनों दलों के पत्रों के कुछ अंश उद्धृत किए जाते हैं। राधाचरण गोस्वामी के 'खड़ी बोली का पद्य' के विषय में निम्नलिखित पत्र प्रकाशित होने पर वाद-विवाद आरंभ हुआ—

"आजकल हमारे कई भाइयों ने इस बात का आंदोलन आरंभ किया है कि जैसी हिंदी में गद्य लिखा जाता है वैसी ही हिंदी में पद्य भी लिखा जाया करे, अब इस प्रकार की भाषा में छंदरचना करने में कई आपत्ति है। प्रथम तो भाषा के कवित्त, सवैया आदि छंदों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता, तब भाषा के प्रसिद्ध छंद छोड़कर उर्दू के बैत शैर गजल आदि का अनुकरण करना पड़ता है, पर फारसी शब्दों के होने से उसमें भी साहित्य नहीं आता।...तब ब्रजभाषा के इतने बड़े अमूल्य रत्न-भांडार को छोड़कर नए कंकर पत्थर चुनना हिंदी के लिए कुछ सौभाग्य की बात नहीं, वरंच इस

ब्रजभाषाके भंडार को निकाल देने से फिर हिंदी में क्या गौरव की सामग्री रह जायगी।...[1]

...हम अनुमान करते हैं कि यदि खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू की कविता का प्रचार हो जाय, इधर गद्य में सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े, उधर पद्य में भी फारसी भरी गई तो सहज हो झगड़ा निबटा।"[2]

इन आक्षेपों के उत्तर में खड़ी बोली के समर्थक श्रीधर पाठक के पत्रों के निम्नलिखित अंश उद्धृत करना युक्तिसंगत होगा—

"घनाक्षरी सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेकों छंद ऐसे हैं कि जिनमें खड़ी बोली की कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ आ सकती है।...खड़ी बोली में कई कारणों से कविता की विशेष आवश्यकता है।...यह खड़ी बोली इतनी प्रचलित है कि भारतबर्ष के सब कंठो में थोड़ी समझी जाती है। योरोपियन इसे यहाँ की Lingua Franca समझते हैं।[3]

...ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि अनेकों अन्य बातों में उन्नति की समाई है पर अवसर नहीं, ब्रजभाषा की कविता को अब यदि अवसान नहीं तो विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है। उसको अधिक श्रम देना आवश्क नहीं, उसका बहुत सा काम खड़ी हिंदी में आजकल बहुत अच्छी तरह निकल सकता है।

.. खड़ी हिंदी की कविता में उर्दू नहीं घुसने पावेगी, जब हम

(१) हिंदोस्तान, ११ नवंबर, सन् १८८७।
(२) " १५ जनवरी, सन् १८८८।
(३) " २० दिसंबर, सन् १८८७।

हिंदी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सचेत रहेंगे तो उर्दू की ताब क्या जो चौखट के भीतर पाँव रख सके।...हिंदी के गद्य वा पद्य की उन्नति हम लोगों पर निर्भर है सरकार पर नहीं।"[1]

यद्यपि हरिश्चंद्र इस आंदोलन में योग न दे सके, तथापि वे व्रजभाषा के समर्थक थे। निम्नलिखित पंक्तियों से इसका संकेत मिलता है—

"...पश्चिमोत्तर देश की जनता की भाषा व्रजभाषा है यह निश्चित हो चुका है। मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरी चितानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चय होता है कि व्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है।"

भारतमित्र में प्रकाशित निम्नलिखित पत्र से इनके विचार और स्पष्ट हो जाते हैं—

"...प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है, देखिएगा कि इसमें क्या असर है और किस उपाय के अवलंबन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। तीन भिन्न छंदों में यह अनुभव करने ही के लिए कि किस छंद में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा कविता लिखी है। मेरा चित्त इसमें संतुष्ट न हुआ, और न जाने क्यों व्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ, इस भाषा की दीर्घ क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है।... लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा।"[2]

प्रतापनारायण मिश्र व्रजभाषा के समर्थक थे, इनके विचार भी उद्धृत किए जाते हैं—

---

(१) हिंदोस्तान, ३ फरवरी, सन् १८८८।

(२) भारतमित्र, १ सितंबर, सन् १८८१।

"...कवियों की निरंकुशता भी आकर खड़ी बोली में नहीं रह सकती। जो भाषा कवियों की मानी हुई संस्कृत के समान व्रजभाषा के नियमों में हो ही नहीं सकती वह कवियों के आदर की अधिकारी कैसे हो सकती है।...यह तो और भी हमारे लिए अहंकार का विषय है कि दूसरे देशोंवाले केवल एक ही भाषा से गद्य-पद्य दोनों का काम चलाते हैं। हमारे यहाँ एक गद्य की भाषा है, एक पद्य की...।"[1]

इसका उत्तर श्रीधर पाठक के निम्नलिखित पत्र में दिया गया है—

"...हम यह नहीं कहते कि नवीन हिंदी की कविता व्रजभाषा की कविता से मधुर होती है, हमारा तो केवल इतना ही मन्तव्य है कि नवीन हिंदी में जैसे गद्य है वैसे पद्य भी होना चाहिए। कवियों की निरंकुशता क्या शब्दों को सत्यानाश में मिलाने में होती है। निरंकुशता कथन की रीति से संबंध रखती है।...फिर हमें क्या पड़ी है जो शब्दों को बिगाड़ें।...यह कभी भूल से मत बोलना कि खड़ी हिंदी कविता के उपयुक्त नहीं है...गद्य और पद्य की भिन्न भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।"[2]

यहाँ केवल प्रसिद्ध साहित्यिकों के विचार उद्धृत किए गए हैं। इस आंदोलन में अन्य व्यक्तियों ने भी उत्साहपूर्वक योग दिया। 'हिंदुस्तान' के साथ 'ब्राह्मण', 'विहारबंधु', 'पीयूष-प्रवाह', 'भारतमित्र' आदि अनेक पत्रों ने अपने विचारानुसार खड़ी बोली आंदोलन का समर्थन या विरोध किया।

(१) हिंदोस्तान, ६ फरवरी, सन् १८८८।
(२) ,, ८ मार्च, सन् १८८८।

इस वाद-विवाद पर अपनी संमति देना व्यर्थ है। इतना कहना युक्तियुक्त होगा कि, 'हिंदुस्तान' के संपादक के निम्नलिखित विचार आज सत्य प्रमाणित हुए—

"यह बात दूसरी है कि चिरकाल के परिचय और अभ्यास तथा कुछ स्वरादिकों की कोमलता के कारण हिंदी के उस रूप की कविता जिसको हम व्रजभाषा कहते हैं हमको अधिक सुन्दर, मनोहर और प्यारी लगती है किंतु कालांतर में प्रचलित भाषा की कविता भी हमको वैसी ही मधुर और मनोहर लगेगी।"

खड़ी बोली का विरोध होने पर भी खड़ी बोली की कविताएँ प्रकाशित होती रहीं। 'श्रांत पथिक', 'हेमंत', 'वर्षा-वर्णन' आदि खड़ी बोली की कविताएँ बड़ी लोकप्रिय हुईं। खड़ी बोली के विरोधी भी इस वाद-विवाद से ऊब उठे थे और इसकी समाप्ति चाहते थे। राधाचरण गोस्वामी के निम्नलिखित पत्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है--

"...जो हो, हम इस विषय में एक बात से बहुत डरते हैं और क्षमा चाहते हैं कि हिंदी की उन्नति चाहनेवालों में परस्पर विरोध होना उचित नहीं है। इस झगड़े का आगे बढ़ना हानिप्रद है। आशा है कि संपादक हिंदोस्थान इसका प्रबंध करेंगे।"[1]

इस प्रकार धीरे धीरे खड़ी बोली का विरोध बंद हो गया। उन्नीसवीं शती के अंत के साथ इस वाद-विवाद का अंत होता है और खड़ी बोली की उन्नति और लोकप्रियता का युग आरंभ होता है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रयोग नवीन नहीं है। हिंदी-साहित्य में खड़ी बोली की बहुत सी रचनाएँ यत्र तत्र मिलेंगी। रहीम, भगवत्

(1) हिंदोस्थान, ११ अप्रैल, सन् १८८८।

रसिक, शीतल, सहचरीशरण, ग्वाल कवि, ललितकिशोरी, नजीर अकबराबादी आदि कवियों ने खड़ी बोली में कविताएँ लिखा हैं, इनमें से बहुतों का ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों पर समान अधिकार था और उन्होंने दोनों भाषाओं में बिना भेद-भाव के बड़ी मधुर रचनाएँ की हैं।

वाद-विवाद में तन्मय भारतेंदु-युग के कवियों की एक विरोधी प्रवृत्ति लक्षित होती है। खड़ी बोली के विरोधी प्रतापनारायण मिश्र तथा हरिश्चंद्र ने खड़ी बोली में बड़ी मधुर रचना की है और खड़ी बोली के समर्थक श्रीधर पाठक की ब्रजभाषा की बड़ी रोचक कविता मिलती है।

भारतेंदु-युग के अंतिम वर्षों में, खड़ी बोली के वाद-विवाद से दूर एक और दल खड़ी बोली की रोचक कविता में प्रवृत्त मिलता है। इस दल ने केवल लावनियाँ लिखी हैं और इसी लिए 'लावनीबाज' के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें 'बनारसी' की ख्याति सबसे अधिक है। इस दल के अन्य कवियों ने भी अच्छी कविताएँ बनाई हैं। 'बनारसी' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

**"द्रौपदीविपतिमें करुणानिधिको टेरी, पतिचलेविपतिमेंनाथरखो पति मेरी।
यह दुर्योधन पापी ने भलाक्या कीता, कर कपट से मेरे पाँचों पतिको जीता।
सबराज-पाट हर लिया मुझे हरलीता, श्रीकृष्ण तुम्हारी कहाँ गई वो गीता।
क्यों मेरे काज को लगाई तुमने देरी, पति चले विपतिमें नाथ रखोपतिमेरी।"[1]**

लज्ञाराम की लावनी का भी एक टुकड़ा उद्धृत किया जाता है—

**"तन मंदिल के बीच निरख क्या रंग विरंगी मूरत है,
तनक परख हृदय से तू इस मूरत की क्या सूरत है।**

(१) लावनी बनारसीदास, अहमदी प्रेस, आगरा, सन् १८८६।

माया मोह के बल में तू क्यों नाहक जन्म खोवाता है,
वृथा वाद-विवाद में पड़कर सत् गुरु को नाहिं पाता है।
निंदा अस्तुति कर करके क्यों गैरों को बहकाता है,
इसी तरह से भजन कर अपना उम्दा वक्त गँवाता है।
रामभजन में चौकस रह जो मुक्ति की तुझे जरूरत है,
तनक, परख हृदय से तू इस मूरत की क्या सूरत है।"

महादेवसिंह की गंगा पर लावनी बहुत रोचक है—

"हूँ कर्म के फंदे फँसा सुधारा कर दे, गंगा अपने गणों में प्यारा कर दे।
मदकामक्रोधलोभसे किनारा कर दे, छबिदिखाके छलबलसे छुटकाराकरदे।
भवसागर से भगवती सुधारा कर दे, श्रीगंगा बेडा पार हमारा कर दे।"

लावनी का वाङ्मय बहुत विस्तृत है, और इसमें बहुत कम छान-बीन हुई है। इस छोटे अध्याय में लावनी पर विस्तृत रूप से कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। भारतेंदु-युग में इसका स्वच्छंद विवेचन वांछनीय है। यहाँ पर केवल तीन लावनी-बाजों की कुछ पंक्तियाँ खड़ी बोली के काव्यमय स्वरूप और प्रयोग को दिखाने के लिए उद्धृत की गई हैं।

भारतेंदु-युग के बहुत से कवियों ने खड़ी बोली में कविताएँ लिखी हैं। बदरीनारायण चौधरी ने खड़ी बोली में कजलियाँ लिखी हैं, 'आनंद-अरुणोदय' खड़ी बोली की कविता है। अंबिकादत्त व्यास ने कुछ कवित्त लिखे हैं। खड़ी बोली के प्रभाव से भारतेंदु-युग का कोई कवि न बच सका। ब्रजभाषा के समर्थक हरिश्चंद्र और प्रतापनारायण मिश्र तक ने खड़ी बोली में रचनाएँ कीं। हरिश्चंद्र की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

"साँझ सबेरे पछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब एक दिन उड़ जाएँगे यह दिन चार बसेरा है।

आठ बेर नौबत बजबजकर मुझको याद दिलाती है।
जाग जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है।"[१]

प्रतापनारायण मिश्र का भी एक पद्य उद्धृत किया जाता है—
"जब से देखा प्रियवर मुखचंद्र तुम्हारा, संसार तुच्छ जँचता है हमको सारा।
इच्छा रहती है नित्य यह शोभा देखें, लावण्यमयी यह दिव्य मधुरता देखें।
यह भाव अलौकिकभोलेपन का देखें, इस छविके आगे और भला क्या देखें।
आहा यह अनुपम रूप जगतसे न्यारा, 'सार तुच्छ जँचता है मुझकोसारा।"[२]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये कवि खड़ी बोली के नितांत विरोधी नहीं थे. प्रत्युत इनका विरोध खड़ी बोली को ब्रजभाषा का स्थानापन्न बनाने की चेष्टा के लिए था। ब्रजभाषा की महत्ता अक्षुण्ण रखना इन कवियों का उद्देश्य था, इसीलिए ये खड़ी बोली के समर्थकों द्वारा दी गई चुनौती का विरोध करते थे। भारतेंदु और प्रतापनारायण की उपर्युक्त रचना विरोध के बीच खड़ी बोली की बढ़ती हुई लोकप्रियता की ओर संकेत करती है।

द्वितीय उत्थान के आरंभ में ऐसी ही वस्तुस्थिति थी। सन् १९०० तक खड़ी बोली की कविता का विरोध शांत हो गया और खड़ी बोली के समर्थक विजयी हुए। इस समय ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष की आवश्यकता थी जो काव्यभाषा खड़ी बोली को लोकप्रिय बना सकता। इस समय की वास्तविक समस्या भाषा का चुनाव न होकर नवीन भाषा (खड़ी बोली) को शक्तिशाली बनाना था।

ऐसी प्रतिभा के दर्शन हमें महावीरप्रसाद द्विवेदी में हुए।

(१) भारतेंदु-ग्रंथावली, पृष्ठ २९९।
(२) मन की लहर।

कवि न होते हुए भी द्विवेदीजी ने खड़ी बोली में रचनाएँ कीं और दूसरों को भी इसके लिए उत्साहित किया, खड़ी बोली को इनसे शक्ति और प्रतिष्ठा मिली। द्वितीय उत्थान के कई प्रमुख कवियों का साहित्यिक जीवन इनकी देख-रेख में आरंभ हुआ। इन कवियों की प्रशंसा के साथ खड़ी बोली की भी लोकप्रियता और प्रतिष्ठा बढ़ी। इस प्रकार द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को उन्नति और प्रतिष्ठा के मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया।

छंद की समस्या

ब्रजभाषा के प्रशंसक प्रतापनारायण आदि के (पूर्व अध्याय में उद्धृत) पत्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से प्रतीत होता है कि इन कवियों का खड़ी बोली कविता के विरोध का कारण छंद भी था, इन कवियों का विश्वास था कि खड़ी बोली हिंदी और संस्कृत के छंदों में नहीं ढल सकती, वह केवल उर्दू तथा फारसी छंदों के उपयुक्त है, इन कवियों को खड़ी बोली का छंद-क्षेत्र बहुत संकुचित प्रतीत होता था और इनको इसके छंदों के सौंदर्य में संदेह था, प्रतापनारायण मिश्र खड़ी बोली को उर्दू बहरों को छोड़ दूसरे छंदों के अनुपयुक्त समझते हैं और इसके लिए केवल इक्कीस अनुकूल छंदों की कल्पना कर पाते हैं।❋ राधाचरण गोस्वामी को भी इसी बात की शंका है ‡।

❋ खड़ी बोली में फारसी छंदों के सिवाय कोई छंद बनाइए तो जान पड़े कि हमारी खेलती-कूदती बोली (ब्रजभाषा) के आगे आपकी खड़ी बोली एक मिनट खड़ी रहेगी। यदि इंसाफ कोई वस्तु है तो उसका ध्यान करके कहिए कि जो भाषा लाखों छंदों में से केवल २१ व २२ छंदों में काम आ सकती है उस भाषा को कौन बुद्धिमान हिंदी-कविता के योग्य कह सकता है। (हिंदोस्तान, दिसंबर, सन् १८८७)।

‡ अब इस प्रकार की भाषा (खड़ी बोली) में छंद-रचना करने में कई आपत्ति हैं। प्रथम तो भाषा के कवित्त सवैया आदि छंदों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता और यदि किया भी जाता है तो बहुत भद्दा मालूम होता है। तब भाषा के प्रसिद्ध छंद को छोड़कर उर्दू के बैत शैर गजल आदि का अनुकरण करना पड़ता है। (हिंदोस्तान, नवंबर, १८८८)।

खड़ी बोली के लिए छंदों का चुनाव एक समस्या थी। क्या खड़ी बोली (काव्यक्षेत्र से तत्काल बहिष्कृत) ब्रजभाषा के छंदों को अपनाए या संस्कृत के छंदों को उधार ले या उर्दू, बंगाली आदि अन्य भाषाओं के छंदों की ओर आकृष्ट हो? इस विषय पर लोगों में मतभेद था और छंद-समस्या सुचारु रूप से नहीं सुलझ सकी थी, छंदों के चुनाव में यथेष्ट सावधानी और कौशल की आवश्यकता थी क्योंकि ब्रजभाषा के समर्थक खड़ी बोली के कवियों की व्यक्तिगत असफलताओं को खड़ी बोली पर आरोपित कर उसे घोषित करने को तैयार थे।

ब्रजभाषा के प्रशंसकों की आशंका के विरुद्ध खड़ी बोली के कवि छंदों के प्रयोग में पूर्ण रीति से सफल हुए। इन कवियों ने खड़ी बोली को विभिन्न छंदों में सफलतापूर्वक ढालकर उसके सौंदर्य की अभिवृद्धि की। इन कवियों पर छंदों के चुनाव में किसी प्रकार का प्रतिबंध न था। ये अपने इच्छानुसार छंदों के चुनने में स्वतंत्र थे। द्वितीय उत्थान के कवियों ने खड़ी बोली का हिंदी, संस्कृत और उर्दू के छंदों में सफलतापूर्वक निर्वाह किया।

द्वितीय उत्थान के आरंभ में हम श्रीधर पाठक को (खड़ी बोली के लिए) विभिन्न छंदों के प्रयोग में संलग्न देखते हैं। इन्होंने खड़ी बोली के लिए लावनी छंदों का उपयोग किया है, यह प्रवृत्ति केवल आरंभ में मिलती है। इसका कारण स्पष्ट है। द्वितीय उत्थान के पहले से खड़ी बोली लावनी तथा उर्दू के छंदों में सफलतापूर्वक ढलती चली आ रही थी, इसलिए खड़ी बोली की सफलता के लिए (पहले के प्रयुक्त) इन छंदों का उपयोग स्वाभाविक था। लावनी की ओर झुकाव का कारण आगरे के पन्ना लावनीबाज का साहचर्य भी था।

उर्दू छंदों का प्रयोग केवल श्रीधर पाठक ने नहीं किया है।

इनके पहले हरिश्चंद्र उर्दू के छंदों में रचना कर चुके हैं। इन्होंने लावनी और गज़लें ❀ लिखी हैं। भारतेंदु-युग के लावनीबाज़ों की चर्चा पूर्व अध्याय में हो चुकी है। द्वितीय उत्थान के विकास के साथ अन्य कवि भी इस मार्ग पर चले। उर्दू छंदों को अपनानेवालों में गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और लाला भगवानदीन 'दीन' मुख्य हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन कवियों की उर्दू छंदों की रचनाओं में खड़ी बोली प्रवाह और प्रभाव से युक्त है। मैथिलीशरण गुप्त ने भी कभी-कभी उर्दू छंदों को अपनाया है।

व्रजभाषा के प्रशंसक खड़ी बोली को उर्दू के छंदों को छोड़ अन्य छंदों के लिए अनुपयुक्त ठहराते थे। श्रीधर पाठक ने इस आक्षेप के उत्तर में ऋतुसंहार का संस्कृत-वृत्तों में (खड़ी बोली में) अनुवाद किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी संस्कृत-वृत्तों को लोकप्रिय बनाया। इन्होंने भी ऋतुसंहार का संस्कृत-छंदों में अनुवाद किया। इनकी अन्य छोटी कविताएँ भी (कवित्ते, सेवावृत्ति की विगर्हणा) संस्कृत-छंदों में लिखी गई हैं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त और रूपनारायण पाँड़े ने भी द्विवेदीजी का अनुकरण किया। इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता का श्रेय पं० अयोध्या-

---

❀ "वह नाथ अपनी दयालुता तुम्हें याद हो कि न याद हो,
वह जो कौल भक्तों से था किया तुम्हें याद हो कि न याद हो।
सुन गज की जैसी न आपदा न विलंब छिन का सहा गया,
वहीं दौड़ उठके पियादे पा तुम्हें याद हो कि न याद हो।"

—(भारतेंदु-ग्रंथावली, पृ० ५५०)।

"कभी निशा चंद उजास से धुली, कभी अनूठे जलयंत्र के भवन।
कभी मले चंदनलेप ही कभी, करें प्रिये सेवन ग्रीष्म में सुजन॥"

—(वंशस्थ)।

सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' को है, इनकी ख्याति का प्रधान स्तंभ 'प्रिय-प्रवास' संस्कृत-वृत्तों में रचित है। प्रिय-प्रवास संस्कृत-वृत्तों में खड़ी बोली का प्रथम सफल ग्रंथ है।

संस्कृत और उर्दू छंदों की सफलता की अधिक प्रशंसा नहीं की जा सकती, क्योंकि इन भाषाओं के छंद अपने नहीं कहे जा सकते। इन्हीं भावों से प्रेरित होकर द्विवेदी-युग के कुछ कवियों ने खड़ी बोली के लिए हिंदी के छंदों का प्रयोग प्रारंभ किया। व्रजभाषा के कवित्त, सवैया आदि छंदों का उपयोग हुआ। इन छंदों में सवैया (खड़ी बोली के लिए) सबसे अधिक सफल प्रमाणित हुआ। इनको छोड़कर हिंदी के अन्य छंदों का भी प्रयोग कवियों द्वारा हुआ। इनमें नाथूराम 'शंकर' शर्मा, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त और गोपालशरणसिंह प्रमुख हैं। श्रीधर पाठक की भी हिंदी-छंदों में रचना मिलती है। इन कवियों को अपने उद्देश्य में पूरी सफलता मिली।

यद्यपि द्विवेदी-युग के कवि उर्दू, संस्कृत और हिंदी के छंदों में सफल हुए हैं तथापि इनकी ख्याति एक ही भाषा के छंदों पर अधिक निर्भर है। इस प्रकार इस समय के प्रमुख कवियों में भगवानदीन 'दीन' उर्दू के छंद, अयोध्यासिंह उपाध्याय संस्कृत-वृत्त और मैथिलीशरण गुप्त हिंदी के छंद के लिए प्रसिद्ध हैं।

"जल जल तृण सूखे दाह दावानली से,
प्रबल पवन फेंके शुष्क पत्ते पड़े हैं।
दिनकर जलने से क्षीण जल सब दिशा में,
बन थल चढ़ ऊँचे दीखते डर लगे हैं॥"

—(मालिनी, हिंदोस्थान, ४ अप्रैल, सन् १९८८)।

कवियों को छंद-विषयक पूरी स्वतंत्रता थी और वे अपनी रचना के अनुकूल कोई छंद चुन लेते थे।

इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि द्वितीय उत्थान में नवीन छंदों का बहुत कम निर्माण हुआ, यद्यपि इस समय के कवियों को छंदों के नवीन प्रयोग के लिये पूरी स्वतंत्रता थी तथापि वे प्रचलित छंदों से संतुष्ट थे और नवीन वृत्तों का आविष्कार न कर अपनी भावना को परंपरा से प्राप्त छंदों में ही ढालते रहे। इस युग के आरंभिक वर्षों में हम श्रीधर पाठक को नवीन छंदों के प्रयोग में व्यस्त पाते हैं। इन्होंने कई छंदों का निर्माण किया। इनकी कुछ रचना स्वच्छंद छंद में भी है। श्रीधर पाठक के समान मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त ने भी (परंतु द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों में) कुछ नए वृत्तों का सफलतापूर्वक निर्माण किया और जनता द्वारा प्रशंसित हुए।

द्विवेदी-युग की महत्ता नवीन भाषा में है। इस समय के कवि खड़ी बोली को कटु आक्षेपों और आलोचना से बचाने के लिए इसके सुधार और विकास में व्यस्त थे और इसीलिए इनको नवीन छंदों के निर्माण की कोई चिंता नहीं थी। छंद-सौंदर्य की खोज तृतीय उत्थान के कवियों पर छोड़ दी गई।

पदावली का परिष्कार

द्विवेदी-युग की सबसे बड़ी विशेषता भाषा का परिवर्तन है। ब्रजभाषा को अपदस्थ कर खड़ी बोली काव्यभाषा के पद पर आरूढ़ हुई। जनता ने खड़ी बोली को कविता का माध्यम स्वीकार कर लिया और इस समय के कवि इसे काव्याभिव्यक्ति के उपयुक्त बनाने में प्रवृत्त हुए। इस समय से खड़ी बोली कविता की शैली, उत्तरोत्तर स्वच्छ, शक्तिशाली और अभिव्यक्तिपूर्ण होती गई।

द्वितीय उत्थान के आरंभिक वर्षों की खड़ी बोली बहुत अव्य-वस्थित है। खड़ी बोली का कविता में ब्रजभाषा के रूप भी मिले-जुले हैं। वाक्यों में शिथिलता है। प्रायः तुकांत के लिए शब्दों का अंतिम अक्षर नहीं लिखा जाता है, कभी शब्द के अंतिम अक्षर की मात्रा बढ़ाने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। शब्दों की आत्मा और उनके विशिष्ट गुण तक इन कवियों की पहुँच नहीं है। कभी-कभी कुछ शब्दों को छंदों में खपाने के लिए व्याकरणसंमत शुद्धता का बलिदान किया गया है। इस उत्थान के आरंभिक कवियों का न भाषा पर अधिकार है और न इनमें शब्द-शोधन की तत्परता ही। इसी से इन कवियों की कला में सजीवता नहीं है। ये दोष केवल अप्रसिद्ध कवियों में नहीं हैं प्रत्युत श्रीधर पाठक की आरंभिक रचनाओं में भी दृष्टिगोचर होते हैं। विभिन्न कवियों की कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती हैं—

'पगों में अत्यंत महावरी रंगी, तिन्हों में नूपुर पहने नितंबिनी।
करैं हैं पद पद पै मराल की सी धुन, भरै हैं लोगों के नये मदन से मन॥'[१]
—किशोरीलाल गोस्वामी।

"कितने पातक नित होत तिहारे घर में,
कितनी अबला-जन गिरत दुःखसागर में।
बालक-विवाह कितने नहिं नित होते हैं,
जिनके फल लखि लखि कौन नहीं रोते हैं।
यह लोक-चाल अति बुरी देश में छाई,
किहि रीति कुमति-पथ मिटै सकल दुखदाई॥[२]
—श्रीधर पाठक।

"क्षमा होय अपराध साधुवर, हे दयालु सद्‌गुणराशी।
भाग्यहीन अति दीन विरहिनी, है यथार्थ में यह दासी॥"[३]
— एकांतवासी योगी।

"योगी को अब उस रमणी ने भुज भर किया प्रेम आलिंग,
गद्‌गद् बोले वारि पूरित दृग उमगित मन पुलकित सब अंग॥[४]
—एकांतवासी योगी।

"जहाँ ध्यान देते हैं चारों दिसा में, सदा चंद आनंददाता निशा में।
पड़ै दीख संसार नियमानुसारै, सदा सूर्य अपना उँजेला पसारै॥"[५]
—वागीश्वर मिश्र।

"मनोहारी शय्या परम सुथरी भूमि थल की,
सुहाती क्या ही है ललित बनके दूब दल से।

(१) ग्रीष्म-वर्णन। (२) मनोविनोद, पृ० १७०। (३) एकांतवासी योगी, पृ० ८। (४) एकांतवासी योगी पृ० १४। (५) 'प्रकृति'-सरस्वती, खंड २, संख्या ६, सन् १९०२।

सुहाते वृक्षों की अति पंक्ति प्रवर से,
लता प्यारी प्यारी लिपटति अनोखी तरह से ॥"[1]

—सत्यशरण रतूड़ी ।

इन पंक्तियों में उपर्युक्त दोष दिखाई पड़ते हैं। द्विवेदीजी की सतर्कता और अथक परिश्रम से यह अव्यवस्था जल्द बंद हो गई। इन्होंने काव्यभाषा खड़ी बोली की शिथिलता को दूर कर उसे शक्ति प्रदान की, इन्होंने मार्गप्रदर्शन के लिए स्वयं खड़ी बोली में रचनाएँ कीं, जिनका अनुकरण अन्य कवियों ने किया, 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के नाते इन्होंने खड़ी बोली की कविताओं को प्रोत्साहन दिया। भाषा की अशुद्धियों और अन्य दोषों के ये कटु समालोचक थे। ये प्रकाशनार्थ आई हुई प्रत्येक कविता को शुद्ध और परिमार्जित कर अपनी पत्रिका में छापते थे। इस प्रकार इन्होंने कवियों को शुद्ध रीति से कविता लिखने की शिक्षा दी।

द्विवेदीजी की शैली अत्यंत संस्कृतगर्भित और लंबे समस्त पदों से युक्त है। शैली की इस विशिष्टता के कारण खड़ी बोली का अपना रूप तिरोहित हो जाता है, इनकी बहुत सी कविताओं में संस्कृत-पदावली का बाहुल्य है, द्विवेदीजी संस्कृत के विद्वान् थे और इन्होंने संस्कृत के कई ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया था। संस्कृत के अत्यधिक अभ्यास के कारण संस्कृत-पदावली और लंबे समासों का बचाना इनके लिए कठिन था, मराठी-साहित्य का भी इन पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। मराठी-साहित्य संस्कृत-पदावली के अत्यधिक उपयोग के लिए प्रसिद्ध है। इस-लिए द्विवेदीजी के चारों ओर की परिस्थिति देखकर हमें उनकी

---

(१) शांतिमयी शय्या—सरस्वती, खंड ५, संख्या, सन् १९०४ ।

इस प्रकार की (संस्कृतगर्भित) रचनाओं से आश्चर्य नहीं होता—

"सुरम्यरूपे रसराशिरंजिते, विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई ।
अलौकिकानंदविधायिनी महा कवींद्रकांते कविते अहो कहाँ ॥"[1]

"दानार्थ प्राण मृतकामृत धौल धार, मोहार्थ शंभुकृत मोहनमंत्रसार ।
मत्तार्थ शीत ऋतु मंजु सुरोपचार, बालाकटाक्ष परमौषधि सुप्रकार ॥"[2]

संस्कृत-पदावली के अत्यधिक उपयोग पर भी इन पद्यों में संस्कृत की विश्व-विश्रुत मधुरता नहीं मिलती। द्विवेदीजी पर मराठी-प्रभाव के कारण हमें भाषा का यह स्वरूप दिखाई पड़ता है, इस भाषा में काव्यगत मधुरिमा का अभाव है, इसमें केवल परंपरागत अलंकारों का प्रयोग मिलता है, परंतु भाषा के लाक्षणिक और प्रतीकात्मक प्रयोगों का समावेश नहीं है। इस समय की कविता इतिवृत्तात्मक है। इन रचनाओं को कविता न कहकर पद्यात्मक निबंध कहना अधिक उपयुक्त होगा।

इस समय के बहुत से कवियों का साहित्यिक जीवन द्विवेदीजी के निर्देश और अध्यक्षता में प्रारंभ हुआ है, यदि हम इस समय की 'सरस्वती' का अध्ययन करें तो इन कवियों पर द्विवेदीजी की शैली का अनिवार्य प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। विभिन्न कवियों की कतिपय पंक्तियाँ उदाहरण-स्वरूप उद्धृत की जाती हैं—

"प्रतिनिधे खल काल कराल के, कुटिल क्रूर भयानक पातकी ।
अति विलक्षण है तव दुष्क्रिया, अशुच मृत्यु अरे अधमाधम ।"[3]

—'पूर्ण' ।

---

(१) कविता—सरस्वती, खंड २, संख्या ६, सन् १९०१ ।
(२) शिशिर-वर्णन ।
(३) सरस्वती, खंड ५, संख्या ४, सन् १९०४ ।

"स्नेहागार उदार प्रकृति भर्तार विनय के पारावार।
प्राणाधार शरद् राका के चटक चंद्रिका के सुखसार।
पूर्णकाम सुखधाम अधम-आराम राम हे जनविश्राम।
श्याम गरिम गुणग्राम पुन्यमय नाम अवाम अनूप ललाम।"[1]

—किशोरीलाल गोस्वामी।

"त्यों ही विद्रुम पद्मराग सम है बिंबोष्ठ-शोभा भली।
श्रीसंयुक्त सुवर्ण यह यों है ठीक रत्नावली।
राजा के सुन बैन यों वह हुई रोमांचिता स्तंभिता।
लज्जा संकुचिता प्रकंति तथा स्वेदांबु संशोभिता।"[2]

—मैथिलीशरण गुप्त।

"हा हा असह्य यह दुःख सहा न जाता,
प्राखर्य से बहुत ही सबको सताता।
आया प्रचंड यह ज्ञात नहीं कहाँ से,
क्या दंड यह है मिला विधि के यहाँ से।
क्या हैं हुए कुपित मन्मथ-भस्मकारी,
भालस्थ आँख अपनी सहसा उघारी।"[3]

—सनातन शर्मा सकलानी।

"मंदस्मितानन मनोहर फूलवाली,
अत्यंत रम्य नवपल्लव गात युक्त।
बालासमान कुच कुड्मल को छिपाए,
देती अहो कुमुदिना निशि में प्रमोद।"[4]

—सत्यशरण रतूड़ी।

---

(१) सरस्वती, खंड १, संख्या ५, सन् १९०० ।
(२) ,, खंड ५, संख्या ६, सन् १९०९ ।
(३) ,, खंड ६, संख्या ६, सन् १९०५ ।
(४) ,, खंड ६, संख्या ५, सन् १९०५ ।

संस्कृत-पदावली; लंबे समास, परंपरागत अभिव्यंजना की प्रणाली और इन पद्यों की इतिवृत्तात्मकता द्विवेदीजी के प्रभाव को द्योतित करती है। द्विवेदीजी और उनके अनुयायियों ने अनुप्रास और स्वरमैत्री (Assonance) द्वारा अपनी रचनाओं में संगीतात्मकता लाने का प्रयास किया, परंतु भाषा की आरंभिक दशा और अपरिपक्वता के कारण सफल न हो सके, भाषा की कर्कशता और शब्दों का असामंजस्य इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि इन कवियों का प्रयास भाषा की आत्मा का आंतरिक विकास न होकर बाह्य आरोप था। भाषा की सच्ची मिठास और कविता की संगीतात्मकता का समय अभी नहीं आया था, इस समय तो केवल समान स्वरवाले शब्दों के प्रयोग द्वारा संगीतात्मकता की यांत्रिक योजना मात्र दिखाई पड़ती है। भाषा की ऐसी अवस्था सन् १९१० तक थी। इसके पश्चात् हम कवियों को भाषा में सच्ची मिठास के लिए प्रयत्नशील पाते हैं।

'द्विवेदी-समुदाय' की संस्कृतगर्भित शैली की कर्कशता को 'हरिऔध' जी ने 'प्रिय-प्रवास' की रचना कर दूर किया। इसके पहले 'हरिऔध' जी ब्रजभाषा और खड़ी बोली (उर्दू छंदों में) पर्याप्त रचना कर चुके थे। संस्कृत-वृत्तों के लोकप्रिय होने पर 'प्रिय-प्रवास' की रचना कर 'हरिऔध' जी जनता के प्रशंसा-पात्र बने। 'प्रिय-प्रवास' संस्कृत-वृत्तों में रचित अतुकांत काव्य है। द्वितीय उत्थान की काव्यभाषा के विकास में इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व है। इस ग्रंथ के प्रणयन से खड़ी बोली की क्षमता प्रमाणित हो गई और इसके विरोधियों का मुँह बंद हो गया। इसके पहले संस्कृत-वृत्तों की रचनाओं में काव्यत्व का अभाव रहता था और भाषा में मधुरता नहीं दिखाई देती थी। 'प्रिय-प्रवास' की भाषा में मधुरता और काव्यत्व दोनों हैं। 'द्विवेदी-

समुदाय' की कर्कश भाषा से इसकी भाषा निःसंदेह अधिक विकसित और सौंदर्यपूर्ण है।

संस्कृत-वृत्तों के चुनाव में द्विवेदीजी का प्रभाव स्पष्ट है, परंतु हरिऔधजी की शैली का विकास स्वतंत्र रूप में हुआ है। यद्यपि इनकी भाषा भी संस्कृतगर्भित और लंबे समस्त पदों से युक्त है तथापि इनकी भाषा काव्यत्व से पूर्ण है, 'द्विवेदी-समुदाय' की गद्यात्मक शुष्कता और कर्कशता इनकी भाषा में नहीं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने प्रयोगों में कभी असफल नहीं हुए। इनकी चरम सीमा तक ले जानेवाली प्रवृत्ति के दर्शन 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'वेनिस का बाँका' में होते हैं। पहली पुस्तक ठेठ हिंदी और दूसरी संस्कृतगर्भित साहित्यिक हिंदी का निदर्शन है। काव्य के क्षेत्र में 'प्रिय-प्रवास' उच्च हिंदी की प्रवृत्ति का उदाहरण है। भाषा के ये सफल प्रयोग हरिऔधजी की भाषा पर असाधारण अधिकार प्रकट करते हैं।

'प्रिय-प्रवास' की शैली उच्च हिंदी का निदर्शन है। इसकी भाषा में संस्कृत-पदावली और लंबे समासों का इतना बाहुल्य है कि हिंदी का अपना स्वरूप कहीं कहीं छिप सा गया है। राधा का सौंदर्य-वर्णन ऐसा ही है। संस्कृत-पदावली के कारण क्लिष्ट समासों का प्रयोग हुआ है और अप्रसिद्ध शब्दों का अभाव नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है हरिऔधजी ने 'द्विवेदी-समुदाय' की संस्कृत-पदावली की प्रियता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

इस पुस्तक में सस्कृत-पदावली का समावेश बहुत कुछ संस्कृत वृत्तों के कारण हुआ। इसका दूसरा कारण कवि की अपनी विचार-धारा है। हरिऔधजी का विचार है कि राष्ट्रभाषा बनने

के कारण हिंदी में संस्कृत-शब्दों का समावेश आवश्यक है और इसी से इसको अन्य प्रान्तवाले सरलता से समझ सकेंगे।

इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि 'प्रिय-प्रवास' की लोकप्रियता कभी कम नहीं हुई। इसका कारण संस्कृत-पदावली की मधुरता और काव्यत्वपूर्ण वर्णन हैं। इनका भाषा पर प्रगाढ़ अधिकार है। संस्कृत और फ़ारसी दोनों के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण हरिऔधजी प्रत्येक शब्द की आत्मा और विशिष्टता से परिचित हैं। इस कारण इनका शब्दशोधन काव्यत्वपूर्ण और अद्वितीय है। इनकी भाषा में संगीत का तत्त्व है, परंतु अभिव्यंजना की नई प्रणाली नहीं है। इनकी उपमा और उत्प्रेक्षाएँ परंपरागत हैं। हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हरिऔधजी केवल द्विवेदीजी और उनके अनुयायियों की भाषा की कर्कशता को दूर करने में समर्थ हुए। ये अभिव्यंजना की नई प्रणाली का सूत्र-पात नहीं कर सके।

हम द्विवेदीजी की संस्कृतगर्भित शैली की चर्चा कर चुके हैं और यह देख चुके हैं कि कवि इसका अनुकरण कर काव्याभि-व्यक्ति में असफल ही रहे। इनकी कतिपय रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनकी भाषा सरल और शैली अत्यंत स्वच्छ है। यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं तथापि इन रचनाओं के प्रशंसक और अनुयायी थे। इन सरल रचनाओं की महत्ता इसलिए और बढ़ जाती है कि इनके द्वारा द्विवेदीजी ने अपने अनुयायियों को काव्याभिव्यक्ति की शिक्षा दी है। इनकी भाषा लोकप्रिय और लंबे समासों से शून्य है। प्रभाव की वृद्धि के लिए उर्दू शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्विवेदीजी की इस नवीन शैली का स्वरूप निम्नलिखित पद्यों में प्रकट होता है—

"यदि कोई पीड़ित होता है, उसे देख सब घर रोता है।
देशदशा पर प्यारे भाई, आई कितनी बार रुलाई॥
थोड़ा भी श्रम यदपि उठाते, जन्मभूमि को तुम न भुलाते।
तो अब तक निहाल हो जाती शोभामयी दिव्य दिखलाती॥"[1]
"कच्चा घर जो छोटा-सा था, पक्के महलों से अच्छा था।
पेड़ नीम का दरवाजे पर, सायबान से था वह बेहतर॥
आँखमिचौनी की वे बातें, खेल-कूद के दिन औ रातें।
हाय कहाँ हैं हाय कहाँ हैं, कहाँ मिलें जो ढूँढ़ा चाहें॥"[2]

इसी प्रकार की अन्य रचनाएँ द्विवेदीजी के भाषा-सिद्धान्त के फलस्वरूप हैं। इनका विचार था कि गद्य और पद्य की भाषा समान होनी चाहिये। दोनों का भेद कम करने के लिए ये बोल-चाल की भाषा के उपयोग की शिक्षा देते थे। इन्होंने दैनिक जीवन की भाषा में रचना करने के लिए लोगों को प्रेरित किया। इनकी इस प्रकार की रचना की ओर कई कवि आकृष्ट हुए। नाथूराम शंकर शर्मा, लोचनप्रसाद पांड़े, रामचरित उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदीजी की इस शैली से प्रभावित हुए और उन्होंने सरल भाषा में रचनाएँ कीं।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि बोलचाल की भाषा से हरिऔधजी की 'ठेठ हिंदी' का आशय कदापि नहीं है। इन कवियों का सिद्धान्त संस्कृत शब्दों का बहिष्कार नहीं था, क्योंकि यह असंभव और हास्यास्पद है। इनका ध्येय हिन्दी का स्वतन्त्र विकास था। अन्य भाषा की मधुरता का अधिक समावेश न कर ये कवि हिंदी की अपनी मधुरता को विकसित करने के पक्षपाती थे। हिंदी-मुहावरों के सतत प्रयोग द्वारा ये कवि हिन्दी को भावा-

(१) जन्मभूमि, मार्च १९०३। (२) प्यारा वतन।

भिव्यक्ति के लिए समर्थ और शक्तिशाली बनाना चाहते थे। इन कवियों के लिए गौरव का विषय है कि ये अपने ध्येय में सफल हुए।

'सरस्वती' के आरम्भिक वर्षों में हम नाथूराम शंकर शर्मा को मैथिलीशरण गुप्त के समान राजा रवि वर्मा के (सरस्वती में प्रकाशित) चित्रों पर कविता बनाने में प्रवृत्त पाते हैं। इन कविताओं की भाषा सरल और प्रभावयुक्त है। इनकी लय में बातचीत और वक्तृता की विशिष्टता है। कभी-कभी इनमें उच्छृङ्खलता आ जाती है जिससे इनकी भाषा में समरसता नहीं रह पाती।

रामचरित उपाध्याय के ग्रन्थों में हिन्दी भाषा की अपनी शक्ति और मधुरता के दर्शन होते हैं। 'रामचरित-चिंतामणि' अपनी लोकप्रिय और ओजपूर्ण भाषा के लिए विख्यात है। भाषा में प्रवाह है और शैली संस्कृत-शब्दों से आक्रांत नहीं है। प्रभाव के लिए उर्दू-शब्दों का भी समावेश हुआ है। भावों की व्यंजना में शक्ति है और शिथिलता का अभाव है।

रामचरित उपाध्याय की अभिव्यंजना की प्रणाली में नवीनता नहीं है। प्रभाव-वृद्धि के लिए अलंकृत शैली का उपयोग हुआ है। इनकी उपमाएँ प्राचीन और परंपरागत हैं। कवि में 'यमक' के प्रति विशेष प्रेम है, जो छोटी-बड़ी सभी रचनाओं में मिलता है। भाषा की लक्षणा शक्ति का इनकी रचनाओं में अभाव है। इनकी भाषा खड़ी बोली के विकास की एक विशेष अवस्था द्योतित करती है। इस समय की खड़ी बोली में सरलता और मधुरता के दर्शन होते हैं परन्तु अभिव्यंजना की प्रणाली में नवीनता नहीं दिखाई पड़ती।

अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली का समावेश द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों में मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवियों द्वारा हुआ।

हम मैथिलीशरण गुप्त की शैली के विकास की तीन अवस्थाओं से परिचित हैं। इनकी आरंभिक रचनाएँ संस्कृतगर्भित हैं और काव्यत्व से शून्य हैं। इनमें द्विवेदीजी की संस्कृत-पदावली का प्रभाव स्पष्ट है। यह इनकी शैली की पहली अवस्था है। द्वितीय अवस्था में इनकी शैली में सरलता और मधुरता आ गई है। नवीनचंद राय तथा माइकेल मधुसूदनदत्त आदि बँगला के प्रमुख कवियों की कृतियों का हिंदी में अनुवाद कर इन्होंने बँगला की मधुर पदावली का अपनी रचना में समावेश किया। तीसरी अवस्था में अभिव्यंजना की नई प्रणाली का सूत्रपात हुआ। इस समय हमें भाषा के लक्षणामूलक और प्रतीकात्मक प्रयोग के दर्शन होते हैं। मैथिलीशरण गुप्त में नवीन अभिव्यंजना-प्रणाली और प्राचीन अलंकार-शैली का सामंजस्य मिलता है। अलंकारों का प्रयोग भी प्रभाव-साम्य को ध्यान में रखकर किया गया है। अभिव्यंजना की दोनों प्रणालियों के उचित संमिश्रण के साथ इनकी भाषा में सरलता और मधुरता है।

मैथिलीशरण गुप्त में अवसर की आवश्यकता को समझकर समयानुकूल कार्य करने की अद्भुत क्षमता है। द्विवेदीजी की इतिवृत्तात्मक कविता का विरोध होने पर इन्होंने काव्यक्षेत्र में अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली और मुक्तक गीतों की सृष्टि की। इस क्षेत्र में इन पर रवींद्रनाथ ठाकुर का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। ठाकुर महोदय की अभिव्यक्तिपूर्ण रहस्यवादी रचनाओं से आकृष्ट होकर गुप्तजी ने इनका भी हिंदी में सूत्रपात किया। इस कार्य में गुप्तजी को पूरी सफलता मिली और जनता ने इस नवीन प्रयास का हृदय से स्वागत किया।

द्वितीय उत्थान की भाषा और प्रक्रिया के क्रमशः विकास को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में दिखा सकते हैं—

१—श्रीधर पाठक की आरंभिक रचनाओं में द्वितीय उत्थान के आरम्भिक वर्षों की भाषा का उदाहरण मिलता है। (भाषा अव्यवस्थित और शिथिल है।)

२—महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वितीय उत्थान के प्रथम चरण (सन् १९००-१९१०) का प्रतिनिधित्व करते हैं। (भाषा संस्कृत-गर्भित तथा नीरस है।)

३—'प्रिय-प्रवास' में संस्कृत-पदावली की मधुरता है। (अभिव्यंजना की प्रणाली परंपरागत है।)

४—'रामचरित-चिंतामणि' में हिंदी की अपनी शक्ति और मधुरता के दर्शन होते हैं। (यद्यपि अभिव्यंजना-प्रणाली में नवीनता नहीं है।)

५—मैथिलीशरण गुप्त के मुक्तक गीतों में (सन् १९१४ से) अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली के दर्शन होते हैं और भाषा में मधुरता आती है। इन गीतों से द्विवेदी-युग का अंत और तृतीय उत्थान का आरंभ होता है।

द्वितीय उत्थान में हमें काव्यभाषा खड़ी बोली की शैली का (आडंबर से सरलता की ओर) क्रमशः विकास दिखाई पड़ता है। इस विकास की अवस्थाएँ स्पष्ट हैं, अभिव्यंजना-प्रणाली के परिवर्तन में इतना विलंब होने पर कोई आश्चर्य न होना चाहिए। द्विवेदी-युग की सबसे बड़ी विशेषता खड़ी बोली की शैली का विकास है। इस समय एक नवीन भाषा काव्य का माध्यम स्वीकृत होती है और कवि उसे काव्यत्व से पूर्ण अभिव्यक्ति में समर्थ बनाने में यत्नशील होते हैं। कवियों की सतत चेष्टा से द्वितीय उत्थान के अंतिम वर्षों तक खड़ी बोली की कर्कशता बहुत कुछ दूर हो जाती है और उसमें सूक्ष्म भावों के प्रकाशन की शक्ति आ जाती है। फलतः द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों में

प्रक्रिया में भी परिवर्तन होता है। इस सत्य से तो सभी परिचित होंगे कि प्रक्रिया की कलापूर्ण अभिव्यक्ति भाषा के उत्कर्ष पर निर्भर है।

द्विवेदी-युग के कवि अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुए। उन्होंने खड़ी बोली को सजाकर साधन-संपन्न बनाया और इसके विरोधियों के आक्षेपों को मिथ्या प्रमाणित किया। उन्होंने विघ्न-बाधाओं को दूर कर काव्यभाषा का यथाशक्ति विकास कर तृतीय उत्थान के कवियों को सौंदर्यपूर्ण अभिव्यंजना प्रणाली की साधना के लिए स्वतंत्र कर दिया।

सामाजिक कविता

द्वितीय उत्थान के कवि सामाजिक जीवन से विमुख नहीं थे। सामाजिक सुधार में इन कवियों की वाणी सदा निरत थी। ये कवि सच्चे हृदय से समाज की उन्नति चाहते थे।

द्वितीय उत्थान की सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन लक्षित होता है। भारतेंदु-युग की सामाजिक परिस्थिति नवीन विचारों के कारण अशांत थी। आर्यसमाज के आंदोलन से खंडन-मंडन और वाद-विवाद बहुत बढ़ गया था। द्वितीय उत्थान में विरोध और आलोचना-प्रत्यालोचना का अभाव है। इस समय के कवि शांत परिस्थिति में सद्भावना के साथ-साथ सामाजिक उन्नति का यत्न करते हैं। भारतेंदु-युग से दूसरा भेद यह लक्षित होता है कि इस युग के सभी कवि समाज के सभी अंगों पर अपनी लेखनी नहीं चलाते। इस समय के कवि समाज के केवल उन पक्षों पर अपने उद्गार प्रकट करते हैं जो उन्हें प्रभावित करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीधर पाठक अधिकतर विधवा-समस्या पर अपने विचार प्रकट करते हैं और मैथिलीशरण गुप्त की विशेष सहानुभूति अछूतों के प्रति है।

द्वितीय उत्थान में सबसे पहले श्रीधर पाठक हमारा ध्यान सामाजिक विषयों की ओर आकृष्ट करते हैं। हिंदुओं की सामाजिक अधोगति पर इन्होंने बहुत सी कविताएँ लिखीं। विधवाओं से इन्हें पूरी सहानुभूति है। उनकी दारुण अवस्था का मार्मिक चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है। विधवाओं की समस्या में तन्मय होने के कारण ये इस विषय से असंबद्ध रचनाओं में भी उनकी दुर्दशा का संकेत करना नहीं भूलते। 'हेमंत' कविता

में ऋतु की शोभा का वर्णन करते करते ये विधवाओं की अवस्था का चित्रण करने लगते हैं। कवि ईश्वर से बाल-विधवाओं पर कृपालु होने की प्रार्थना करता है—

"बीता कातिक मास शरद का अंत है,
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमंत है।
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे,
रब्बी के लहलहे नए अंकुर जमे।
दुखी बाल-विधवाओं की जो है गती,
कौन सके बतला किसकी इतनी मती।
जिन्हें जगत की सब बातों से आन है,
दुख सुख मरना जीना एक समान है।
जिनको जीते जी दी गई तिलांजली,
उनकी कुछ हो दशा किसीको क्या पड़ी।"[1]

"प्रार्थना अब ईश की सब करहु कर जुग जोर।
दीनबंधु सुदृष्टि कीजै बाल-विधवा-ओर॥"

श्रीधर पाठक समाज की अन्य कुरीतियों से अपरिचित नहीं हैं। इन्होंने अपनी लावनी में उनके दोष बताए हैं। बाल-विवाह के कुप्रभाव की भी चर्चा इन्होंने की है। भारत-भूमि के रहने-वाले पंडितों और धर्मधुरीणों से ये सामाजिक कुरीति को मिटाने की प्रार्थना करते हैं—

"निज देश-दशा किन सोचहु सब मिलि भाई।
किहि रीति कुमति-पथ मिटै सकल दुखदाई॥
पंडित प्रवीण नर कुलधुरीण गुणराशी।
सब सुनहु आर्यवर भारत-भूमि-निवासी॥

(१) मनोविनोद, पृ० ७६। (२) बाल-विलास, ४ जून, सन् १८८५

बालक-विवाह कितने नहिं नित होते हैं।
जिनके फल लखि लखि कौन नहीं रोते हैं।
यह लोक-चाल अति बुरी देश में छाई॥ निज देश०॥"[1]

देश के इस सामाजिक अधःपतन का कारण विधवाओं का शाप है—

"बाल-विधवा-श्राप-बस यह भूमि पातकमई।
होत दुःख अपार सजनी निरखि जग निठुरई॥"

श्रीधर पाठक महिलाओं की उन्नति चाहते हैं। वे चाहते हैं कि इनके द्वारा संसार में जीवन और पवित्रता की ज्योति जगे—

"अहो पूज्य भारत-महिला-गण अहो आर्यकुल-प्यारी।
अहो आर्यगृह लक्ष्मि सरस्वति आर्यलोक उजियारी।
आर्य-जगत में पुनः जननि निज जीवन-ज्योति जगाओ।
आर्य-हृदय में पुनः आर्यता का शुचि स्रोत बहाओ।"[2]

श्रीधर पाठक की अपेक्षा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने समाज के अनेक पक्षों पर रचनाएँ की हैं। अछूत, सामाजिक आडंबर, कुलीनता आदि विषयों पर इनकी चुभती कविताएँ हैं। 'हरिऔध' जी समाज के उदारहृदय समालोचक हैं। ये समाज की निष्फल या हानिकारक रीतियों की आलोचना करते हैं। परंपरा का निर्वाहमात्र इन्हें रुचिकर नहीं है। इनके लिए कुलीनता का विशेष महत्व नहीं। इनके विचार से सच्ची कुलीनता वंशानुगत न होकर अच्छे कर्मों में है। इसलिए ये कुलीनता के आधार पर विवाह को अच्छा नहीं समझते—

"विवेक विद्या सुविचार सत्यता, क्षमा दया सज्जनता उदारता।
क्रिया सदाचार परोपकारिता, सदा समाधार कुलीनता रही॥

(१) मनोविनोद, पृ० १७०। (२) मनोविनोद, पृ० ३२।

परंतु है आज विचित्र ही दशा, विडंबना है नित ही कुलीनता।
सप्रेम है अर्पित हो रही सुता, उसे बना वंशगता कुलागता॥"[1]

'हरिऔध' जी इसी प्रकार तिलक चंदन की भी आलोचना करते हैं। इसकी सफलता हृदय की स्वच्छता में है। अन्यथा छापा-तिलक निष्फल है—

"लोग उतना ही बढ़ाते हैं तुम्हें, रंग जितने ही बुरे हों चढ़ गए।
पर तिलक इस बात को सोचो तुम्हीं, इस तरह तुम घट गए या बढ़ गए॥
इस तरह के हैं कई टीके बने, जो कि तन के रोग को देते भगा।
जो न मन के रोग का टीका बना, तो हुआ क्या लाभ यह टीका लगा॥"[2]

'हरिऔध' जी की सामाजिक आलोचना, नाथूराम शंकर शर्मा की वाणी में तीव्र व्यंग बन जाती है। ये आर्यसमाजी थे और इनको शास्त्रार्थ तथा खंडन-मंडन से विशेष प्रेम था। समाज की खरी आलोचना इन्होंने बड़े उत्साह से की है। इनके विचारों में कहीं-कहीं उग्रता है। कभी-कभी ये औचित्य की सीमा भी पार कर जाते हैं। फलतः इनकी भाषा में समरसता नहीं है। नाथूराम शंकर शर्मा जात-पाँत के जाल में फँसे मूर्ख हिंदुओं को एकता के सूत्र में बाँधने को कमर कसे खड़े हैं—

'जाति पाँति के धर्मजाल में उलझे पड़े गँवार।
मैं इन सबको सुलझा दूँगा करके एकाकार॥"[3]

तत्कालीन सामाजिक दशा की इन्होंने कटु आलोचना की है। विधवा एवं बाल-विवाह, वेदांती साधु आदि सभी पर इन्होंने कविताएँ लिखी हैं। बाल-विवाह से ये अत्यंत क्रुद्ध हैं—

---

(१) सरस्वती, खंड १७, संख्या १, सन् १९१६।
(२) ,, खंड १९, संख्या २, सन् १९१८।
(३) ,, खंड ९, संख्या ५, सन् १९०८।

"बाल-विवाह विशाल जाल रच पाप कमाया।
ब्रह्मचर्य-व्रत-काल वृथा विपरीत गँवाया॥
अबला ने चुपचाप उठाय पछाड़ा मुझको।
बेटा जन कर बाप बनाय बिगाड़ा मुझको॥"[१]

समाज की कुरीतियों के कारण ये लज्जा से नतशिर हो जाते हैं। संसार के शिक्षकों की आधुनिक संतानों के लिए ये सामाजिक दोष उनके अपयश के कारण हैं। कवि की मानसिक व्यथा और लज्जा व्यंगात्मक रचना को जन्म देती है।

कवि कट्टरपंथी अपरिवर्तनवादी समाज से चिढ़ गया है और समयानुकूल परिवर्तन न करने पर उन पर व्यंग की वर्षा करता है—

"सुने स्वर्ग से लौ लगाते रहो, पुनर्जन्म के गीत गाते रहो।
डरो कर्म प्रारब्ध के योग से, करो मुक्ति की कामना भोग से॥
नई ज्योति की ओर जाना नहीं, पुराने दिये को बुझाना नहीं।"[२]

ठाकुर गोपालशरणसिंह स्त्रीशिक्षा के समर्थक हैं। दहेज प्रथा के कुप्रभाव का संकेत इनकी रचनाओं में मिलता है। इस कुप्रथा ने न मालूम कितने परिवारों और कितनी कन्याओं का जीवन नष्ट कर दिया। इस कुरीति के बिना मिटे हिंदू जाति की उन्नति असंभव है—

"भगवान हिंदू जाति का उत्थान कैसे हो भला।
नित यह कुरीत दहेजवाली घोंटती उसका गला॥
सुकुमारियाँ वे भोगती हैं यातना कितनी बड़ी।
जो पूर्ण यौवन काल में भी हैं बिना ब्याही पड़ी॥

---

(१) सरस्वती, खंड ११, संख्या ३, सन् १९१०।
(२) ,, खंड ८, संख्या १, सन् १९०७।

अगणित कुटुम्बों का किया इस राक्षसी ने नाश है।
तो भी बुझी न अभी अहो इसकी रुधिर की प्यास है॥"[1]

संप्रति स्त्रियों की निरक्षरता भी कवि को उद्विग्न बनाती है। दमयंती, सीता और गार्गी के देश की आधुनिक स्त्रियाँ अविद्या की मूर्ति बन गई हैं। कवि को स्त्रियों की हीनदशा से समानुभूति है और वह उनके सुधार का आकांक्षी है—

"दमयंती की यही जन्म वसुधा है प्यारी।
हुई रुक्मिनी यहीं और गार्गी गांधारी॥
जनकसुता की कथा विश्वविश्रुत है न्यारी।
और कहाँ हैं हुई जगत में ऐसी नारी॥
आज अविद्या-मूर्ति सी हैं सब श्रीमतियाँ यहाँ।
हाय अभागी देख ले उनकी दुर्गतियाँ यहाँ॥"[2]

मैथिलीशरण गुप्त ने समाज के सभी अंगों पर कुछ न कुछ लिखा है। प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति की भूमिका पर कवि आधुनिक सामाजिक अधोगति का चित्र खींचता है और इस प्रकार जनता को सामाजिक सुधार के लिए उत्तेजित करता है। हिंदू-समाज में अग्रगण्य ब्राह्मणों से अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए गुप्तजी प्रार्थना करते हैं। ऐसा न करने से आधुनिक अवनति का सारा दोष उन्हीं पर होगा। प्राचीन सुसमय स्वप्न ही रहेगा और अच्छे दिन न आवेंगे—

"तुम होकर भी कुशपाणि विश्व के शासक थे।
बल विक्रम बुद्धि विकास त्रास दुःखनाशक थे॥
करते थे प्रकट प्रभाव नित्य तुम नए नए।
बोलो तो वे अब कर्म तुम्हारे कहाँ गए॥

---

(१) सरस्वती, खंड ८, संख्या १, सन् १९०७।
(२) सरस्वती, खंड २६, संख्या ६, सन् १९२५।

"यदि अब भी तुम कर्तव्य न पालोगे अपना।
तो रह जावेगा पूर्वकाल निश्चय सपना॥
हिंदू-समाज के दोष तुम्हीं पर आते हैं।
सब बातों में अगुआ ही पूछे जाते हैं॥"[१]

मैथिलीशरण गुप्त ने स्त्रीशिक्षा और अछूतोद्धार का भरपूर समर्थन किया है। सामाजिक उन्नति में इनकी रचनाओं ने विशेष योग दिया है। सामाजिक सुधार के साथ-साथ सांस्कृतिक पक्ष की अवहेलना भी नहीं हुई है। भारतेंदु-युग के कवियों के समान मैथिलीशरण गुप्त भी पश्चिमी रहन-सहन के सर्वांगीण अनुकरण के विरोधी हैं। ये अपनी सामाजिक मनोदृष्टि को विदेशी रहन-सहन की अनुगामिनी नहीं बनाना चाहते। इन्हें अपने सामाजिक रीति-रिवाजों से प्रेम है और ये उनकी रक्षा में तत्पर हैं। इसलिये ये अपने प्राचीन रीति-नियमों को दोषपूर्ण समझनेवाले पश्चिमी सभ्यता में रँगे युवकों पर व्यंग की वर्षा करते हैं। इन्होंने होली के उत्सव का जोरदार समर्थन किया है। कुछ लोगों के होली को असभ्य उत्सव कहने पर इन्होंने इसके सत्प्रभाव का गुणगान किया—

"सचमुच ही क्या फाग खेलना है असभ्यता-लक्षण।
सभ्यों की यह नई समझ है अद्भुत और विलक्षण॥
किंतु हमारी ग्राम्य बुद्धि में यही बात दृढ़ हो ली।
पारस्परिक प्रेमबंधन को दृढ़ करती है होली॥
है यह ऐसा समय हमारे सब दुःखों में खोवे।
हे हरि कभी हिंदुओं का यह शुभ दिन अस्त न होवे॥"[२]

अपनी स्वतंत्र सामाजिक सत्ता की रक्षा की यह प्रवृत्ति द्वितीय

---

(१) सरस्वती, खंड ११, संख्या ५, सन् १९१०।
(२) ,, खंड ११, संख्या ४, सन् १९१०।

उत्थान के अन्य कवियों में भी मिलती है। भारतेंदु-युग के कवियों के समान ये कवि भी समाज-सुधार और वर्तमान शिक्षा के समर्थक होते हुए भी अपनी सामाजिक विशिष्टता की रक्षा में तत्पर हैं। इन कवियों को हम सांप्रदायिक या कट्टरपंथी नहीं कह सकते, क्योंकि इन कवियों का हृदय उदार और मनोदृष्टि व्यापक है। ये कवि प्राचीन समाज और नवीन विचारों का सामंजस्य चाहते हैं। 'हरिऔध' जी की निम्नलिखित पंक्तियों में अंकित सुधारक के स्वरूप में हमें इन कवियों की स्वतंत्र सामाजिक भावना की झलक मिलती है—

"जिसे पराई रहन-सहन की लौ न लगी हो।
जिसकी मति सब दिन निजता की रंगी सगी हो॥
हमें चाहिए परम सुजान सुधारक ऐसा।
जिसकी रुचि जातीय रंग हो बीच रँगी हो॥"[1]

इस प्रकार रूपनारायण पाँड़े की निम्नलिखित पंक्तियों में ब्राह्मणोद्बोधन के भीतर विश्व-कल्याण की कामना छिपी है—

"ब्रह्मदेव फिर उठो देश का हित करने को।
रोग शोक दारिद्र्य दुःख दुर्मति हरने को॥
देखे सारा विश्व फिर क्या है सच्ची सभ्यता।
पराकाष्ठा धर्म की और भाव की भव्यता॥"[2]

इन पंक्तियों की समाज-भावना का उदार मनोदृष्टि से कोई विरोध नहीं है। इन पंक्तियों से द्वितीय उत्थान के कवियों के समाज-प्रेम तथा उदार हृदय का पूर्ण परिचय मिलता है।

संक्षेप में द्वितीय उत्थान के कवियों की यही सामाजिक भावना है। इस समय के कवि सामाजिक विषयों पर कविता रचकर

(१) सरस्वती, खंड १८, संख्या ३, सन् १९१७।
(२) ,, खंड १४, संख्या १, सन् १९१३।

समाज-सुधार की भावना उत्तेजित करते हैं। ये अपनी भावना को प्रभावित करनेवाली सामाजिक समस्याओं पर कविताएँ लिखते हैं। इस प्रकार श्रीधर पाठक विधवाओं से समानुभूति प्रदर्शित करते हैं, नाथूराम शंकर शर्मा बालक-विवाह पर व्यंग की वर्षा करते हैं, गोपालशरणसिंह दहेज-प्रथा की आलोचना करते हैं और मैथिलीशरण गुप्त सामाजिक रीति-नीति की रक्षा और सुधार का विशेष आग्रह करते हैं। इन प्रमुख कवियों के साथ-साथ द्वितीय उत्थान के अन्य कवियों ने भी समय समय पर सामाजिक विषयों पर रचनाएँ रचकर सामाजिक उन्नति में योग दिया।

भारतेंदु-युग के कवियों ने सामाजिक रीति-नीति की आलोचना मात्र की, परंतु द्वितीय उत्थान के कवियों ने समाज द्वारा सताए हुए प्राणियों से समानुभूति प्रदर्शित की और समाज की आलोचना मात्र से संतुष्ट न रहे। सामाजिक प्रगति के कुछ अग्रसर होने पर भी भारतेंदु-युग से इस समय की सामाजिक कविता में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। सामाजिक कविताओं के विषय भी प्रायः वे ही हैं। स्त्रीशिक्षा, बाल-विवाह, अंधविश्वास आदि विषय द्वितीय उत्थान के कवियों का भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। द्विवेदी-युग के समाज में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। फलतः इस समय की सामाजिक कविता भी बहुत कुछ गतिहीन है।

इसके सिवा महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्याएँ कवियों का ध्यान सामाजिक क्षेत्र से हटाकर बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर रही थीं। ये कवि भारत के राजनीतिक विधान में व्यस्त थे। इस कारण इस समय की अधिकांश सामाजिक रचनाओं में बौद्धिक तत्त्व की प्रधानता और भावतत्त्व की कमी है। राजनीतिक समस्या आज भी अव्यवस्थित है और कवि उसमें संलग्न हैं।

धार्मिक कविता

इस उत्थान के कवियों की धार्मिक मनोदृष्टि में विशेष रूप से परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इन कवियों की धर्म-संबंधी भावना व्यापक और उदार हो गई है। इनकी धार्मिक रचनाएँ केवल राम और कृष्ण के गुणगान तक ही परिमित नहीं हैं, और न ये कवि कोरे धार्मिक सिद्धांतों को पद्यबद्ध करके संतुष्ट हैं। धर्म या ईश्वर इन कवियों की रचनाओं में आध्यात्मिक शक्ति में परिवर्तित हो गया है। यह आध्यात्मिक शक्ति स्त्री-पुरुष के प्रेम, पीड़ितों की सेवा और परम सत्य की खोज में प्रकट होती है। इसी शक्ति ने मानवतावाद के आदर्श की प्रतिष्ठा की प्रेरणा उत्पन्न की। इसने उदार हृदय और विशाल मनोदृष्टि प्रदान कर छोटे-विषयों को भी महान् बना दिया।

मानवतावाद के आदर्श ने कवियों के हृदय में पीड़ित और दुःखियों के प्रति समानुभूति की प्रतिष्ठा की। ये कवि दुर्बल और सताए हुए प्राणियों की सहायता को सदैव तत्पर हैं, क्योंकि इनका विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति मनुष्य-प्रेम से ही संभव है। ठाकुर गोपालशरणसिंह को विश्व-प्रेम और मानवता की सेवा में मुक्ति का उन्मुक्त द्वार दिखाई पड़ता है—

"जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार।
विश्व-प्रेम के बंधन ही में मुझको मिला मुक्ति का द्वार॥"[1]

मुकुटधर पांडेय को दीन दुःखियों के आँसू, सच्चे पश्चात्ताप और कृषकों के सरल स्वभाव में ईश्वर की प्राप्ति होती है—

---

(१) सरस्वती, खंड २६, संख्या ६, सन् १९२५।

"खोज में हुआ वृथा हैरान, यहाँ ही था तू हे भगवान।
दीन हीन के अश्रुनीर में, पतितों की परिताप-पीर में।
सरल स्वभाव कृषक के हृत में, श्रम-सीकरसे सिंचित घन में।
तेरा मिला प्रमाण॥"[1]

इस प्रकार हम कवियों की धार्मिक मनोदृष्टि में स्पष्ट परिवर्तन और विकास देखते हैं। इनकी मनोदृष्टि व्यापक और उदार हो गई। इसी उदार मनोदृष्टि के कारण कवि जनता के साथ न्याय चाहते हैं। इसीलिए कवि दुःखियों की अवहेलना करनेवाली सभ्यता की कटु आलोचना करते हैं। पं० केशवप्रसाद मिश्र केवल अमीरों का हित करनेवाली सभ्यता की निंदा करते हैं—

"अगर असभ्यता आज मरे ही को है भरना।
नहीं भूलकर कभी गरीबों का हित करना॥
तो सौ सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी।
जीव मात्र को लाभ नहीं तो समता कैसी॥"[2]

कवि इतने ही से संतुष्ट नहीं हैं, इन्हें नवीन आध्यात्मिक शक्ति का आभास दूसरे क्षेत्रों में भी होता है। ईश्वर या दिव्य शक्ति का अनुभव अबोध बच्चों की सरल हँसी, दंपति के प्रेम और प्रकृति के सौंदर्य में होता है। मुकुटधर पांडेय को ईश्वर की झलक निम्नलिखित रूपों में मिली—

"हुआ प्रकाश तमोमय मग में, मिला मुझे तू तत्क्षण जग में।
तेरा हुआ बोध पग-पग में खुला रहस्य महान।
वाद-विहीन उदार धर्म में समतापूर्ण ममत्व-मर्म में।
दंपति के मधुमय विलास में, शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में।

---

(१) सरस्वती खंड १८, संख्या ६, सन् १९१७।

(२) „ खंड १६, संख्या १, सन् १९१५।

वन्य कुसुम के शुचि सुवास में, था तब क्रीड़ास्थान।
देखा मैंने यहीं मुक्ति थी यहीं भोग था यहीं भुक्ति थी।
घर में ही सब योग युक्ति थी, हुआ न तो भी ज्ञान ॥[1]

ईश्वर की दिव्य शक्ति का अनुभव सेवा और सौंदर्य दोनों में हो सकता है, द्वितीय उत्थान के कवियों को इस सत्य का अनुभव था। इसीलिए निम्नलिखित पंक्तियों में सौंदर्य के बीच उसकी झलक देखने की कामना है—

"कभी लता सौंदर्य बीच में ही मिला, कभी कुसुम की नई कली ही में खिला
रमणीगण की मंद मंद मुस्कान में, अथवा संयत योगिराज के ध्यान में।
वह छबि दो दिखला मिट जाए भ्रम सभी, खुले हमारे नेत्र न फिर ललके कभी ॥[2]

—रामचंद्र शुक्ल बी० ए०।

इन पंक्तियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन और सफलता द्योतित होती है, कवियों की धार्मिक भावना ईश्वर का साकार स्वरूप न उपस्थित कर उसे सब वस्तुओं में व्याप्त देखती है। राम और कृष्ण के गुणगान से संतुष्ट न होकर इनका धार्मिक उत्साह जनता की सेवा में प्रवृत्त होता है और लोगों को उदार बनाता है। इसका यह आशय कदापि नहीं कि राम, कृष्ण आदि धार्मिक विभूतियों पर रचित कविताओं का सर्वथा अभाव है। यद्यपि रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय तथा अन्य कवि ऐसी कविताएँ लिखते हैं तथापि यह सर्वसामान्य प्रवृत्ति नहीं लक्षित होती।

उपदेशात्मक तथा नैतिक कविताओं का क्रमशः अभाव दूसरा परिवर्तन है। विभिन्न संप्रदायों के धार्मिक विचार के पद्यात्मक रूप का भी अभाव है। द्वितीय उत्थान के कवि कोरी

(१) सरस्वती, खंड १८, संख्या ६, सन् १९१७।
(२) " खंड १८, संख्या २, सन् १९१७।

नैतिक कविताओं को अपने क्षेत्र के अंतर्गत नहीं मानते। इनका काम सौंदर्य तथा सत्य का गुणगान है। इन कवियों का विश्वास है कि इस क्षेत्र की भावानुभूति और सचाई कभी निष्फल नहीं हो सकती। इसीलिए द्वितीय उत्थान में निम्नलिखित प्रकार की कोरी नैतिक कविताओं का क्रमशः लोप हो गया—

"विप्र धर्म को भूलि तेजहत बंस लजावै,
क्षत्रिय धर्म बिसार दीन ह्वै निंदा पावै।
वैश्य तजै जो धर्म सुखन को मूळ गँवावै,
शूद्र धर्म-प्रतिकूल मनुज-श्रेणी ते जावै॥

सो धर्म किए ही परम सुख संतन जो नित मन धर्यो।
परलोक नसायो भ्रांति-बस जेहि अधर्म सपने कर्यो॥"[१]–पूर्ण

"सोया उसने ही है खोया, जागा उसने पाया है।
सोच आत्मकर्तव्य एक क्षण, क्यों इस जग में आया है॥
अति अगाध माया में फँसकर पाप बीज क्यों बोता है।
रे मन मूढ़ चेत कर झटपट, मोह-नींद क्यों सोता है॥"[२]

—लोचनप्रसाद पांडेय।

विषय को रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए हिंदी के कवि अन्योक्तियों का आश्रय सदा से लेते आए हैं। द्वितीय उत्थान के कवियों ने भी इनका उपयोग किया है। बहुत से कवियों (विशेषतया बदरीनाथ भट्ट) ने आध्यात्मिकता की ओर संकेत करनेवाली अन्योक्तियाँ भी बनाई हैं। इन अन्योक्तियों का विषय जीवन की क्षणिकता, मनुष्य का अहंकार और सांसारिक माया-मोह है।

---

(१) पूर्ण-संग्रह, पृ० १८४।

(२) सरस्वती, खंड २०, संख्या ५, सन् १९१९।

बदरीनाथ भट्ट अन्योक्तियों के बड़े प्रेमी हैं। इनकी अन्योक्तियाँ काव्यत्व से पूर्ण हैं। निम्नलिखित अन्योक्ति में मनुष्य के अहंकार की ओर संकेत किया गया है—

"सागर में तिनका है बहता।
उछल रहा है लहरों के बल 'मैं हूँ मैं हूँ' कहता॥
धोखे ही धोखे में मित्रों अपने को खोवेगा।
जिस गोदी में उछल रहा है, उसमें ही सोवेगा॥"[1]

इसी प्रकार रायकृष्णदास अपनी आत्मा को भौतिकता से सावधान करते हैं। इस सुनहले संसार में बंदी न बनने के लिए ये राजहंस को चेतावनी देते हैं। आत्मा का सच्चा निवासस्थान संसार नहीं है—

"हे राजहंस, यह कौन चाल।
तू पिंजरबद्ध चला होने बनने अपना ही आप काल।
यह है कंचन का बना हुआ तू इससे मोहितमना हुआ॥
कनकाब्जप्रसवि मानस भी है उसको विस्मृत मत कर मराल॥"[2]

द्वितीय उत्थान में ऐसी विशिष्ट प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं जिनमें न नैतिक उपदेश है और न धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन ही। ये रचनाएँ भक्त की विनय और भावातिरेक से समन्वित उपासना के मुक्तक गीत हैं। इन मुक्तक गीतों में ईश्वर के प्रति सच्चा आत्मसमर्पण है। इन गीतों के कवियों को स्वर्ग की इच्छा नहीं है। ये आत्मसमर्पण कर आत्मविभोर हैं। सियारामशरण गुप्त अपना हृदय बड़ी विनय के साथ ईश्वर को अर्पित करते हैं—

---

(१) सरस्वती खंड १७, संख्या ४, सन् १९१६।
(२) ,, खंड १९, संख्या ५, सन् १९१८।

"करो नाथ स्वीकार आज इस हृदय-कुसुम को।
करें और क्या भेंट राजराजेश्वर तुमको॥
इष्ट नहीं है इसे कि धारण करो हृदय पर।
निज मंदिर में ठौर कहीं दो इसको प्रभुवर॥"[1]

'मुकुटधर' उसकी झलक के लिए लालायित हैं। इनका हृदय मौन वीणा के समान उसके सामने खुला पड़ा है। कवि नूतन स्वर का प्रार्थी है—

"मानस-भवन पड़ा है सूना, तमोधाम का बना नमूना।
कर उसमें प्रकाश अब दूना, मेरी उग्र वेदना हर जा॥
मोहित तुझको करनेवाली, नहीं आज मुख की वह लाली।
हृदय यंत्र पर रक्खा खाली, अब नूतन सुर उसमें भर जा॥"[2]

द्वितीय उत्थान के अंतिम भाग में इन मुक्तक गीतों में कुछ रहस्यात्मकता भी आ गई है। हम इस समय के कई कवियों को रहस्योन्मुख पाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों में रहस्योन्मुख भावना का संकेत मिलता है। कवि को उसके दर्शन नहीं मिल सके। मंदिर के द्वारपर से अपार भीड़ के कारण उसे निराश लौटना पड़ा, परंतु वह कवि को अपनी कुटिया में हँसता मिल जाता है—

"तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं॥
बीत चुकी है बेलासारी, किंतु न आई मेरी बारी।
करूँ कुटी की अब तय्यारी, वहीं बैठ पछताऊँ॥

---

(१) सरस्वती, खंड २० संख्या ४, सन् १९१९।
(२) ,, खंड १९ संख्या ४, सन् १९१८।

कुटी खोल भीतर आता हूँ, तो वैसा ही रह जाता हूँ।
तुझको यह कहते पाता हूँ 'अतिथि' कहो क्या लाऊँ मैं॥"१

'मुकुटधर' में रहस्योन्मुख प्रेम दिखाई पड़ता है। कवि रहस्यात्मक सत्ता का प्रेमी है। भीड़ के सामने, कवि को उसके संमुख होते लाज लगती है। कवि शून्य में मौन रूप से उसकी उपासना इस प्रकार करना चाहता है कि प्रिय भी उसकी आवाज़ न सुन सके--

"होने में तव सन्मुख आज, नाथ सताती मुझको लाज।
पुनः यहाँ तो भरा समाज, नाथ सताती मुझको लाज।
जब संध्याको हट जावेगी भीड़ महान, तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निजगान।
नहीं तीसरे का कुछ काज, नाथ सताती मुझको लाज।
शून्य कक्षमें अथवा कोने ही में एक, करूँ तुम्हारा बैठ यहाँ नीरव अभिषेक।
सुनो न तुम भी वह आवाज, नाथ सताती मुझको लाज।"२॥

निम्नलिखित पंक्तियों में 'रहस्यात्मक खोज' व्यक्त हुई है। रात के अँधेरे में जुगनू दीपक जलाकर उसी प्रियतम की खोज में व्यस्त है। प्रातःकाल का पवन उसी का संदेश लाकर सुप्त प्रकृति को नवजीवन देता है। सूफियों के समान कवि को सारी प्रकृति उसी की खोज में चक्कर काटती दिखाई पड़ती है—

"अंधकार में दीप जलाकर किसकी खोज किया करते हो।
तुम खद्योत क्षुद्र हो तब फिर तुम क्यों ऐसा दम भरते हो॥
तम में ये नक्षत्र आज तक घूम रहे हैं उसके कारण।
उसका पता कहाँ है किसको होगा यह रहस्य उद्घाटन॥
प्रातःकाल पवन लाती है उसका कुछ संदेश॥
मूल प्रकृति को ही कह जाती है उसका संदेश॥

(१) सरस्वती, खंड १९, संख्या ५, सन् १९१८।
(२) सरस्वती, खंड २१, संख्या ४, सन् १९२०।

क्षण भर में तब जड़ में हो जाता चैतन्य-विकास।
वृक्षों पर विकसित फूलों का होता हास-विलास॥"[1]

द्वितीय उत्थान की धार्मिक कविता का उत्कर्ष रहस्यात्मक प्रवृत्ति है। हमें इसके क्रमिक विकास के दर्शन होते हैं। विश्व-प्रेम और जनसेवा स्वतः रहस्यात्मक मनोदृष्टि प्रदान करती हैं। मानवतावाद का आदर्श इसे और भी प्रेरणा प्रदान करता है इसलिए द्विवेदी-युग में मानवतावादी कविताओं का रहस्यवादी कविताओं में परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं है। इस समय के (उपासना के) मुक्तक गीतों के भावातिरेक में रहस्यवाद के बीज वर्तमान हैं। द्वितीय उत्थान के कवियों पर रवींद्रनाथ ठाकुर के रहस्यात्मक गीतों का अधिक प्रभाव पड़ा है।

द्वितीय उत्थान के अंतिम वर्षों के रहस्यात्मक संकेतों ने तृतीय उत्थान में महत्त्वपूर्ण सामान्य प्रवृत्ति का रूप धारण किया। इसलिए इस प्रवृत्ति का व्यापक विवरण तृतीय उत्थान में सुविधाजनक होगा।

द्वितीय उत्थान की धार्मिक कविता का यह संक्षिप्त विकास है। भारतेंदु-युग की धार्मिक कविता से यह निस्संदेह अधिक उन्नत है। उपदेशात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर कवियों ने मानवतावाद को ग्रहण किया। उदारता और व्यापक मनोदृष्टि इस समय की धार्मिक कविता के विशेष लक्षण हैं। अन्योक्तियाँ सौंदर्यपूर्ण हैं और उनमें काव्यत्व है। इन कवियों के रहस्यात्मक मुक्तक गीतों ने तृतीय उत्थान की कविता को अत्यधिक प्रभावित किया। कवियों की यह सफलता साधारण नहीं है। विश्वप्रेम और जन-सेवा की भावना द्वारा द्वितीय उत्थान के कवियों ने धार्मिक कविता को अधिक उन्नतिशील बनाया।

---

(१) सरस्वती खंड २१, संख्या ३, सन् १९२०।

देशभक्ति की कविता

द्वितीय उत्थान की देशभक्ति-संबंधी रचना का क्षेत्र भारतेंदु-युग की देशभक्ति-विषयक कविता से अधिक व्यापक है। भारतेंदु-युग की देशभक्ति प्राचीन हिंदू इतिहास तथा परंपरा की ओर अधिक संकेत करती है। द्वितीय उत्थान के कवियों का ध्यान अतीत से अधिक वर्तमान की ओर है। इस समय के कवियों की मनोदृष्टि अधिक यथार्थवादिनी है और इसीसे ये सामान्य जनता को कभी नहीं भूलते। भारतेंदु-युग के कवियों ने गरीब किसान और मज़दूरों की चर्चा मात्र की, परन्तु द्विवेदी-युग के कवियों के ये प्रधान वर्ण्य विषय हैं। भारत की गरीब जनता की ओर से ये कवि विमुख नहीं हैं।

द्विवेदी-युग के कवियों की मनोदृष्टि भी परिवर्तित हो गई है। भारतेंदु-युगके कवियों के विपरीत इन कवियों का विश्वास प्रार्थना से अधिक देशवासियों में है। ये देशवासियों को मातृभूमि की उन्नति के लिए आमंत्रित करते हैं। ये कवि समस्त जनता—विद्यार्थी, मज़दूर, किसान—को देश की स्वतंत्रता और समृद्धि के लिए आत्मबलि कर देने को प्रेरित करते हैं। क्रांतिवाद—जो तृतीय उत्थान की विशिष्ट प्रवृत्ति है—के कुछ चिह्न इस समय प्रकट हो रहे थे।

कवियों का एकता के लिए विशेष आग्रह है। सांप्रदायिक सामंजस्य और सदिच्छा के लिए कवि विशेष रूप से यत्नशील हैं। भारत की उन्नति के लिए ये कवि सभी जातियों में सच्चा मेल चाहते हैं। स्वदेशी को उन्नति का साधन जानकर ये कवि इस

पर विशेष ज़ोर देते हैं। कवि अपने मार्ग की कठिनाइयों से अच्छी तरह परिचित हैं और इनके दमन का यत्न करते हैं।

इस समय की बहुत सी रचनाओं में मातृभूमि के प्रति स्वाभाविक प्रेम मिलता है। मातृभूमि के सौंदर्य ने सभी देश और काल के कवियों को प्रेरणा प्रदान की है। भारत देश का भी अपना सौंदर्य है। तरंगाकुल समुद्र, प्रफुल्लवनराजि विंध्याचल, धवल किरीट हिमालय और सदानीरा सरिताओं ने प्राचीन काल से कवियों को मोहित कर रखा है और आज भी उनका ऐसा ही प्रभाव है। इस युग के बहुत से कवि देश के सौंदर्य-गान में मग्न हैं।

इन कवियों में श्रीधर पाठक प्रमुख हैं। इनका 'भारत गीत' वास्तव में भारत के सौंदर्य का गीत है। इसमें ऐसे मुक्तक गीतों के बाहुल्य का प्रधान कारण कवि का प्रकृति-प्रेम है। कवि मातृभूमि की प्राकृतिक शोभा का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में कर रहा है—

"बंदहु मातृ भारत - धरनि।
सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि तेज तपमय तरनि।
सरित वन कृषि भरित भुवछवि सरस कवि-मनहरनि।"[१]

रामचरित उपाध्याय भी इसी प्रकार भारत की महिमा का गान कर रहे हैं—

"जय जय भारत पुन्यनिधान।
इस त्रिभुवन में अन्य देश क्या तेरे सम मान।
दुर्गम दुर्ग बने हैं तेरे विंध्य हिमाचल अचल अभी।
अविचल खाई है वारिधि की तनिक न होना विकल कभी॥"[२]

---

(१) मनोविनोद, पृष्ठ १५।

(२) 'भव्य भारत'—सरस्वती, खंड २१, संख्या ६, सन् १९२०

रामनरेश त्रिपाठी को उस देश में जन्म लेने का अभिमान है 'जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है' और उत्तर में हिम-मंडित गिरिराज है—

"जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
उत्तर में हिमराशि रूप सर्वोच्च शिखर है॥
जिसमें प्रकृति-विकास रम्य ऋतुक्रम उत्तम है।
जीव जन्तु फल फूल शस्य अद्भुत अनुपम है॥
पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है।
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है॥"[1]

इस प्रकार की रचनाएँ बहुत हैं, अतः अधिक उद्धरण अनावश्यक हैं। उपर्युक्त उद्धरण मातृभूमि की प्राकृतिक शोभा के गुण-गान की प्रवृत्ति प्रकट करने के लिए पर्याप्त हैं। ये रचनाएँ इस बात का प्रमाण देती हैं कि देश की नैसर्गिक शोभा आज भी कवियों को उत्फुल्ल करती है। इन देशभक्त कवियों का भारत-प्रेम भक्ति का रूप धारण कर लेता है। यह प्रवृत्ति बहुत ही सौंदर्यपूर्ण मुक्तक गीतों में व्यक्त हुई है।

अतीत का 'स्वर्णयुग' द्वितीय उत्थान में भी कवियों की कल्पना को स्फुरित करता है। इससे कवियों में आत्मसंमान और आत्मनिर्भरता आई। इसने संकट के समय में उत्साह और साहस दिया। इसी से कवियों को अपनी सफलता में विश्वास है। अतीत की भव्यता कवियों के हृदय में आशा का संचार करती है और उन्हें देश के आशापूर्ण भविष्य का विश्वास दिलाती है। अतीत का प्रेम द्वितीय उत्थान के कवियों में भी है, यद्यपि ये वर्तमान अवस्था से अपरिचित नहीं हैं। प्राचीन

---

(१) 'जन्मभूमि भारत'—सरस्वती, खंड १५, सं० १, सन् १९१४

भव्यता के विरोध में वर्तमान की दुरवस्था और भी दारुण बनकर कवियों को व्यथित करती है।

भारत की वर्तमान दुर्दशा गोपालशरणसिंह को दुःखी बनाती है। गौतम, कणाद की जन्मभूमि आज कितनी परिवर्तित हो गई। कवि आज की तुलना उन बीते दिनों से कर रहा है—

"गौतम कणाद से जहाँ हुए थे ज्ञानी,
जिसमें दधीचि शिवि सदृश हुए थे दानी।
जो मानी गई सदैव विश्व की रानी,
था जग में कोई देश न जिसका सानी॥
जिसके अधीन थीं ऋद्धि सिद्धियाँ सारी,
वह भारतभूमि क्या यही हमारी प्यारी॥"[1]

सियारामशरण गुप्त भी आज के अधःपतन का चित्र प्राचीन भव्यता की भूमिका में अंकित कर रहे हैं—

"संसार भर में यह हमारा देश ही सिरमौर था।
सौंदर्य में सुख-शांति में ऐसा न कोई और था॥
निष्पक्ष होकर मानते हैं बात यह साक्षर सभी।
सर्वोच्च उन्नति के शिखर पर स्थित रहा था यह कभी॥
बल बुद्धि वीर्य सभी हमारा हो चुका निःशेष है।
जातीयता तो नाम को भी अब न हममें शेष है॥"[2]

मैथिलीशरण गुप्त भी संसार द्वारा संमानित प्राचीन भारत को श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं—

"जगत ने जिसके पद थे छुए, सकल देश ऋणी जिसके हुए।
ललित लाभ कला सब थी जहाँ, वह हरे! अब भारत है कहाँ॥"[3]

---

(१) 'पूर्व भारत'—सरस्वती, खंड २६, संख्या ४, सन् १९२५
(२) 'हमारा हर्ष'—सरस्वती, खंड १४, संख्या ४, सन् १९१३।
(३) 'प्राचीन भारत'—सरस्वती, खंड ११, संख्या १, सन् १९१०।

मैथिलीशरणगुप्त की रचनाएँ कवि का अतीत-प्रेम प्रकट करती हैं। इसकी पूरी अभिव्यक्ति 'भारत-भारती' में हुई है। द्वितीय उत्थान के प्रतिनिधि कवि के नाते गुप्तजी ने जनता की मौन भावना को वाणी दी। इनकी यह विशेषता इस पुस्तक में भी लक्षित होती है। इसके द्वारा इनकी विशेष ख्याति हुई। यह पुस्तक हाली के 'मद्दोजज़र इस्लाम' के उदाहरण पर लिखी गई है और इसमें भारत के प्राचीन गौरव, वर्तमान दुरवस्था और आशापूर्ण भविष्य के चित्र हैं। इतिवृत्तात्मक होते हुए भी 'भारत-भारती' नवयुवकों में अत्यंत लोकप्रिय हुई।

अतीत के सुनहले स्वप्नों को देखते हुए भी द्वितीय उत्थान के कवि स्वप्नलोक में भूले हुए नहीं हैं। ये वास्तविकता से अभिज्ञ हैं और वर्तमान दुःखद अवस्था से भी उदासीन नहीं हैं। देश की गरीबी इन कवियों के सामने नाच रही हैं। कवि किसान और मज़दूरों का वर्णन भावुकता और सचाई के साथ करते हैं। इनकी गरीबी, अशिक्षा, विवशता और दुर्दशा कवियों की अधिकांश रचनाओं के मुख्य विषय हैं। इन प्रभावशाली रचनाओं के तल में आर्थिक चेतना छिपी है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' भारत की गरीबी का वर्णन निम्नलिखित कुण्डलिया में कर रहे हैं—

"यथा चंद्र बिन जामिनी, भवन भामिनीहीन।
भारत लक्ष्मी बिन तथा है सूना अति दीन॥
है सूना अति दीन संपदा सुख से रीता।
है आश्चर्य अपार कि वह है कैसे जीता॥
सुनो रमापति हाय प्रजा धनहीन रैन-दिन।
है अति व्याकुल वृंद कुमुद के यथा चंद बिन॥"[1]

(१) पूर्ण-संग्रह, पृष्ठ २०७।

लक्ष्मणसिंह भी भारत की दुरवस्था का ओजपूर्ण वर्णन करते हैं—

"अन्न नहीं अब विपुल देश में काल पड़ा है।
पापी पामर प्लेग पसारे पाँव पड़ा है॥
दिन दिन नई विपत्ति मर्म सब काट रही है।
उदरानल की लपट कलेजा चाट रही है॥"[1]

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की समानुभूति किसानों के प्रति स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित है। गाँववालों की दुर्दशा के चित्र इनकी रचनाओं में बहुत मिलते हैं। कवि को इनकी दीनता और दुरवस्था से पूरी समानुभूति है—

"हो न अगर विश्वास आप गाँवों में जाएँ।
देखें यदि दुर्दशा कलेजा थामे आएँ॥
आती हैं नित नई सिरों पर हाय बलायें।
बच्चे दाबे हुए बगल में भूखी मायें॥
भग्न हृदय हैं नग्न सी खेत निराने में लगीं।
साग पात जो कुछ मिला उसके खाने में लगीं॥"[2]

कवि जमींदार द्वारा अनाज छीन लिए जाने पर किसानों की मनोव्यथा का बड़ा मार्मिक चित्रण करता है। दिन-रात अपनी हड्डियाँ घुलाने पर भी वे परिश्रम के फल से वंचित रह जाते हैं। वे अपने खेतों को अपना नहीं कह सकते—

"चले आओ ऐ बादलो आओ आओ, तुम्हीं आके दो-चार आँसू बहाओ।
दुखी हैं तुम्हारे कृषक दुख बटाओ, न जो बन पड़े कुछ तो बिजली गिराओ॥"

---

(१) 'जननी जन्मभूमि पूजन'—सरस्वती, खंड १४, संख्या १२, १९१३
(२) 'दुखिया किसान'—सरस्वती, खंड १९, संख्या १२ सन् १९१८।

न रोएँगे हम धज्जियाँ तुम उड़ा दो।
किसी भाँति आपत्ति से तो छुड़ा दो॥
ज़मीं जिसमें दिन-रात यों सिर खपायें, उसे खाद दे हड्डियाँ तक घुलायें।
मगर हाय कुछ लाभ लेने न पायें, जमींदार बेदख्ल कर दें छुड़ायें॥
हमें प्राण से भी अधिक है जो प्यारी।
न आखिर को हो सकती है वह हमारी॥"[1]

रामचरित उपाध्याय उन लोगों की कटु आलोचना करते हैं जो किसानों की दुरवस्था को हँसी में टालना चाहते हैं। किसान होने पर ही उनको किसानों का सच्चा हाल ज्ञात होता—

"यदि तुम होते दीन कृषक तो आँख तुम्हारी खुल जाती।
जेठ घाम में अस्थि तुम्हारी तप्त स्वेद में घुल जाती॥
दानों बिना भटकते फिरते हरदम दुखड़े गाते तुम।
मुख से बात न आती कैसे बढ़कर बात बनाते तुम॥"[2]

किसानों के प्रति सबसे अधिक सहानुभूति मैथिलीशरण गुप्त में है। किसानों पर इनकी बहुत सी रचनाएँ हैं। 'किसान' कृषकों की समस्या का चित्र उपस्थित करता है। कवि की (किसानों के प्रति) सहानुभूति 'साकेत' की प्राचीन कथा के बीच भी उमड़ पड़ी है। 'साकेत' में किसानों की समस्या अन्य आधुनिक समस्याओं की अपेक्षा अधिक प्रमुख है। यहाँ पर उनकी स्वतंत्र रचना से किसानों की दुरवस्था की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

'पाया हमने प्रभो कौन सा त्रास नहीं है।
क्या अब भी परिपूर्ण हमारा ह्रास नहीं है॥

---

(१) 'आर्त कृषक'—सरस्वती, खंड १५, संख्या ४, सन् १९१४।
(२) 'शून्य हृदय'—सरस्वती, खंड १९, संख्या १, सन् १९१८।

मिला हमें क्या यहीं नरक का वास नहीं है।
विष खाने को हाय टका भी पास नहीं है॥
कृषि निंदक मर जाय अभी यदि हो वह जीता।
पर वह गौरव समय कभी का है अबीता॥"[1]

कवि उनकी अशिक्षा का चित्रण करता है—

"शिक्षा को हम और हमें शिक्षा रोती है।
पूरी बस वह घास खोदने में होती है॥
यहाँ कहाँ विज्ञान रसायन भी सोती है।
हुआ हमारे लिए एक दाना मोती है॥"[2]

किसानों की दुरवस्था के ये चित्र निष्प्रयोजन नहीं हैं। ये रचनाएँ जनता को इनकी दशा सुधारने की प्रेरणा करती हैं और इस प्रकार देश की उन्नति में सहायता पहुँचाती हैं। इन रचनाओं से देशवासियों को भारत के सुदिन लाने की उत्तेजना मिलती है। इसलिए कवियों के इन उद्गारों को हम निष्फल नहीं कह सकते।

क्रांतिवाद की प्रवृत्ति के कुछ लक्षण इस समय दिखाई पड़ रहे थे। यह प्रवृत्ति अभी अविकसित दशा में थी। कुछ कवि वर्तमान सभ्यता की अन्यायपूर्ण प्रगति का कटु अनुभव कर उसकी तीव्र आलोचना कर रहे हैं। इन कवियों को उस नव-प्रभात पर विश्वास है जिसमें मनुष्य रूढ़ियों से मुक्त होगा। इस प्रकार पं० केशवप्रसाद मिश्र धनिकों की सहायक सभ्यता की आलोचना करते हैं। यदि पूर्ण मानवता इस सभ्यता से लाभ न उठा सकी तो इस सभ्यता का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं—

(१) 'कृषक-कथा'—सरस्वती, खंड १६, संख्या १, सन् १९१५।
(२) 'भारतीय कृषक'—सरस्वती, खंड १७, संख्या ५, सन् १९१६।

"अगर सभ्यता आज भरे ही को है भरना।
नहीं भूलकर कभी गरीबों का हित करना॥
तो सौ सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी।
जीव मात्र को लाभ नहीं तो समता कैसी॥"[1]

यह क्रांतिवाद की आरंभिक झलक है। ऐसे विचार यदा कदा ही अभिव्यक्त हुए हैं। हम 'तरुण' को प्राचीन प्रणाली के नाश और सत्य की विजय पर विश्वास दिलाते देखते हैं। मनुष्य की उन्नति का मार्ग बाधाहीन हो जायगा और दासता के पाश कट जायँगे तथा अंधविश्वास को कहीं शरण न मिलेगी—

"उन्मूलित आमूल जीर्ण हो ही जावेगा।
निश्चय ही वह नाश कभी आगे पावेगा॥
नर उन्नति के विघ्न सभी झट हट जावेंगे।
उसके निष्ठुर निगड़ सहज ही कट जावेंगे॥
सत्य शक्ति संचार विश्व में हो जावेगा।
अंधभक्ति भांडार कहीं न स्थिति पावेगा॥"[2]

विश्वनाथसिंह विद्यार्थी, मजदूर और कृषकों को जागरित होकर संगठित होने के लिए कह रहे हैं। आँसू बहाने से कुछ न होगा। ये ही तो सच्चा राष्ट्र बनाते हैं—

"विद्यार्थी मज़दूर कृषक ही सच्चा राष्ट्र बनाते हैं।
उनके बिना राव राजागण कहीं नहीं कुछ कर पाते हैं॥
कृषको उठो, छात्रगण जागो, मजदूरो रोना छोड़ो।
अपना सच्चा रूप देख लो गली गली रोना छोड़ो॥"[3]

---

(१) 'वर्षा और निर्धन'— सरस्वती खंड १६, संख्या १, सन् १९१५।
(२) 'भविष्यद्वाणी'—सरस्वती खंड १७, संख्या ५, सन् १९१६।
(३) 'छोटों का काम'—सरस्वती, खंड १८, संख्या ५, सन् १९१७।

भारत की उन्नति के लिए ये कवि सभी प्रकार के लोगों को जगाने का यत्न कर रहे हैं। प्रार्थना के दिन अब चले गये। कवियों का विश्वास है कि केवल देशवासी ही देश का उद्धार कर सकते हैं। फलतः वे जागृति और संगठन का संदेश सुना रहे हैं। इन कवियों को छात्रों से सबसे अधिक आशा है। इनको नवयुवकों की तरुण और चंचल शक्ति में विश्वास है। ये विद्यार्थियों को मातृभूमि की उन्नति के लिए आमंत्रित करते हैं। श्रीधर पाठक विद्यार्थियों को सत्सेवा का व्रत धारण करने को कहते हैं—

"अहो छात्रवर-वृंद नव्य भारत-सुत प्यारे।
मातृगर्व-सर्वस्व मोदप्रद गोद-दुलारे॥
सतसेवा व्रत धार जगत् के हरो क्लेश तुम।
देश देश में करो प्रेम का अभिनिवेश तुम।
सुघर सुपूत सुमाता के लाड़िले लाल तुम।
भारत लाज-जहाज सुदृढ़ सुठि कर्णधार तुम।"

गोपालशरणसिंह विद्यार्थियों को 'मातृभूमि की आशा' कहते हैं। देश का दुःख ये ही दूर कर सकते हैं—

"प्यारी भारत भूमि चित्त में आशा धारे।
तुम लोगों पर दृष्टि सदा रखती है प्यारे।
है बस छात्रो हाथ तुम्हारे ही गति उसकी।
अवलंबित है तथा तुम्हीं पर उन्नति उसकी।
अपनी प्राणोपम जाति के तुम्हीं एक आधार हो।
कर भी सकते केवल तुम्हीं उसका बेड़ा पार हो॥"[1]

जनता को जगाने के साथ साथ द्वितीय उत्थान के कवि

(१) 'भारतीय विद्यार्थियों का कर्तव्य'—सरस्वती, खंड १६, संख्या २, सन् १९१५।

एकता के महत्त्व से भी अनभिज्ञ नहीं हैं, ये इसके महत्त्व को जानते हुए देश की विभिन्न जातियों में सदिच्छा और सहयोग की कामना करते हैं। हिंदू-मुसलमानों की एकता पर इन कवियों का विशेष आग्रह है, क्योंकि इसी एकता पर देश का भाग्य निर्भर है। द्वेषपूर्ण सांप्रदायिकता की वृद्धि से कवि चिंतित हैं। हिंदू-मुसलमानों में प्रेम के अभाव पर 'पूर्ण' दुःख प्रकट कर रहे हैं—

"दामनगीर निफाक़ है हाय हिंद अफसोस।
बिगड़ रहा अख़लाक़ है वाय हिंद अफसोस॥
वाय हिंद अफसोस ज़माना कैसा आया।
जिसने करके सितम भाइयों को छुड़वाया॥
मुसलमान हिंदुओ वही है कौमी दुश्मन।
जुदा जुदा जो करे फाड़कर चोली दामन॥"[1]

रामनरेश त्रिपाठी को एकता का विशेष आग्रह है। ये देश-वासियों को द्वेष छोड़ने और देश की उन्नति करने के लिए प्रेरित करते हैं—

"उठो त्याग दें द्वेष एक ही सबके मत हों,
सीख ज्ञान विज्ञान कला-कौशल उन्नत हों।
सुख सुधार संपत्ति शांति भारत में भर दें,
अपना जीवन इसे सहर्ष समर्पित कर दें।
भारत की उन्नति सिद्धि से हम सबका कल्याण है।
दृढ़ समझो इस सिद्धांत को हम शरीर यह प्राण है॥"[2]

रूपनारायण पांडे भी ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि

---

(१) पूर्ण संग्रह, पृष्ठ २१२।

(२) 'जन्मभूमि भारत'—सरस्वती, खंड १५, संख्या १, सन् १९१४

जातियों को आपस में भ्रातृभाव रखने के लिए कहते हैं। वे चाहते हैं कि विभिन्न जातियाँ भारत को अपनी मातृभूमि मानें—

"जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई भाई॥
पुण्यभूमि है, स्वर्गभूमि है, जन्मभूमि है देश वही।
इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं॥"[1]

द्वितीय उत्थान के कवियों की यह भावना समय के साथ बढ़ती ही गई। इन कवियों की देशभक्ति की कविता को हम किसी प्रकार सांप्रदायिक नहीं कह सकते।

इस समय की देशभक्ति की कविता का सबसे बड़ा महत्त्व मनोभाव के परिवर्तन में है। भारतेंदु-युग की निराशा के स्थान में इस समय आशा और विश्वास दिखाई पड़ता है। कवियों को अपने उद्देश्य की सफलता पर पूर्ण विश्वास है। इनमें शक्ति और साहस का पूर्ण संचार है। इस परिवर्तन का अधिक श्रेय मैथिलीशरण गुप्त की 'स्वर्गीय संगीत' तथा अन्य रचनाओं को है। ये रचनाएँ जागर्ति का संदेश सुनाने में पूर्णतया कृतकार्य हुई हैं।

द्वितीय उत्थान में हमें सर्वत्र आशा और स्फूर्ति दिखाई दे रही है। कवि अपने उद्देश्य की महत्ता जानते हुए और देशवासियों की कठिनाइयों से पूर्णतया परिचित होते हुए भी निराशा नहीं हैं। इनमें विश्वास और साहस है। रूपनारायण पांडे की निम्नलिखित पंक्तियों से यह स्पष्ट हो रहा है—

"कहते हैं सब लोग हमें हम दीन हीन हैं भिक्षुक हैं।
कुछ भी हो हम लोग अभी अच्छे बनने को इच्छुक हैं॥

(१) 'मातृमूर्ति'—सरस्वती, खंड १४, संख्या ६, सन् १९१३।

सच है वैभव रहा नहीं पर बुद्धि हमारी दीन नहीं।
पौरुष कम है मगर हुए हैं मनुष्यत्व से हीन नहीं॥"[1]

रामचरित उपाध्याय की निम्नलिखित पंक्तियों से आशा उमड़ी पड़ती है। इन्हें अच्छे दिनों के आने का पूरा भरोसा है—

"ज्योंही हुई पतझाड़ त्योंही पत्तियाँ उगने लगीं।
जग में जहाँ आई शरद सब मेघ-मालायें भगीं॥
जो गिर गया है वह उठेगा शीघ्र ही या देर में।
तू कर्म का है माननेवाला पड़ा किन फेर में॥
हो जायगा फिर भी समुन्नत सोच कुछ करना नहीं।
वर वीर भारत स्वप्न में भी विघ्न से डरना नहीं॥"[2]

ऐसा आशापूर्ण विश्वास बहुत बड़ी बात है। जनता के मनोभाव का परिवर्तन देश के भाग्य को बदल सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग की देशभक्ति की कविता में विविधता है और उसका क्षेत्र व्यापक है। भारतेंदु-युग के अंतिम भाग की अर्धविकसित प्रवृत्तियों का इस उत्थान में पूर्ण विकास दिखाई देता है। इस समय की देशभक्ति की कविता भारतेंदु-युग से अधिक उन्नत है। भारत से अब भारत-वासियों का आशय अधिक ग्रहण किया जाता है और भारत-भूमि का कम। कवियों का ध्यान अतीत से अधिक वर्तमान की ओर है। किसान और मजदूर इस समय की कविता के प्रधान विषय हैं।

भारतेंदु-युग और द्विवेदी-युग का क्रम लक्षित कराने के लिए संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रथम उत्थान देश की दुर्दशा का

---

(१) 'मातृमूर्ति'—सरस्वती, खंड १४, संख्या ६, सन् १९१३।
(२) 'आश्वासन'—सरस्वती, खंड १७, संख्या ५, सन् १९१६।

ज्ञान कराता है और द्वितीय में संगठन की सच्ची प्रेरणा उत्पन्न होती है। प्रथम उत्थान के कवियों को शासकों से सुधार की आशा थी जो कालांतर में निरर्थक सिद्ध हुई। द्वितीय उत्थान के कवियों को इस कटु सत्य का पूर्ण अनुभव था कि अधिकारों की भीख नहीं मिलती, अधिकारों की प्राप्ति और रक्षा दृढ़ हाथों से ही हो सकती है; और शक्ति संघटन के आश्रित है। कवि इसी से जन-संघटन और एकता की भावना भर रहे हैं। ये कवि देशवासियों के सामने एक उद्देश्य रखकर उन्हें एकता के सूत्र में बाँधने का यत्न कर रहे हैं। इनका उद्देश्य है मातृभूमि की उन्नति।

एकता और आशापूर्ण उत्साह द्विवेदी-युग की देशभक्ति की कविता की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। देशवासी अब स्वतंत्रता के लिए हँसते-हँसते आत्मबलि देने को तैयार थे।

द्वितीय उत्थान के क्रांतिवाद के संकेत तृतीय उत्थान में जाकर एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति में परिवर्तित हो गए। इसलिए क्रांतिवाद का विस्तृत विवेचन वहीं पर उपयुक्त होगा।

प्राकृतिक कविता

द्वितीय उत्थान में सर्वप्रथम स्वतंत्र रीति से प्रकृति-चित्रण आरंभ हुआ। इस समय के प्राकृतिक चित्रण में नवीन दृष्टि दिखाई पड़ती है। कवियों ने प्रकृति को काव्य में समुचित स्थान प्रदान किया। इनमें सच्चा प्रकृति-प्रेम है।

द्वितीय उत्थान से पूर्व प्रकृति-चित्रण परंपरागत था। इससे पूर्व कवियों ने प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण बहुत कम किया है। प्रकृति का उपयोग अधिकतर प्रेम की भावना को उद्बुद्ध और उत्तेजित करने के लिए हुआ है। साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली में हम यों कह सकते हैं कि इससे पूर्व प्रकृति का उद्दीपन रूप में ही चित्रण हुआ है, आलंबन रूप में चित्रण बहुत कम। इस प्रकार वर्षा और वसंत भारत की दो सबसे अधिक रमणीक ऋतुओं की शोभा की ओर तो कवियों का ध्यान बहुत कम है, परंतु इन ऋतुओं में संयोग की प्रसन्नता और वियोग की पीड़ा का वर्णन अधिक मिलता है। नैतिकता का उपदेश देने के लिए भी कवियों ने प्रकृति को साधन बनाया है। इसके आगे इन कवियों को प्रकृति निस्सार प्रतीत हुई और इन्होंने प्रकृति को आलंबन मानकर उसकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति की चेष्टा नहीं की

रीतिकाल की प्रकृति-संबंधी यह रूढ़ि भारतेंदु-युग में भी लक्षित होती है। इस समय भी प्रकृति के स्वच्छंद सौंदर्य पर काव्योद्गार के दर्शन बहुत कम होते हैं। कवि अपनी अलंकार-पटुता दिखाने की प्रकृति का उपयोग अवश्य करते हैं, यद्यपि इन

अलंकारों से प्रस्तुत की सौंदर्यानुभूति में कोई सहायता नहीं मिलती।

"मनु जुग पच्छ पतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल।
कै तारागण उगत लुकत प्रकटत ससि अविकल॥
कै कालिंदी-नीर तरंग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन-हित तासो धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जग उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत॥"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों के उपमान प्रकृति के स्वरूप की शोभा नहीं बढ़ा रहे हैं। चंद्रमा की मल्ल से तुलना प्रकृति वर्णन की सजीवता या प्रभाव को नहीं बढ़ाती। ये अलंकार ऊपर से आरोपित हैं और विषय की अनुभूति में सहायक नहीं हैं। यही इस समय की सामान्य प्रवृत्ति है और कवियों में प्रकृति-दर्शन से कोई स्फूर्ति नहीं जगती।

ठाकुर जगमोहनसिंह भारतेंदु-युग की इस प्रवृत्ति के अपवाद हैं। इनकी दृष्टि प्रकृति की ओर है और इन्होंने प्रकृति का सजीव चित्र खींचा है। कवि को अपनी जन्मभूमि, विंध्य के रमणीक प्रदेश के परिचित स्थलों से अगाध प्रेम है। आस-पास के पहाड़, गाँव के निकट से बहती हुई सरिता कवि को परम प्रिय हैं। कवि अपने प्रेम की व्यथा का निवेदन इनसे करता है और इनसे सहायता माँगता है, ये कवि को उसके शैशव की स्मृति दिलाकर उसे शांति पहुँचाते हैं। अरपा नदी से कवि इस प्रकार सहायता की याचना करता है—

"संयम तेरे ही भोग करे सुनु जोग-नदी न हरै किमि सोगहिं।
भूलि गईं बतियाँ तु हि वे जब बालुका पौढ़ि हरे जिय रोगहिं॥

(१) भारतेंदु-नाटकावली, पृष्ठ ५५८।

तोसों नहीं विकराल सु ओर सों तोरि औ फोरि पहार करोरहिं।
क्यों अब दीन्हें बिसार अरी जगमोहन स्यामा मिलावै सु क्यों नहिं॥"[1]

निम्नलिखित सवैया में अरपा का वर्णन किया गया है—

"अरपा सलिल अति विमल विलोल तोर सरपा सी चाल बन जामुन ह्वै लहरै।
तरल तरंग उर बाढ़त उमंग भारी कारे से करोरन करोर कोटि कहरै॥
तुम तो पियारी अंग परसि सुहागिन ह्वै हमसे अभागिन की दाहन को सहरै।
तुरतै बयार संग प्रान जगमोहन के सीतल कै हीतल कनूकै क्यों न बिहरै॥

निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने ऊँचे पहाड़ का चित्र अंकित किया है—

"पहार अपार कैलास से कोटिन ऊँची शिखा लगि अंबर चूम।
निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरि जात उतंगता ऊपर झूम॥
प्रकाश पतंग सों चोटिन के बिकसै अरविंद मलिंद सुझूम।
लसै कटि मेखला के जगमोहन कारी घटा घन घोरत धूम॥"

जगमोहनसिंह ने दंडकारण्य का चित्रात्मक वर्णन किया है। चतुर्दिक प्रसरित शोभा का बड़ा मधुर और काव्योपयुक्त वर्णन हुआ है। कवि का प्रकृति-प्रेम निम्नलिखित पंक्तियों में छलक रहा है—

"याही मग ह्वै कै गए दंडक बन श्रीराम।
तासों पावन देश यह विंध्याटवी ललाम॥
विंध्याटवी ललाम तीर तरुवर सों छाई।
केतकि कैरव कुमुद कमल के बदन सुहाई॥
मन जगमोहनसिंह न शोभा जात सराही।
ऐसो बन रमनीय गए रघुबर मग याही॥

(१) श्यामा-सरोजिनी, भारतजीवन प्रेस, सन् १८८७।

बहत महानद जोगिनी शिव नद तरल तरंग।
कंक गृध्र कंचन निकर जहँ गिरि अतिहि उतंग॥
जहँ गिरि अतिहि उतंग लसत शृंगन मन भाए।
जिन पै बहु मृग चरहिं मिष्ट तृण नीर लुभाए॥
सघन वृच्छ तरुलता मिले गहवर धर उलहत।
जिनमें सूरज-किरन पत्र-रंध्रन नहिं निबहत॥"[१]

ठाकुर जगमोहनसिंह की यह स्वकीय विशेषता है जो अन्य समकालीन कवियों में नहीं मिलती।

इसी प्रकार का स्वतंत्र चित्रण प्रतापसिंह जू देव की निम्नलिखित पंक्तियों में भी मिलता है। इसमें ग्रीष्म ऋतु में नैनीताल का वर्णन है—

"तुंग पयोद लसै गिरि शृंग तैं आवत सीतलता बगरावत।
त्यों तरु जूहन पै बिरमाय रहे सुख साजहिं को सरसावत॥
मंजु दरी निकसी जलधार धँसै पुनि सीकर संग लै धावत।
ग्रीषम हू मैं कँपावत गात सुवात हिमाचल ह्वै जनु आवत॥"[२]

बालमुकुंद गुप्त में गाँवों की प्राकृतिक सुषमा के प्रति प्रेम है। 'वसंतोत्सव' में कवि का प्रकृति-प्रेम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भारतीय गाँवों के सरल जीवन पर कवि मुग्ध है। ग्रामजीवन और गाँवों की छटा का निम्नलिखित पंक्तियों में बड़ा सजीव वर्णन हुआ है—

"कोसों तक पृथ्वी पर रहती सरसों छाई,
देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखाई।

(१) श्यामा-स्वप्न, एडुकेशन सोसायटी प्रेस, सन् १८८८।

(२) नागरी-नीरद, संख्या ४७, ३ अगस्त सन् १८९३।

सुंदर सुंदर फूल वह उसके चित्र लुभाने,
बीच बीच में खेत गेहूँ जौ के मनभाने।
वह बबूल की छाया मन को हरनेवाली,
वह पीले पीले फूलों की छटा निराली॥
आस-पास पालों के वट वृक्षों का झूमर,
जिसके नीचे वह गायों भैंसों का पोखर।
ग्वाल बाल सब जिनके नीचे खेल मचाते,
बूट चने के लाते होले करते खाते॥
पशुगण जिनके तले बैठ के आनंद करते,
पानी पीते पगुराते स्वच्छंद विचरते॥"[1]

कवि ऐसे शांतिदायक मनोरम गाँवों के लिए लालायित हो रहा है—

"कहाँ गए वह गाँव मनोहर परम सुहाने।
सबके प्यारे परम शांतिदायक मन-माने॥"[2]

बालमुकुंद गुप्त ने इसी प्रकार का सौंदर्यपूर्ण वर्णन वर्षा का भी किया है।

भारतेंदु-युग में ऐसी रचनाएँ बहुत कम देखने में आती हैं जिनमें प्रकृति को प्यारभरी दृष्टि से देखकर कवि को अंतस से रचना की प्रेरणा मिली हो। अधिकांश रचनाएँ फीकी हैं। उनमें न सजीवता है और न कवि का सच्चा प्रकृति-प्रेम ही। उनमें केवल अलंकारों की छटा और परंपरागत वर्णन मिलते हैं। अधिकांश कवि प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध होकर प्रकृति-वर्णन नहीं

(१) स्फुट कविता—वसंतोत्सव, पृष्ठ ७३।
(२) स्फुट कविता—वसंतोत्सव, पृष्ठ ७५।

करते। केवल परंपरा का निर्वाह मात्र करते हैं। भारतेंदु-युग में प्रकृति वर्णन की सर्वसामान्य प्रवृत्ति नहीं लक्षित होती।

द्वितीय उत्थान में इस क्षेत्र में अधिक उन्नति हुई। इस समय के कवियों में प्रकृति और प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अधिक प्रेम है। अनेक कवियों ने प्रकृति के विभिन्न पक्षों पर बड़ी रोचक कविताएँ की हैं। प्रकृति इस समय की कविता का प्रधान वर्ण्य विषय है। द्वितीय उत्थान के आरंभ में ही हमें एक ऐसे प्रमुख कवि के दर्शन होते हैं जिसकी मधुर स्मृति प्रकृति-प्रेम में लिपटी हुई है। श्रीधर पाठक हिमालय की अप्रतिम शोभा पर मुग्ध हैं। इनमें प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम है और ये तन्मय होकर प्राकृतिक शोभा का अपूर्व वर्णन करते हैं। काश्मीर और देहरादून का इन्होंने बड़ा रमणीय वर्णन किया है। श्रीधर पाठक के लिए इस प्रदेश का एक-एक अणु शोभा से मंडित है। काश्मीर कवि के लिए देवताओं का निवास स्थान है, स्वर्ग है—

> "धन्य यहाँ की धूल धन्य नीरद नभ तारे।
> धन्य धवल हिम-शृंग तुंग दुर्गम दृग प्यारे॥
> धन्य सुथर गिरिचरन सरित निर्झर-रव-पूरित।
> लघु दीरघ तरु विहँग बोल कोकिल कल कूजित॥
> यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।
> यहि अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरंदर॥"[1]

कवि के लिए काश्मीर प्रकृतिदेवी का शृंगार-गृह है, यहाँ पर प्रकृति अपना रूप सँवारती है—

> "प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
> पल-पल पलटति भेष छनिक छबि छिन छिन धारति॥

---

(१) काश्मीर-सुषमा, पृष्ठ १।

बिहरति बिबिध बिलास भरी जोबन में मद सनि।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बन ठनि॥"[1]

काश्मीर के इस संवेदनात्मक चित्रण के विपरीत पाठकजी का 'देहरादून' चित्रात्मक वर्णन का निदर्शन है। इसमें कवि ने प्रकृति का चित्र ज्यों का त्यों सामने रख दिया है। देहरादून के पास के जंगल का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

"अगम घोर घन बनवा जंगल जार,
गह्वर गर्त कठिनवा कुवट कुढार।
भिरत जहाँ तरवरवा बिरवा बाँस,
भरत बतास अधिकवा दीरघ साँस॥
तिम दुर्गम दलदलवा नरवा नार,
सुठि जलपात सुथलवा विषम कगार॥"[2]

निम्नलिखित पंक्तियों में पहाड़ की तरेटी से मंसूरी का वर्णन बड़ा रोचक है—

"तहँ सन सहर मसुरिया भवन दिखात,
जदपि बसत बहु दुरिया नियर जनात।
सिखर-श्रेनि बन बिचवा सो सित भात,
चित सुदूर उचनिचवा निपट सुहात॥
तहँ जब धुअँर बदरवा पट लपटात,
सुंदर झीन चदरवा सम दरसात॥
छिन दरसात दरसवा छिन दुरि जात,
छिन छिन जुरत बदरवा छिन छितरात।
पुनि जब स्याम सघनवाँ घन घुमड़ात,
गिरि बन सिखर भवनवा सबहिं दुरात॥"[3]

---

(१) काश्मीर-सुषमा, पृष्ठ ५। (२) देहरादून, पृष्ठ २२।
(३) देहरादून, पृष्ठ २४।

कवि को प्राकृतिक वस्तुओं से सच्चा प्रेम है। इसीसे कवि अपने देहरादून के बँगले में लगे हुए फूलों को नहीं भूल सका है। कवि उस चिड़िया को भी नहीं भूल सका जो आम की डाल पर बैठकर चहचहाती थी—

"रह्यो नीक निज डेरवा बृहत अहात,
विविध फूल फल पेड़वा ललित लखात।
खिलि रहि कुसुम किअरियाँ बिछरहिं दूब,
घमलन भवन दुअरिया सजि रहिं खूब॥
तिन महँ एक खगबरवा अतिहि मलूक,
बैठि सुचित तरुवरवा करत हो कूक।
सोह मम भवन अहतवा आमन डार,
ह्वै थित नित अविरतवा करत गुहार॥
तिहि सुर सुनत उतरवा दूसर देत,
फिर फिर बोल मधुरवा उर हरि लेत।
सो सुर अजहुँ पियरवा बिसरत नाहिं,
गुंजत मंजु हियरवा कुंजन माहिं॥"[1]

श्रीधर पाठक के प्रकृति-प्रेम को दिखाने के लिए अब अधिक उद्धरणों की आवश्यकता नहीं। कवि ने प्रकृति का संवेदनात्मक तथा चित्रात्मक दोनों प्रकार का वर्णन किया है।

स्वर्गीय पण्डित रामचंद्र शुक्ल प्रकृति के सच्चे प्रेमी थे। इन्हें संवेदनात्मक चित्रण से चित्रात्मक वर्णन अधिक पसंद है। इन्होंने प्रकृति को आलंबन मानकर उसका चित्रण किया है। इनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का पता इनकी रचनाओं से लगता है। इन्हें प्रकृति और मनुष्य के स्वाभाविक संबंध का सतत

(१) देहरादून, पृष्ठ १५२।

अनुभव होता रहता था। प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र और उन्मुक्त परिस्थिति में इन्हें मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के बीच भ्रातृभाव का आभास मिलता था। कवि को प्रकृति माता के समान प्रतीत होती थी और जिस प्रकार माता के सभी रूपों से शिशु को प्रेम ही होता है उसी प्रकार कवि ने भी प्रकृति के सभी हरे-भरे तथा रूखे-सूखे रूपों को प्यार भरी दृष्टि से देखा है। कवि प्रकृति के किसी रूप से विमुख नहीं होता। घने जंगल, पथरीले टीले, जलती हुई ग्रीष्म ऋतु का कवि ने उतना ही मार्मिक चित्रण किया है जितना उसकी हरी-भरी प्राकृतिक सुषमा का। नीचे के उदाहरणों में उत्तप्त ग्रीष्म का बड़ा सजीव वर्णन है—

"प्रखर प्रणयपूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की,
ललक लपटभरी भूमि भमराई है।
पीवर पवन लोट लोट धूल धूसरित,
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है॥
सूखे तृणपत्र लिए कहीं रेणुचक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है।
झाड़ और झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़,
मर्मर-मिलित हू हू दे रहा सुनाई है॥
बढ़ती चली आ रही है मंडली हमारी,
वही धुन में हो चूर भरपूर पैर धुनती।
आस-पास चौकड़ी न भरते कहीं हैं पैर,
डोलते न पंख कोई चोंच भी न चुनती॥
उभरे किसी ढेले की छाया में बटोही कीट,
लेता है विश्राम वहीं लूता जाल बुनती।

सिरको निकाल तरु-कोटर से मैना एक,
चुपचाप आहट हमारी बैठ सुनती ॥"[1]

प्रकृति-प्रेम के कारण शुक्लजी को नगरों से अपने पूर्वजों के निवासस्थान ग्राम अधिक पसंद हैं। नगरों की अपेक्षा ग्राम प्रकृति के अधिक निकट हैं। शुक्लजी ने ग्राम-सुषमा का बड़े विस्तार और विवरण के साथ वर्णन किया है। यहाँ पर एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

"गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ,
श्वेत धारियों में कई घास को विभक्तकर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गोरज से धूमले जो खड़े हैं किनारे पर॥
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाये हुए,
कंठ को उठाय चुपचाप ही रही हैं चर।
जा रही हैं घाट और ग्राम वनिताएँ कई,
लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर॥"[2]

प्रकृति सब प्राणियों की माता है। माता के समान प्रकृति छोटे-बड़े और आम-बबूल में कोई भेद-भाव नहीं रखती—

"मानव के हाथ से निकाले जो गये थे कभी,
धीरे-धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती है।
फूलों के पड़ोस में घमोय बेर औ बबूल,
बसे हैं न रोक-टोक कुछ की जाती है॥
सुख के या रुचि के विरुद्ध एक जीव के ही,
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है।
देती है पवन जल धूप सबको समान,
आम औ बबूल में न भेद-भाव लाती है॥"[3]

---

(१) झलक—२। (२) झलक—२। (३) झलक—२।

प्रकृति के उदार क्षेत्र से अपने को हटाकर मनुष्य ने अपने को छोटे घेरे में बंद कर संकुचित बना लिया। रुपये-पैसे के लोभ से उन्मत्त मनुष्यों के प्रकृति पर आघात से शुक्लजी क्षुब्ध हो गए हैं। इन्होंने मनुष्य के प्रकृति-संहारकारी कार्य की निंदा की है, क्योंकि इस प्रकार मनुष्य अपनी हर्ष-प्राप्ति के साधनों को कम कर रहा है।

लोचनप्रसाद पांडे के 'धुआँधार' में भी चित्रात्मक वर्णन मिलता है। धुआँधार जलप्रपात की शोभा अंकित करनेवाली कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

> "रव झर्झर सुखकर सुभग धारा दुग्ध समान।
> प्रखर प्रताप प्रवाहयुत नीर-पतन उत्थान॥
> नीर-पतन-उत्थान शैल-सुषमा से शोभित।
> उत्थित धूमाकार जहाँ हैं जलकण अगणित॥
> करते रविकर इंद्रधनुषमय जिसका अवयव।
> धुआँधार का दृश्य नर्मदा-तांडव भैरव॥"[1]

रामनरेश त्रिपाठी ने अपने खंडकाव्यों में प्रकृति का बड़ा रोचक वर्णन किया है। 'पथिक' और 'स्वप्न' अपने प्राकृतिक चित्रों के लिए विख्यात हैं। 'पथिक' में दक्षिण भारत तथा रामेश्वर के सागरतट का वर्णन है और 'स्वप्न' में काश्मीर की सुषमा अंकित की गई है। प्रकृति के वर्णनों के बीच खंडकाव्यों की कथा चलती है। कवि ने संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। 'स्वप्न' के प्राकृतिक चित्र बड़े रोचक और सजीव हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में वेगवती पहाड़ी-सरिता का चित्र है—

---

(१) 'धुआँधार'—सरस्वती, खंड १०, संख्या ५, सन् १९१८

"पर्वत-शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर।
छोटे बड़े चीकने अगणित शिला-समूहों से टकराकर॥
गिरता उठता फेन बहाता करता अति कोलाहल हर हर।
वीर-वाहिनी की गति से वह बहता रहता है निसवासर॥"[१]

नीचे की पंक्तियों में काश्मीर के चिनार वृक्षों की सायंकालीन शोभा चित्रित हुई है—

"इस विशाल तरुवर चिनार की अति शीतल छाया सुखदायक।
चरण चूमने को आतुर सी पहुँची है गिरि की काया तक॥
हिम शृंगों को छोड़ रही हैं दिनकर की किरणें क्षण-क्षण पर।
तिरती हैं वे घन-नौका पर नभ-सागर में विविध रूप धर॥"[२]

निम्नलिखित पद्य में सागर की उमड़ती लहरों का वर्णन है—

"रेणु स्वर्णकण-सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं।
बड़ी दूर से चलकर लहरें मौज भरी आती हैं॥
चूम चूम निज देश-चरण यह नाच नाच गाती हैं।
यह शोभा यह हर्ष कहाँ आँखें जग में पाती हैं॥"[3]

प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में कवि को रहस्यात्मक संदेश मिलते हैं। सायंकाल के बढ़ते अंधकार में कवि को रहस्यात्मक सत्ता के सौंदर्य-दर्शन का संकेत मिलता है। झिलमिलाते हुए तारों से न मालूम किसका इंगित बार-बार हो रहा है—

"जग को आँखों से ओझल कर बरबस मेरी दृष्टि उठाकर।
झिलमिल करते हुए गगन में तारों के पथ पर पहुँचाकर॥
करता है संकेत देखने को किसका सौंदर्य मनोरम।
आकर के चुपचाप कहीं से यह संध्या का तम अति प्रियतम॥"[४]

---

(१) स्वप्न, पृष्ठ २९। (२) स्वप्न, पृष्ठ २९। (३) पथिक, पृष्ठ १५।
(४) स्वप्न, पृष्ठ ३१।

उपर्युक्त पंक्तियाँ कवियों का सच्चा प्रकृति प्रेम पूर्णतया प्रमाणित करती हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि परंपरागत चित्रण का द्वितीय उत्थान में नितांत अभाव है। इस समय भी प्रकृति के सहारे नैतिकता का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार की कुछ रचनाएँ बिल्कुल नीरस और शुष्क हैं। उनमें काव्यत्व और सौंदर्य नाममात्र को भी नहीं है। कुछ रचनाओं में अन्योक्तियों की रोचकता है। इस प्रवृत्ति के उदाहरण-स्वरूप विभिन्न कवियों के कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

वसंत-विकास

"पल पल अंश घटे रजनी के बढ़े दिवस का मान।
यथा अविद्या सकुचे ज्यों-ज्यों त्यों-त्यों विकसे ज्ञान॥
द्रुम दलहीन हुए पुनि पाई हरियाली भरपूर।
देखो यों अवनति को उन्नति कर देती है दूर॥"[1]

—नाथूराम 'शंकर' शर्मा।

संध्या-वर्णन

"संध्या समीप रवि-रश्मि-निकर, स्थित हुआ शैल के शिखरों पर।
सुजनों को अस्त-समय भी नित, है निश्चय उच्च स्थान उचित।"[2]

—मैथिलीशरण गुप्त।

"एक बूँद जल घन से गिरकर सरिता के प्रवाह में पड़कर।
जाता हूँ मैं फिर न मिलूँगा यह पुकारता हुआ निरंतर॥
चला जा रहा है आगे से कैसा है यह दृश्य भयावह।
इस अस्थिर जग में क्या मेरे लिए नहीं है चिंतनीय यह॥"[3]

—रामनरेश त्रिपाठी।

---

(१) सरस्वती, खंड ८, संख्या ३, सन् १९०७।

(२) सरस्वती, खंड ११, संख्या ३, सन् १९१०।

(३) स्वप्न, पृष्ठ ११।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रकृति-चित्रण में नवीनता नहीं है। प्रकृति का सजीव चित्र न उपस्थित कर उन्होंने अधिकतर तेड़ों के नाम गिनाए हैं। इसे प्रकृति-चित्रण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नाम गिनाने से कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं आता। कृष्ण के प्रवास के समय कवि ने प्राकृतिक चित्रण का प्रयास किया है परंतु उस रात्रि का वर्णन राधा की भावनाओं से इतना ढक गया है कि प्रकृति पहचानी नहीं जाती।

मैथिलीशरण गुप्त में प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। इनकी अधिकांश रचनाएँ प्रकृति-सौंदर्य से विमुख हैं। ये अधिकतर इतिवृत्तात्मक हैं या इनमें प्राकृतिक दृश्य के द्वारा नैतिक उपदेश देने की चेष्टा की गई है। 'पंचवटी' में इनका प्रकृति-वर्णन कुछ अधिक रोचक और सफल हुआ है।

द्वितीय उत्थान में प्रकृति-चित्रण के लिए संवेदनात्मक के स्थानपर चित्रात्मक शैली का ही अधिक उपयोग हुआ है। इस समय जो संवेदनात्मक चित्रण हुए भी हैं वे ऐसे नहीं हैं जो हमें मुग्ध बना लें और हमारे भावों को उद्‌बुद्ध करें। इसका कारण यही है कि कवि अपने व्यक्तित्व को प्रकृति के महान् व्यक्तित्व में लीन नहीं कर सके। इसी तल्लीनता के आभास के कारण द्वितीय उत्थान के कवि न प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन ही कर सके और न मानवता को प्रकृति का कोई संदेश ही प्रदान कर सके। नैतिकता के कोरे उपदेश भी इसी के परिणाम हैं। इस समय के अधिक कवि प्रकृति के ऊपरी रूप की झलक मात्र से संतुष्ट थे। उन्होंने प्रकृति की अंतरात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न बहुत कम किया।

उपसंहार

इस स्थान की प्रधान प्रवृत्तियों का विवरण दिया जा चुका है। प्रत्येक प्रवृत्ति का भेद और विकास दिखाया जा चुका है। प्रथम उत्थान से जो विशिष्ट भेद उनकी प्रगति में लक्षित होता है उसका भी संकेत किया जा चुका। इन सबके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि द्वितीय उत्थान की साहित्यिक प्रगति सन्तोषजनक है। प्रथम उत्थान से इस समय की कविता अधिक उन्नत है। कवियों ने देशभक्ति और सामाजिक कविता का क्षेत्र अधिक व्यापक बनाया। कविता में अछूत, दहेज आदि नए विषयों का समावेश हुआ। देशभक्ति के क्षेत्र में कवियों का ध्यान यथार्थ परिस्थिति की ओर अधिक है। देशभक्ति की भावना में भी परिवर्तन हो गया है। कवि अब राजनीतिक तथा आर्थिक दशा की ओर संकेत कर देशभक्ति की भावना जागरित करते हैं। कवियों की मनोदृष्टि भी नैराश्यपूर्ण न रहकर आशा-वादिनी बन गई है। इनकी उदारहृदयता से कुछ नई प्रवृत्तियों का विकास हुआ।

भारतेंदु-युग के कवियों से द्विवेदी-युग के कवियों की मनो-दृष्टि अधिक व्यापक और उदार है। इस उत्थान के कवि मान-वतावादी हैं। ये सत्य और न्याय के समर्थक हैं। ये सामा-जिक अत्याचार और धार्मिक असहिष्णुता की बड़ी आलोचना करते हैं। पीड़ित जनता के प्रति इनकी समानुभूति अधिक प्रबल है। गरीब, किसान, विधवा, अछूत आदि के लिए इन कवियों के हृदय में भरपूर स्थान है। कवि विश्व-प्रेम और सेवा

के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए हैं। तटस्थता की नीति को त्याग कर कवि अपने में समस्त विश्व की भावना भर रहे हैं। मानवतावाद और धर्म की सांप्रदायिकता से आत्मिक शक्ति में रूपांतर इस परिवर्तन के द्योतक हैं। ईश्वर ने सत्य की खोज और सेवा तथा उत्तम कार्यों में व्याप्त भावना का रूप धारण कर लिया है। कवि इसी भावना से प्रेरित हो रहे हैं। व्यापक दृष्टि और उदारहृदयता, इस उत्थान की तृतीय उत्थान के कवियों को सबसे बड़ी देन है। प्रथम उत्थान के नवीन विचारों को कवियों ने इस समय तक अपना बना लिया था। इसलिए इनके उद्गारों में सच्ची समानुभूति की झलक मिलती है।

द्विवेदी युग की अधिकांश कविता वर्णनात्मक और आख्यानात्मक है। इस उत्थान के आरंभिक वर्षों में मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवि, राजा रविवर्मा के 'सरस्वती' में छपे हुए चित्रों का वर्णन किया करते थे। आख्यानात्मक कविताओं के विषय इतिहास तथा पौराणिक कथाओं से चुने गए हैं। इनकी कथाएँ प्रसिद्ध और इनकी भाषा में ओज तथा प्रवाह है।

इस उत्थान में प्रकृति का स्वतंत्र रूप से चित्रण हुआ है। इस समय के कुछ कवियों में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम है। इन्हें इसके विविध दृश्यों से प्रेरणा और स्फूर्ति मिली है। द्विवेदी-युग के कवियों का यह प्रयास प्रशंसनीय है।

यद्यपि इस समय के काव्य-विषयों में अनेकरूपता है तथापि रचनाएँ अधिक कवित्वपूर्ण नहीं हैं। कवि 'संतोष', 'आशा', 'साहस' आदि पर कविता लिखकर लंबे-चौड़े उपदेश देने लगते हैं। वास्तव में वे रचनाएँ पद्य-निबंध हैं। इनकी भावना विश्लेषणात्मक तथा आलोचनात्मक है। इनमें भावुकता का अभाव है। पाठक इनकी इतिवृत्तात्मक शैली से ऊब गए। इसलिए इस

उत्थान के अंतिम वर्षों में बाह्यार्थनिरूपिणी कविता का स्थान स्वानुभूतिनिरूपक मुक्तक गीतों ने ले लिया।

मुक्तक गीतों की इस प्रवृत्ति पर रवींद्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था, परंतु बँगला के प्रभाव को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना उचित नहीं है। बँगला के प्रभाव से इतिवृत्तात्मक कविता के विरूद्ध प्रतिक्रिया केवल और तीव्र हो गई। द्विवेदी-युग की कविता की आभ्यंतर अवस्था भी मुक्तक गीतात्मकता के लिए पर्याप्त थी। कवि अत्यधिक समय तक समाज और रीति-नीति की आलोचना और दार्शनिकता तथा विश्लेषण में लगे रहे। भावुकता को वंचित रखकर जीवन के बौद्धिक पक्ष की इस प्रकार की महत्ता अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती थी। इसलिए काव्य में स्वानुभूतिनिरूपण की ओर झुकाव अनिवार्य था, बँगला के प्रभाव ने इसे उत्तेजना प्रदान की।

द्विवेदी-युग का विशेष महत्त्व भाषा के परिवर्तन में है। गद्य की भाषा को काव्यभाषा स्वीकार कर इन कवियों ने यह दिखला दिया कि हमारे जीवन के सुख-दुख की भाषा कविता का माध्यम बनने के सर्वथा उपयुक्त है। इन्होंने खड़ी बोली को और परिमार्जित तथा अभिव्यक्तिपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों में कवियों ने भाषा की प्रतीकात्मकता और लाक्षणिकता के द्वारा अभिव्यंजना की प्रणाली में नवीनता लाने का प्रयास किया है। आलंकारिक शाब्दिक चमत्कार को छोड़कर लाक्षणिक प्रयोगों की ओर इन कवियों की विशेष रुचि है। अभिव्यंजना की इस नवीन प्रणाली को तृतीय उत्थान के कवियों ने अपनाकर इसमें सौंदर्य की वृद्धि की।

भारतेंदु-युग में द्वितीय उत्थान का विकास और द्विवेदी-युग का तृतीय उत्थान पर प्रभाव युक्तियुक्त और अत्यंत स्वाभाविक

है। कविता के तीन प्रधान अंग भाव, भाषा, प्रक्रिया या शैली हैं। साधारण रूप से ये तीनों साथ-साथ चलते हैं और इनका विकास भी साथ-साथ होता है परंतु जब जनता के विचारों में क्रांति उपस्थित होती है तो इनका साथ-साथ विकास बहुत कम होता है। उस समय पहला स्थान भावना का होता है जिसके कारण क्रांति का जन्म होता है। ये नवीन विचार मस्तिष्क में अत्यंत प्रबल रहते हैं और इसलिए इनकी किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्ति की जाती है। भाषा का उपयुक्त आवरण भावना को स्थिरता प्राप्त होने पर ही मिलता है। भावों को अपने बन जाने के बाद ही भाषा में सौंदर्य आता है। थोड़े बहुत भेद के साथ नवीन कविता के इतिहास में भी यही बात हुई। भारतेंदु-युग में नवीन विचारों की सृष्टि हुई। इन विचारों का प्रकाशन परंपरा-प्राप्त व्रजभाषा के माध्यम से अत्यंत शीघ्रता से हुआ। नवीन विचारों को प्राचीन बाना प्राप्त हुआ। इसके बाद साहित्य के विविध क्षेत्र में एक भाषा की भावना जागरित हुई। यदि द्विवेदी-युग में भाषा का परिवर्तन न हुआ होता तो भाषा और शैली का सौंदर्य थोड़े समय के अनंतर आ ही जाता, परंतु इस समय यहाँ पर अपेक्षा-कृत एक नवीन भाषा को काव्यभाषा मानकर उसका विकास करना था। द्वितीय उत्थान के कवियों को इस नवीन भाषा को व्यंजना की शक्ति प्रदान करनी थी। इन्हें खड़ी बोली के विरोधियों के इस कथन को भी असत्य प्रमाणित करना था कि यह काव्य के क्षेत्र में असफल सिद्ध होगी, इसलिए अभिव्यंजना की नवीन सौंदर्यपूर्ण प्रणाली के निर्माण के लिए इन कवियों के पास बहुत कम समय था। इन कवियों ने अधिकतर आलंकारिक शैली का व्यवहार किया। अभिव्यंजना की नवीनता तृतीय उत्थान के कवियों के लिए छोड़ दी गई, यद्यपि इसका आरंभ द्वितीय

उत्थान के अंतिम वर्षों में हो चला था। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के तीन प्रधान अंग बिखर गए थे। तृतीय उत्थान में ही काव्य का चित्र पूरा होता है। प्रथम दो उत्थान विकास के सोपान मात्र हैं।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि जनता के विचारों और भावों में महत्वपूर्ण परिवर्तन अनायास और अकारण नहीं होते। हम यह जानते हैं कि इस समय की कविता का प्रादुर्भाव हमारे आधुनिक समय के जीवन से हुआ है। हमें यह भी ज्ञात है कि इस जीवन का प्रादुर्भाव इसके पूर्ववर्ती समय से हुआ है। कविता और जीवन का क्रम इसी प्रकार संबद्ध होकर चला करता है। इसी प्रकार द्विवेदी-युग प्रथम उत्थान और तृतीय उत्थान के बीच की कड़ी है। यह उत्थान भारतेंदु-युग से प्रभावित हुआ और इसने आज की कविता (तृतीय उत्थान) को प्रभावित किया। नई भाषा इसकी देन है। इसने भारतेंदु-युग के नवीन विचारों को आगे बढ़ाया। तृतीय उत्थान की प्रवृत्तियों का मूल स्रोत द्विवेदी-युग ही में है। वास्तव में द्विवेदी-युग के बदरीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, 'मुकुटधर' आदि कवियों ने कविता में मुक्तक गीतात्मकता, रहस्यभावना, मानवतावाद और अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली का समावेश कर नए युग का सूत्रपात किया। इस प्रकार की नवीन कविताओं का समय सन् १९१४ से प्रारंभ होता है। मुक्तक गीतात्मकता, रहस्यवाद और भाषा की लाक्षणिकता आज की कविता की तीन प्रधान विशेषताएँ हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन प्रवृत्तियों का मूल द्विवेदी-युग में है। नवीन हिंदी-कविता के इतिहास में द्वितीय उत्थान बीच की कड़ी है। द्विवेदी-युग का यही महत्व है।

तृतीय खंड

तृतीय उत्थान
वर्तमान युग
(प्रक्रिया में परिवर्तन)

तृतीय उत्थान

द्वितीय उत्थान के अंतिम वर्षों में मुक्तक गीतों की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, उसका संकेत किया जा चुका है। यह प्रवृत्ति भावना और प्रक्रिया दोनों में ही सर्वथा भिन्न और नवीन थी। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक शैली का विरोध लक्षित कराया जा चुका है। यह भी देखा जा चुका है कि इस विरोध की शांति बदरीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि के मुक्तक गीतों द्वारा हुई। इन गीतों का समय सन् १९१४ से आरंभ होता है।

स्वानुभूतिनिरूपक तथा व्यक्तित्व-प्रदर्शक मुक्तक गीतों की रचना द्विवेदी-युग के अंत और वर्तमान युग के आरंभ की द्योतिनी है। इन गीतों का वास्तविक विकास वर्तमान कविता में हो रहा है। वर्तमान काव्ययुग प्रधानतया मुक्तक गीतों का युग है। सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर 'प्रसाद' तथा महादेवी वर्मा आदि कवियों ने विविध विषयों पर बड़े रुचिर गीता की रचना की है।

द्विवेदी-युग की धार्मिक कविता की उपासना तथा आत्मसमर्पण की भावना का इन कवियों द्वारा नूतन पथ पर विकास हो रहा है। ये कवि उपासना की सीधी-सादी उक्तियों आर अन्यापदेशों से संतुष्ट नहीं हैं। इन्होंने उन पर रहस्यवाद का गहरा रंग चढ़ाया है। द्विवेदी-युग की साधारण साधना और उपासना को आज के कवियों ने रहस्यवाद का बाना पहना दिया है। रहस्यवाद कविता का वर्तमान युग में अत्यधिक चलन

है। तृतीय उत्थान के अधिकांश कवि रहस्यवादी मुक्तक गीतों के रचयिता हैं। फलतः रहस्यवाद आधुनिक कविता की प्रधान प्रवृत्ति हो गई है।

तृतीय उत्थान के आरंभिक वर्षों में ऐसी रचनाओं का फैशन सा चल पड़ा जो रहस्यवादी प्रतीत हों। कवि कहलाने के लिए यह आवश्यक गुण समझा जाने लगा। बहुत से रचयिता जो ठीक-ठिकाने का एक भी कवित्त या सवैया नहीं लिख सकते थे रहस्यवादी रचना के चलते ही यशोलिप्सा की पूर्ति का अच्छा अवसर पाकर कवि बन बैठे। फलस्वरूप मिथ्यानुभूति और असत्य का व्यापक प्रसार हुआ। इन रहस्यवादी नामधारी कवियों के कारण सच्चे 'रहस्यवादी' कवियों की प्रसिद्धि को भी धक्का लगने लगा। जनता रहस्यवाद की बाढ़ से घबड़ाकर इन सच्चे कवियों की कलापूर्ण और कवित्वमय कृतियों से भी मुँह मोड़ने लगी। कुछ समय तक तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि छद्म रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति ऐकांतिक बनकर हिंदी की नवीन कविता का क्षेत्र संकुचित कर देगी। आशंका यहाँ तक बढ़ गई थी कि (रीतिकाल की कविता के समान) वर्तमान कविता भी जीवन से दूर जा पड़ेगी।

ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकती थी। इसका विरोध होना अनिवार्य था। रहस्यवादी कविताका विरोध आरंभ हुआ और उसका वेग बढ़ते ही भारतेंदु-युग से चली आती हुई देशभक्ति की भावना उत्तेजित हो उठी। जनता के दैन्य-दारिद्र्य और पीड़ा ने देशभक्त कवियों का हृदय व्यथित कर दिया। देश-दशा के सुधार की उत्कट इच्छा की प्रवृत्ति के समक्ष रहस्यवाद की पारलौकिकता और निष्क्रियता को व्यर्थ तथा निष्फल बौद्धिक कलाबाजी या क्रीड़ा समझकर लोगों ने त्याग दिया। फलतः

देशभक्त कवियों ने कांग्रेस के असहयोग-आंदोलन का हृदय से स्वागत किया। बहुत से कवियों ने कांग्रेस के स्वतंत्रता-युद्ध में सक्रिय योग दिया और हँसते-हँसते विपत्तियों का सामना किया। इन कवियों द्वारा सौंदर्यपूर्ण तथा हृदय को प्रभावित करनेवाली कविताओं की रचना हुई। माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान इस क्षेत्र में प्रमुख हैं।

ये देशभक्त कवि, देश की उन्नति तथा मातृभूमि की दासता का पाश काटने के लिए देशवासियों का आह्वान करते हैं। इन कवियों के साथ, कवियों का एक और समुदाय है जिसके उद्देश्य अधिक उदार हैं। वह केवल अपने देश की स्वतंत्रता की कामना न कर और राष्ट्रीयता-परिमित भावना से आगे बढ़-कर दुःख और अत्याचार से दबी संपूर्ण मानवता का उद्धार चाहता है। ये कवि एक ऐसी नवीन व्यवस्था का संदेश सुना रहे हैं जिसके अंतर्गत सभी जातियाँ भेद-भाव भूलकर सुख और शांति से रह सकती हैं। ये आज की राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक व्यवस्था में क्रांति उत्पन्न कर अपने विचारों के अनु-कूल विश्व में नूतन व्यवस्था की स्थापना चाहते हैं। हमें इनकी सचाई में संदेह नहीं है। इनकी क्रांतिवादी रचना जीवन से ओत-प्रोत है।

इन उद्देश्यों की सफलता के लिए साहस और उत्साह की आवश्यकता है। इनकी प्राप्ति के लिए जीवन की वास्तविक कठिनाइयों का धैर्य और शौर्यपूर्वक सामना करना पड़ेगा। इसके लिए सहिष्णुता आवश्यक है। जनता का शोषण और उनकी दयनीय अवस्था का सहन प्रत्येक विचारशील भारतीय के लिए असंभव है। यह समस्या दो प्रकार से सुलझाई जा सकती है।

एक उपाय तो कठिन परिस्थितियों से लड़कर उन पर विजयी बनना है और दूसरा कटु सत्य से मुँह मोड़कर और आँखें मूँद-कर प्रेम के तराने गाना है। हरवंशराय 'बच्चन' की आरंभिक रचनाओं में कठिन परिस्थिति से भागने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। जनता में इनकी आरंभिक लोक-प्रियता का यही कारण है। इनकी देखादेखी बहुत से कवि मधुशाला आदि विषयों पर कविताएँ रचने लगे।

आज के कवियों ने भी प्रेम को अपनाया है। अपनी मनो-वृत्ति के अनुकूल ये प्रेम का अभिव्यक्ति कर रहे हैं। प्रेम की कविता में इन्होंने कुछ परिवर्तन भी किया है। इनकी प्रेम की कविता स्वानुभूतिनिरूपिणी है। प्रेम की यह कविता अधिक संपन्न भी है और इसमें अनेकरूपता भी है। आत्मसमर्पण की भावना से पूरित अत्यंत भावुकतामय मुक्तक गीतों की रचना हुई है। कुछ कवियों की रचना में आत्मतुष्टि की प्रधानता और भविष्य के प्रति उदासीनता लक्षित होती है। आज की प्रेम की कविता में सरलता, संयम और भावुकता है।

आज के कवि प्रकृति की ओर से उदासीन नहीं हैं। आज की प्रकृति-संबंधी कविता चित्रात्मक और संवेदनात्मक दोनों है। इसकी धारा का स्वतंत्र प्रवाह है। यद्यपि प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण अधिक नहीं हुआ है तथापि प्रकृति के अत्यंत मधुर चित्रों की सर्जना अवश्य है। मानसिक अवस्थाओं की प्रकृति के दृश्यों से तुलना और प्रकृति की नराकार भावना अत्यंत आकर्षक है।

आज की कविता प्रधानतया मुक्तक गीतात्मक है। द्वितीय उत्थान की समाप्ति के साथ आख्यानात्मक काव्यों का भी अंत होता है। इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं है। मुक्तक गीतों

की अंतर्निरूपिणी प्रवृति होती है। इसके अत्यधिक अभ्यास से कवि बाह्यार्थनिरूपिणी कविता के लिए बहुत कुछ अक्षम हो जाता है। कवि की चेतना अंतर्मुखी हो जाती है और बाह्य विश्व से उसकी उत्सुकता कुछ कम हो जाती है। कवि अधिकतर अपनी अंतर्दशाओं की व्यंजना से संतुष्ट रहता है।

इसी कारण मैथिलीशरण गुप्त महाकाव्य के सफल लेखक न बन सके। 'साकेत'—जिसका समय द्विवेदी-युग का अंत और तृतीय उत्थान का आरंभ है, तथा फलस्वरूप जिसमें प्राचीनता और नवीनता का सम्यक् मिश्रण हुआ है—की उद्भावना बहुत बाद में हुई। उस समय इनमें मुक्तक गीतों की प्रवृत्ति के अत्यधिक विकास के कारण महाकाव्य के लिए अधिक स्थान नहीं था। फलतः 'साकेत' में मुक्तक गीतों की अधिकता है। भाषा में लाक्षणिकता और अभिव्यक्ति की अधिकता है। महाकाव्य की चार प्रमुख विशिष्टताओं में से—जीवन की विविध दशाओं को सामने लानेवाली कथावस्तु, वर्णन संवाद तथा भावाभिव्यंजना में से—'साकेत' में केवल (अंतिम) दो विशिष्टताएँ ही लक्षित होती हैं। 'साकेत' की कथावस्तु भी महाकाव्य के उपयुक्त नहीं है, और न इसमें नवीन वर्णनों का ही आधिक्य है, इसलिए 'साकेत' को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। इसकी असफलता का प्रधान कारण कवि की गीतात्मक प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति के कारण आधुनिक काव्यधारा में महाकाव्यों की कमी है।

गुरुभक्त सिंह 'भक्त' ने 'नूरजहाँ' नामक आख्यानात्मक काव्य की रचना की है। इसमें द्वितीय उत्थान के आख्यानात्मक काव्यों का क्रम लक्षित होता है। इस काव्य में चरित्र-चित्रण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। पुस्तक अपने वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। इसकी लोक-प्रियता सीधी सादी बातचीत

वाली शैली पर निर्भर है। भाषा में ओज और प्रवाह है। कवि की सहानुभूति भारतीय जीवन तक परिमित नहीं है। कवि बड़े उत्साह से फारस के जीवन और परिस्थिति का चित्रण करता है। पुस्तक से कवि की उदार मनोदृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है।

'कामायनी' का घटना-चक्र अंतर्वृत्तिनिरूपक है। इसमें घटना-प्रवाह नहीं है। पुस्तक में हृदय तथा बुद्धि और भावुकता तथा तर्क में सम्यक् संबंध का संदेश है। कवि को सामंजस्य और समरसता से प्रेम है। 'कामायनी' की उद्भावना वास्तव में कवि के सामंजस्य और शांति प्रेम के विकास की द्योतिका है।

इस पुस्तक में आधुनिक राजनीतिक परिस्थिति और आदर्शों का भी पुट है। कवि मनु की एकात्मक सत्ता के विरुद्ध प्रजातंत्र का समर्थन करता है। श्रद्धा, इड़ा, काम आदि पात्र निस्संदेह रूपक और अन्योक्ति के आवरण में प्रतिष्ठित किए गए हैं। कोमल भावनाओं के कवि होने के कारण 'प्रसाद' जी की इस पुस्तक में करुणा आदि कोमल भावनाओं की प्रधानता है। यद्यपि ईर्ष्या, क्रोध आदि कठोर भावों का भी वर्णन हुआ है।

'सिद्धार्थ' की रचना अनूप शर्मा 'अनूप' द्वारा 'प्रियप्रवास' की शैली पर हुई है। यह काव्य संस्कृत वृत्तों में सतुकांत लिखा गया है। इसकी भी शैली संस्कृतबहुला है, परंतु 'प्रिय-प्रवास' के समान इसमें अप्रयुक्त शब्दों का व्यवहार नहीं हुआ है। इसके समास भा 'प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा अधिक छोटे और सरल हैं। किंतु प्रतिदिन की बोल-चाल के शब्दों पर संस्कृत का रङ्ग बढ़ाने से भाषा का सौंदर्य बहुत कुछ नष्ट हो गया है।

'सिद्धार्थ' में 'प्रिय-प्रवास' से एक और भिन्नता लक्षित होती है। प्रिय प्रवास' में श्रीकृष्ण को ईश्वर न मानकर उनका महा-

पुरुष के रूप में चित्रण हुआ है परंतु 'सिद्धार्थ' में गौतम बुद्ध को भगवान् माना गया है। कवि ने गौतम बुद्ध के मानवी कृत्यों को ईश्वरीय कृत्य का रूप दिया है। इन्होंने गौतम बुद्ध को राम और कृष्ण के अवतार के रूप में चित्रित करने की चेष्टा की है। कवि के लिए गौतम बुद्ध मनुष्य-रूप में ईश्वर हैं।

आधुनिक कविता का विकास इन्हीं प्रधान प्रवृत्तियों के आधार पर हो रहा है। इसकी विविध धाराएँ जीवन के समान ही वर्तमान कविता की अनेकरूपता का संकेत कर रही हैं। जीवन के चित्रण में कवि अपनी अनुभूतियों की सच्ची अभिव्यक्ति करते हैं। एक विचारणीय बात और है। रहस्यवाद की प्रवृत्ति के विषय में यह कहा जा चुका है कि जनता इससे परांमुख हो चली थी। यह सच है कि समय और परिस्थिति रहस्यवाद की कविता के उपयुक्त नहीं थी। रहस्यवादी अन्वेषण के लिए अशांत समय अनुकूल नहीं था और न आज है। फलतः जनता भी उसका स्वागत करने में असमर्थ थी। मिथ्यानुभूति और असत्यता की परिस्थिति भी जनता की उदासीनता का कारण थी। जनता की उदासीनता का कारण इससे अधिक गंभीर था। वास्तव में वर्तमान कविता की भावना और प्रक्रिया को न समझ सकने के कारण ही जनता रहस्यवादी कविता से विमुख हो गई। द्विवेदी-युग की बाह्यार्थनिरूपिणी कविता और उसकी इतिवृत्तात्मक शैली से परिचित पाठकों को वर्त्तमान कविता के नवीन आदर्शों और प्रकिया के समझने में बड़ी कठिनाई हुई। इस नवीन भावना और प्रक्रिया में पाठकों की उदासीनता का कारण छिपा है।

इस नवीन भावना और प्रक्रिया के कारण ही आज की कविता द्वितीय उत्थान की कविता से भिन्न प्रतीत होती है और

इसी कारण वर्तमान कविता को द्विवेदी युग की कविता से पृथक् करने की आवश्यकता हुई। इसलिए (इसकी भिन्न प्रवृत्तियों के कारण) इसके पृथक् अध्ययन की आवश्यकता है। द्वितीय उत्थान की प्रवृत्तियों को इस समय नवीन रूप दे दिया गया है। परिस्थिति भी बहुत परिवर्तित हो गई है। इसलिए वर्तमान कवियों की मनोदृष्टि और नवीन प्रक्रिया का पृथक् विश्लेषण और वर्णन आवश्यक है। इस नवीन भावना और प्रक्रिया के दर्शन सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि की रचना में होते हैं। इन कविताओं का समय सन् १९१४ से १९१८ है। इसलिए १९२० से आगे का कविताकाल 'वर्तमान युग' कहा जा सकता है। सुभीते के लिए इसे तृतीय उत्थान भी कह सकते हैं।
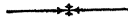
वर्तमान काव्य की भावना

पिछले अध्याय के अवलोकन से वर्तमान काव्य की संपन्नता का परिचय मिल गया होगा। इससे इसे द्वितीय उत्थान से पृथक् करनेवाली प्रवृत्तियों का भी पता लगता है। वर्तमान युग के कवियों की मनोदृष्टि में निस्संदेह परिवर्तन हो गया है और उनकी रचना में काव्य-विषयों में नूतनता भी लक्षित होती है। यह परिवर्तन और नूतनता अनायास नहीं है। इस सैद्धांतिक सत्य से सभी पूर्णतया परिचित हैं कि बिना बोए अंकुर नहीं निकलता। वर्तमान काव्य के परिवर्तनों में वर्तमान (समय के) जीवन के परिवर्तन प्रतिबिंबित हैं। वर्तमान युग की निराशा, संशय और हलचल वर्तमान साहित्य में व्याप्त है। हमारा युग संदेह, अभाव और असफलता का युग है। पाश्चात्य विचारों से भारत के संपर्क के परिणाम-स्वरूप अव्यवस्था का जन्म हुआ। प्राचीन आदर्श का दीपक बुझाकर हम अंधकार में भटक रहे हैं। वर्तमान समय के हमारे आदर्शों में प्राचीन आदर्शों से कई बातों में विरोध है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को—क्या सामाजिक, क्या आध्यात्मिक, क्या राजनीतिक सभी को—हम संदेह और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। अविश्वास और संघर्ष चारों ओर व्याप्त हैं।

सामाजिक तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में यह सब लक्षित हो रहा है। आर्यसमाज-आंदोलन ने, जो धार्मिक अंधविश्वास और अंधभक्ति के विरोध-स्वरूप उत्पन्न हुआ था, हमें मानसिक उदासीनता और आलस्य से जगा दिया। इससे हम परंपरा से प्राप्त धर्म को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे। बंगाल में भी

धार्मिक कर्मकांड से विरोध लक्षित हुआ। वह धर्म को वैयक्तिक अनुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति का साधन मानता है। (रहस्यवादी कविता का विकास इसी से हुआ है)। पश्चिम के मानवतावाद के आदर्श (Humanitarian Idealism) ने हमारी पाप की भावना को परिवर्तित कर दिया है। अब हम कतिपय दोषों के लिए केवल एक व्यक्ति को दोषी न मान-कर संपूर्ण समाज पर उसका उत्तरदायित्व रखते हैं। हमारा विश्वास नष्ट हो गया है और हम प्रत्येक वस्तु में शंका करते हैं और उसकी आलोचना के लिए तत्पर रहते हैं। पुराने लोगों की दृष्टि में हम नास्तिक हैं।

इस अविश्वास और संदेह ने हम लोगों के अंतर में हलचल उत्पन्न कर दी। भारत और यूरोप के सांस्कृतिक संघर्ष से उथल-पुथल मच गई है। पाश्चात्य प्रभाव के कारण यद्यपि अपनी प्राचीन परंपरा से हमारी श्रद्धा नष्ट हो गई है तथापि हमारे विश्वास को अब तक कोई आधार न मिल सका, जिससे हमें शांति प्राप्त होती। हमारी समस्याएँ अभी तक उलझी हुई हैं। हमारा आवास गंभीर हलचल और शंका के बीच है।

यही हलचल और असंतोष हमारे राजनीतिक जीवन की भी सबसे बड़ी विशेषता है। देश की स्वतंत्रता के मार्ग में पग-पग पर रोड़े अटकाए जा रहे हैं। हमारी आशाओं पर पानी फिर गया। गत महायुद्ध में भारत ने बड़े उत्साह से योग दिया। देश के नेताओं को बड़ी बड़ी आशाएँ दिलाई गई थीं, परंतु महायुद्ध के समाप्त होने पर उनकी आशा दुराशा मात्र सिद्ध हुई। गत युद्ध में भारत के योग का मूल्य 'रौलट ऐक्ट' और जलि-यानवाला बाग के रूप में चुकाया गया। इससे देश की आँखें खुल गईं। सन् १९२१ के असहयोग-आंदोलन और १९३०-३१

के सत्याग्रह-आंदोलन में देशवासियों के राजनीतिक असंतोष और रोष की झलक है। सन् १९१४ के युद्ध से निवृत्त होकर अधिकारियों ने दमन का कठोर चक्र चलाना शुरू किया।

यद्यपि १९१४ के महायुद्ध का भारत के लिए विशेष महत्त्व नहीं है तथापि इसका कुछ न कुछ प्रभाव इस पर अवश्य पड़ा। इससे भारत का वास्तविकता से परिचय हुआ। इससे संकट के हट जाने पर अपनी प्रतिज्ञा भुला देनेवाले भारत के साम्राज्य-वादी अधिकारियों की सच्ची भावनाओं का पता लग गया। सब कुछ कहते हुए भी इनको भारत की स्वतंत्रता इष्ट नहीं है। ब्रिटिश-शासन के इतिहास में पहली बार लोगों को अधिकारियों की ढोल की पोल का पता लगा और झूठी आशाओं का अंत हुआ। अब राजनीतिक क्षेत्र में असंतोष की दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है।

उलझन ऐसी परिस्थिति की स्वाभाविक विशेषता है। अधिक पाने की आशा में हम अपनी गाँठ की पूँजी भी गवाँ चुके और हमारे हाथ भी कुछ न लगा। इस पीढ़ी की आशाएँ विफल हो गईं। आज हम जीवन और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन प्रयोग कर रहे हैं। निराशा हमारे हिस्से में पड़ी है। वर्तमान कविता इससे ओतप्रोत है। पंत और 'प्रसाद' ऐसे कवि भी—जो सामंजस्य-प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं—इससे प्रभावित हुए। यह निराशा देशवासियों की बढ़ती हुई गरीबी और उसकी कटुता से और भी बढ़ गई। देश के आर्थिक शोषण ने नवयुवकों का जीवन दुःखद बना दिया है। बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इससे युवकों के मानसिक कष्ट की कोई सीमा नहीं है।

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की काली छाया कवियों पर भी पड़

रही है। यूरोपीय सभ्यता और उसके वैज्ञानिक विकासों ने लोगों का जीवन और भी कष्टपूर्ण बना दिया। एक देश दूसरे के विरुद्ध युद्ध के लिए तत्पर है। विज्ञान नाश का साधन बन गया। इसकी उन्नति से हम और भी दुखी बन गए। राजनीतिक और आर्थिक शोषण के साथ हमारी आध्यात्मिकता और नैतिकता का भी ह्रास हो रहा है। आधुनिक युग भयानक हलचल का साक्षी है।

ऐसी परिस्थितियाँ गीतात्मक उद्रेक के मूल में सदैव से रही हैं। गंभीर जिज्ञासा और शंका सामंजस्यपूर्ण चित्रण और स्वीकृत शास्त्रानुयायी (Classical) भावना को दूर भगा देती हैं। शंका और चुनौती की वृत्ति ने पूर्व समय की शांति (Placidity & complacement) को मार भगाया। वर्त्तमान युग की अशांति वर्तमान काव्य के मुक्तक गीतों का मूल कारण है। वर्तमान काव्य की भाषा भी अब सूक्ष्म भावों के प्रकाशन में समर्थ हो गई है। खड़ी बोली की कर्कशता बहुत कुछ दूर हो गई और कवियों ने इसकी गीतात्मकता का सफलतापूर्वक विकास किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतात्मक कविता से भी कवि प्रभावित हुए। अंगरेजी-साहित्य के स्वच्छंदतावादी कवियों (Romantic Poets) के अध्ययन से हिंदी के कवियों को मुक्तक गीतों की रचना की प्रेरणा मिली।

ऐसे युग के प्रति कवियों की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति दो स्वाभाविक रूपों—पलायन और समर्पण—में लक्षित होती है। 'प्रथम जागरण में उत्कट प्रतिक्रिया स्वाभाविक परिणाम है, वास्तविकता के कठोर प्रहार के होने पर पलायन अत्यंत आवश्यक और भाग्यवाद सबसे प्रबल होता है। अपनी परिस्थितियों से पराभूत होकर कवि उनको चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं।' इस समुदाय

में आत्मसुखवादी (Hedonists), निराशावादी, भाग्यवादी आदि आते हैं। 'बच्चन में कटु वास्तविकता से भागने की भावना प्रतिबिंबित होती है और रामकुमार वर्मा में निराशावादी मनोदृष्टि की प्रधानता है। 'बच्चन' की बाद की रचनाओं में भाग्यवाद प्रबल है।

वर्तमान काव्य की विशेषता (Values) तीन विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई पड़ती है। स्वच्छंदतावाद (Romanticism) की भावना के साथ यथार्थवाद और अभिव्यंजनावाद की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। द्वितीय उत्थान की नीरस बौद्धिकता के पश्चात् वर्तमान काव्य का स्वच्छंदतावाद अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होता है। द्वितीय उत्थान के शास्त्रानुयायी (Classical) संयमित और सामंजस्यपूर्ण चित्रण के विरोध से हम परिचित हैं। द्विवेदी-युग की आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के विरोध से कल्पना और अनुभूति को उत्तेजना मिली। यही स्वच्छंदतावाद है। स्वच्छंदतावाद प्रधानतया कल्पनात्मक मनोदृष्टि है।

स्वच्छंदतावादी कविता की विविधता के बीच एक सामान्य विशेषता-स्वातंत्र्य-प्रेम के दर्शन होते हैं। रूढ़िग्रस्त काव्य-विषय और उपमान छोड़ दिए गये हैं। कवि काव्य के वृत्तों और छंदों में नूतन प्रयोग कर रहे हैं। इनके उपयोग में भी कवियों को स्वतंत्रता है। स्वच्छंदतावाद के दो प्रधान लक्षण—जिज्ञासा और सौंदर्य-प्रेम—वर्तमान काव्य में वर्तमान हैं।

पंत में सौंदर्य-प्रेम सबसे अधिक लक्षित होता है। कवि में सौंदर्य-प्रेम सौंदर्य के अन्वेषण में परिणत हो गया है। कवि ने जितना सौंदर्य देखा है वह उससे संतुष्ट नहीं है। पंत में अधिक सौंदर्य देखने की लालसा है। कवि की यह भावना निम्नलिखित प्रार्थना में लक्षित होती है—

"विश्वकामिनी की पावन छबि मुझे दिखाओ करुणावान।"[१]

सौंदर्य की खोज नीचे की पक्तियों में अभिव्यक्त हुई है—

"कहीं काँटे हैं कुटिल कठोर, जटिल तरु जाल हैं किसी ओर।
सुमन-दल चुन चुनकर निस भोर, खोजना है अजान वह छोर।"[२]

रामकुमार वर्मा भी इसी खोज में संलग्न हैं। इनके विचारानुसार सौंदर्यामृत का पान ही दिव्य जीवन है—

"दिव्य जीवन है छबि का पान, यही आत्मा की तृषित पुकार।"[३]

'निराला' जी भी अपने को भूलकर सौंदर्य के गीत गाने को उत्सुक हैं—

"गाने दो प्रिय मुझे भूलकर अपनापन अपार जग सुंदर।"[४]

पंत में सौंदर्य की लालसा सबसे अधिक विकसित दिखाई पड़ती है। कवि को चारों ओर सौंदर्य की छटा दिखाई पड़ती है। कवि को सुंदरता में सभी ऐश्वर्यों का मूल दिखाई पड़ता है—

"अकेली सुंदरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों की संधान।"[५]

कवि सौंदर्य के गीत गाता हुआ इससे प्राप्त आनंद में दूसरे को भी विभोर करना चाहता है। कवि का कला का सिद्धांत निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

"काँटों से कुटिल भरी हो यह जटिल जगत की डाली।
इसमें ही तो जीवन के पल्लव की फूटी लाली॥"[६]

रहस्य की सूक्ष्म भावना, जो जिज्ञासा के संकेतों द्वारा व्यक्त होती है, स्वच्छंदतावाद का दूसरा लक्षण है। बहुत से कवियों

---

(१) पल्लव, पृष्ठ ४३। (२) उच्छ्वास, पृष्ठ ६। (३) रूपराशि। (४) गीतिका। (५) पल्लव, पृष्ठ ८१। (६) गुंजन, पृष्ठ १४।

को इससे प्रेरणा मिली और उन्होंने अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा को वाणी प्रदान की। 'प्रसाद' के 'मेघ' के समान इसकी अभिव्यक्ति अतीत की ओर संकेत द्वारा होती है—

"अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलंब।
सुखी सो रहे थे इतने दिन छिपे कहाँ नीरद निकुरंब॥"[१]

मनोरंजनजी के 'इस वैशाली के आंगन में' भी इसी प्रकार अतीत की ओर संकेत किया गया है।

यहाँ पर यक्षों की नगरी अलका की ओर संकेत से हमारी कल्पना उत्तेजित होकर और भी तीव्र हो जाती है। इसी प्रकार का प्रभाव अशोक के प्रति किए गए संकेतों से उत्पन्न होता है। 'निराला' जी की यमुना के प्रति कविता में रहस्य की सूक्ष्म भावना की जिज्ञासा की तृप्ति कृष्ण की ओर संकेतों से होती है—

"बता कहाँ अब वह वंशीवट, कहाँ गए नटनागर श्याम।
चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा-धाम॥"[२]

ताजमहल पर लिखी गई बहुत सी कविताओं की लोकप्रियता के मूल में यही भावना रही है।

रहस्य की सूक्ष्म भावना की तृप्ति केवल सुदूर अतीत से ही नहीं होती। अपने आसपास चारों ओर बिखरी हुई वस्तुएँ भी रहस्य का संकेत करती हैं। तारों भरी रात, लहराता हुआ सरोवर, किसान कन्या आदि अनेक वस्तुओं से कवियों को प्रेरणा मिली है। पंत को शांत सरोवर की लहरों में रहस्य का अनुभव होता है—

"शांत सरोवर का उर किस इच्छा से,
लहराकर ही उठता चंचल चंचल॥"[3]

---

(१) अजातशत्रु, पृष्ठ ११८। (२) परिमल, पृष्ठ २०। (३) गुञ्जन, पृष्ठ ४।

तारों को देखकर रामकुमार वर्मा की जिज्ञासा जाग पड़ती है। निम्नलिखित रूपक में इसकी अभिव्यक्ति हुई है—

"इस सोते संसार बीच सजकर धजकर रजनी बाले।
कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरे तारों वाले॥"[1]

'बच्चन' का ध्यान भी दूरागत ध्वनि से आकृष्ट हो जाता है और वे कह उठते हैं कि 'कोई पार नदी के गाता'। जीवन के साधारण दृश्यों के प्रति 'बच्चन' में सहज अनुराग लक्षित होता है। 'निशा-निमंत्रण' में ऐसे बहुत से संकेत मिलते हैं। सामान्य जीवन का एक साधारण दृश्य निम्नलिखित पंक्तियों में चित्रित किया गया है—

"साथी साँझ लगी अब होने।
मिट्टी से था जिन्हें बनाया, फूलों से था जिन्हें सजाया।
खेल घिरौंधे छोड़ पथों पर, चले गए हैं बच्चे सोने॥[2]

महादेवी वर्मा को बीते हुए अबोध बचपन की स्मृति मीठी लगती है—

"किस भाँति कहूँ कैसे थे वे जग से परिचय के दिन।
मिश्री सा घुल आता था, मन छूते ही आँसू कन॥
मुख जोह रहे हैं मेरा पथ में कब से चिर सहचर।
मन रोया ही करता क्यों अपने एकाकीपन पर॥"[3]

सुभद्राकुमारी चौहान में बच्चों के प्रति अगाध प्रेम है। इनको घरेलू जीवन की कवियित्री कहा जा सकता है। सादगी, भावानुभूति, समानुभूति और अकृत्रिमता इनकी रचनाओं की विशेषता है। 'ठुकरा दो या प्यार करो,' 'बिदा', 'मेरा नया बचपन'

---

(१) अञ्जलि, पृष्ठ ७। (२) निशा-निमंत्रण, पृष्ठ २५।
(३) रश्मि, पृष्ठ ३१, ३४।

आदि कविताएँ सरल और अभिव्यक्तिपूर्ण हैं। कवियित्री आडंबर से बहुत दूर हैं। उन्हें जीवन की सादगी से प्रेम है। शैशव का ऐसा भावपूर्ण वर्णन इसी कारण हो सका। पंत, 'नवीन' तथा 'भारतीय आत्मा' में इसके पुट का कारण आधुनिक सभ्यता और जीवन की जटिलता के प्रति विरोध है। यह स्वच्छंदतावाद है, क्योंकि इसका उद्देश्य जीवन को अवरुद्ध करनेवाली व्यर्थ की रूढ़ियों के उसे मुक्त करना है।

स्वच्छंदतावाद का अर्थ जीवन और साहित्य की कठोर रूढ़ियों से स्वतंत्रता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा रीतिकाल की परंपरा से मुक्त होकर हिंदी की कविता आज स्वतंत्र परिस्थिति में फूल रही है। कवियों ने स्वतंत्रता को अपना मान्य सिद्धांत बना लिया है। आज हलचल और अव्यवस्था का समय है। हमारा आचार-विचार खोखली रूढ़ियों में बद्ध है। वर्तमान कवि इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठा रहे हैं। नए-नए प्रयोगों के लिए ये प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता का आवाहन और स्वागत कर रहे हैं। वर्तमान कवि अभिव्यंजना की नई शैली और नवीन छंदविधान की उद्भावना में संलग्न हैं। वर्तमान समय नवीन अन्वेषणों और प्रयोगों का समय है। इसलिए इन कवियों की स्वछंदतावादी मनोदृष्टि समय के सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काव्य में स्वच्छंदतावाद का दुर्भाव अकारण नहीं है।

यहाँ पर यह ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वच्छंदतावाद से ही वर्तमान कविता का अंत नहीं होता। समस्त वर्तमान काव्य को केवल स्वच्छंदतावादी नहीं कहा जा सकता। ऐसे समय में जब कि विविध भावों और विचारों की धारा-प्रधाराएँ परस्पर मिलती हुई प्रवाहित हो रही हैं किसी एक रंग

को चुनकर उसे सामान्य लक्षण घोषित करना बड़ा कठिन है। हमें स्वच्छंदतावादी और क्रांतिवादी (जिसका वर्णन दूसरे प्रकरण में होगा) दोनों मनोदृष्टियों का वर्तमान कविता में प्रभाव दिखाई पड़ता है। कवि अपने भावों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट कर रहे हैं। आज की कविता प्रधानतया व्यक्तिगत है। कवियों का गतिशील जीवन में विश्वास है। ये संसार के सतत परि-वर्तन से पूर्णतया अवगत हैं और इसके महत्त्व को भली-भाँति समझते हैं। वर्तमान कविता में यथार्थवाद के भी दर्शन होते हैं। राष्ट्रीयता की भावना जागरित हो रही है और हम इसकी गरिमा को अच्छी तरह समझते हैं। हमारी आत्मा को नवीन बल प्राप्त हो रहा है।

वर्तमान काव्य की गतिविधि में इन सबके कारण नवीनता आ गई है। आज की कविता में विविधता और अनेकरूपता है। इसका सामान्य लक्षण स्वतंत्रता की भावना है। आज की नवीन कविता का अर्थ, भाव और भाषा की व्यर्थ की रुकावटा और परंपरा से मुक्ति तथा स्वतंत्रता है। काव्य की भाव-प्रकाशन की इस स्वतंत्रता के साथ साथ वर्तमान काव्य की अभिव्यंजना-प्रणाली और प्रक्रिया में भी अबाध स्वछंदता लक्षित होती है। इस प्रक्रिया के वर्णन और विश्लेपण की चेष्टा अगले अध्याय में की जायगी।

वर्तमान काव्य की प्रक्रिया

हम वर्तमान काव्य की सबसे बड़ी विशेषता स्वातंत्र्य-प्रेम से परिचित हो चुके हैं, और हम कवियों को स्वतंत्र रूप से भावाभिव्यंजन में संलग्न देख रहे हैं। स्वच्छंदतावादी मनोदृष्टि ने कवियों को रूढ़ियों से मुक्त कर स्वतंत्र बना दिया। इसका प्रभाव वर्तमान काव्य की प्रक्रिया पर भी पड़ा। कवियों को अब छंद, वृत्त, तुक, शैली आदि के विषय में पूरी स्वतंत्रता है। आज का समय नवीन प्रयोगों का समय है। कवि अपनी रचनाओं के लिए नए छंदों का प्रयोग तथा सर्जन कर रहे हैं। पंत, 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा, 'बच्चन' आदि आधुनिक कवियों की प्रतिभा का विकास नवीन छंदों में हो रहा है।

वर्तमान समय मुक्तक गीतों का युग है। मुक्तक गीतों के छंद सामान्यतया स्वाभाविक रूप से छोटे होते हैं। मुक्तक गीत किसी एक विशेष भावना की प्रेरणा का परिणाम होता है और इसीसे उसका रूप-विधान संक्षिप्त होता है। भाव के माध्यम द्वारा ही मुक्तक गीत के प्रधान विषय का प्रकाशन होता है। यही प्रत्येक रचना की सीमा निर्धारित करता है। अधिकतर इन मुक्तक गीतों का कलेवर भावातिरेक की स्थिति से परिवेष्टित रहता है। भावातिरेक के बीच इन मुक्तक गीतों की रचना होती है और इसकी शांति के साथ ही साथ इन रचनाओं की समाप्ति होती है। इसी कारण मुक्तक गीतों के छंद छोटे होते हैं और वे स्वतः पूर्ण होते हैं। वर्तमान मुक्तक गीतों की संख्या बहुत है और इसी

प्रकार इनके छंदों में भी अनेकरूपता है। इन वृत्तों और इनके चरणों की रचना में विविधता लक्षित होती है।

वर्तमान काव्य के छंद-विधान के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसकी प्रवृत्ति स्वतंत्रता और विविधता की ओर है। रचना की विविधता की ओर कवियों के झुकाव का कारण यह आधुनिक विश्वास है कि अत्यंत निम्न वस्तु भी काव्य-विषय बनने के उपयुक्त है, आर कवि की प्रतिभा के स्पर्श से छोटी से छोटी वस्तु भी महत्त्वपूर्ण और सौंदर्यपूर्ण बन सकती है। अपनी भावना को साकार रूप देने के लिए उसके अनुरूप वृत्तों के चुनाव का भार कवि पर है और इस संबंध में उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। यह अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होता है कि ऐसा युग, जिसमें कवि मानव-जीवन और विचारों के नवीन पक्षों के अनुभव के लिए प्रयत्नशील हैं, छंद के क्षेत्र में नवीन वृत्तों की उद्भावना का भी युग हो।

नवीन कलापूर्ण वृत्तों की उद्भावना में कवि सारूप्य (Symmetry) और विभिन्नता (Variety) के (एक दूसरे से कुछ अंशों में विरोधी) दो तत्त्वों का उपयोग कर रहे हैं। वर्तमान काव्य के छंद विविध प्रकार के हैं। इनमें से अधिकांश छोटे हैं और इसी कारण उनमें सारूप्य अधिक है। इस सारूप्य का कारण लय और तुक है। इनमें विभिन्नता और विविधता उपयुक्त स्वर-परिवर्तन (Cadence), वर्णों की वृद्धि और अंतर-अंत्यानुप्रास के द्वारा लाई जाती है। परंपरा से प्राप्त कवित्त, सवैया आदि पुराने छंदों का कम व्यवहार कर सारूप्य की ओर अधिक ध्यान न देकर लय को पद्य का आधार मानकर आधुनिक कवि नवीन छंदों की सर्जना कर इस क्षेत्र में विविधता और अनेकरूपता ला रहे हैं। महादेवी वर्मा और 'बच्चन' के मुक्तक

गीत लय के आश्रित तथा आधारभूत हैं। इनके छंदों के नवीन प्रयोग सफल सिद्ध हुए हैं।

छंदों का त्याग किसी कवि ने नहीं किया है, यद्यपि आधुनिक कवियों ने स्वच्छंद छंद को भी अपनाया है। 'प्रसाद' और 'निराला' जी ने इन स्वच्छंद छंदों का प्रयोग कर इनमें आशातीत सफलता प्राप्त की। 'लहर' का कथात्मक अंश स्वच्छंद छंद में लिखा गया है। कल्पनात्मक शैली का उपयोग कर 'प्रसाद' ने इतिहास की घटनाओं का छंदहीन स्वच्छंद छंद में सफलतापूर्वक निर्वाह किया। इस क्षेत्र में 'प्रलय की छाया' इनकी सर्वोत्तम रचना है। 'जूही की कली' और 'शेफालिका' 'निराला' जी की सबसे प्रौढ़ तथा प्रभावपूर्ण कविताएँ हैं। इन कविताओं की लय इनकी विचारधारा के सर्वथा अनुरूप है। भाव तथा लय में पूर्ण सामंजस्य है। भाव के अनुकूल इनकी लय में प्रवाह है। अँगरेजी-काव्य के प्रभाव से स्वच्छंद छंदों का चलन हुआ। द्विवेदी युग में पंडित श्रीधर पाठक ने स्वच्छंद छंद में कविताएँ लिखी थीं।

यद्यपि कुछ सामान्य कवि भी स्वच्छंद छंदों की ओर झुक रहे हैं तथापि इसका क्षेत्र सदैव परिमित रहेगा। यह कतिपय विशेष मनस्थितियों और विषयों के ही उपयुक्त है। छंदहीन रचना की सफलता के लिए अधिक सच्ची प्रेरणा, लय पर पूर्ण अधिकार और बँधे छंदों की अपेक्षा अधिक संयम की आवश्यकता है।

वर्तमान कवियों का ध्यान लय की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है। जैसा एक विद्वान ने कहा है—हमारा जीवन और हमारी स्थिति इसी में है। श्वास-प्रश्वास की लयपूर्ण गति में गड़बड़ी का अर्थ फेफड़ों की बीमारी है और इस लय के टूटने का तात्पर्य मृत्यु है। हमारे भाव हमारी शारीरिक लय को

सदा परिवर्तित कर घटाते-बढ़ाते और शांत तथा उत्तेजित करते रहते हैं। काव्य में लय की महत्ता का मूल इसी में है। इसी सत्य में विविध प्रकार की लय का भाव-परिवर्तन तथा भावों को प्रभावित करने का हेतु निहित है। सच्ची भावना की अनुभूति द्वारा उद्भूत लय का स्वर-समुच्चय और ध्वनि पाठक में भी उसी भाव के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होगी।

लय के नवीन प्रयोगों में कवि इसी प्रकार की पूर्णता लाने का प्रयास कर रहे हैं, और वे इसमें सफल भी हुए हैं। कवि के मस्तिष्क में भाव और लय का प्रादुर्भाव साथ-साथ होता है। इसके परिणामस्वरूप पाठकों की भावना को जागरित करने-वाली कविता की सर्जना होती है। लय स्वयं कविता के भावों की ओर संकेत करती है। ध्वनि से इसको विचारधारा का संकेत मिलता है।

इन मुक्तक गीतों का संकेत भाषा की संगीतात्मकता की ओर भी है जिसकी ओर हिंदी के कवियों का ध्यान सदा से रहा है। आधुनिक प्रवृत्ति वृत्तों की संगीतात्मकता के विकास की है। यद्यपि अधिकांश कविताएँ प्रधानतया बाजे के साथ या वैसे ही गाने के लिए नहीं लिखी जाती हैं, तथापि इनके रचनात्मक संविधान और भावना से, संगीतात्मक लय और वर्ण-योजना से ही, इनकी संगीतात्मकता का संकेत मिलता है। (कुछ मुक्तक गीत तो महफिल को बहलाने के लिए ही लिखे जाते हैं। इनके लेखक भावना को छोड़कर संगीतात्मकता की ओर अधिक झुके रहते हैं)। इनमें संगीतात्मक शब्द-समूह (Assonance) और अंतर-अंत्यानुप्रास का सामंजस्यपूर्ण विधान लक्षित होता है। कवि शब्दों के ध्वनि-सौंदर्य से हमारा परिचय बढ़ा रहे हैं। प्रत्येक समय की सर्वोत्तम कविता के समान आज की कविता भी सच्ची

भावसृष्टि का परिणाम है, जिसमें शब्द और अर्थ का, उपमान और प्रतीक के समान, मधुर लय से योग रहता है।

वर्तमान कविता में प्रतीकों की प्रधानता है। कवि भावाभिव्यंजन के क्षेत्र में इनकी महत्ता को अच्छी तरह समझते हैं। ये जानते हैं कि साधारण वक्तव्य की अपेक्षा प्रतीकों के द्वारा सत्य को अधिक प्रभावोत्पादक, मार्मिक और संक्षिप्त रूप में प्रकट किया जा सकता है। ये जानते हैं कि प्रतीकों का प्रयोजन उपादेयात्मक नहीं है। इनका उद्देश्य सत्य को सौंदर्य से समन्वित करना है। वे यह भी जानते हैं कि काव्य में प्रतीकों का उद्देश्य केवल सजावट नहीं है, प्रत्युत ये काव्य के आधारभूत अंग हैं। केवल कवि के भावावेश में उद्भूत प्रतीक ही पाठकों में वैसी भावना जगाने में समर्थ होते हैं। ऊपरी बुद्धि द्वारा सजावट के लिए गढ़े हुए प्रतीकों का विश्लेषण करने पर उनमें सच्ची सौंदर्य-भावना का अभाव तथा शिथिलता लक्षित होती है। सुंदर लय के समान सौंदर्यपूर्ण उपमान और प्रतीक भी कवि की सच्ची भावानुभूति के द्योतक होते हैं।

इन प्रतीकों का अपने देश की परंपरा, इतिहास, जलवायु तथा जाति के आचार-विचार से घनिष्ट संबंध होता है। प्रत्येक देश के प्रतीकों का अपना समूह होता है. जिनके द्वारा देशवासी अपने सुख, दु:ख, मृत्यु, स्वर्ग, नरक आदि की भावना को प्रकट करते हैं। इस प्रकार उष्ण देशों की भीषण उष्णता नरक की ज्वाला का प्रतीक बन गई और ठंढे देशों की घोर शीतलता भी नरक मानी जाने लगी। वसंत तथा ग्रीष्म हर्ष और दु:ख के द्योतक माने गए। इसलिए दूसरी भाषाओं के प्रतीकों का अपने साहित्य में समावेश करते समय अत्यंत सावधानी की आवश्य-

कता है क्योंकि उन भाषाओं से अपरिचित पाठकों के लिए अधिकांश विदेशी प्रतीक अर्थहीन सिद्ध होंगे।

वर्तमान कवि परंपरा से प्राप्त (चंद्र, कमल आदि) प्रतीकों से संतुष्ट नहीं हैं। वे अपनी रचनाओं को मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए नए प्रतीकों की उद्भावना कर रहे हैं। इस प्रकार उषा इन कवियों के लिए स्फूर्ति, जीवन के आरंभ और सुख का प्रतीक बन गई है। संध्या जीवन के अवसान, एकांत तथा दुःख का द्योतन करती है। प्रकाश सुख को और अंधकार निराशा को सूचित करता है। स्वर्ण में दीप्ति तथा कांति की भावना है। इन प्रतीकों का आधुनिक रचनाओं में अत्यधिक व्यवहार होता है। इसलिए इनके उद्धरण की कोई आवश्यकता नहीं। कुछ विशिष्ट प्रतीकों का व्यवहार कतिपय कवियों ने किया है, इसलिए इनकी ओर पाठकों का ध्यान दिलाना आवश्यक है।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के 'आँसू' से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियाँ नवीन ढंग के प्रतीकों से युक्त हैं—

"झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥"[1]

यहाँ पर भावों का संघर्ष 'झंझा' है, वेदना की अनुभूति 'बिजली' है और अश्रुओं की धारा 'नीरदमाला' है। इसी प्रकार 'प्रसाद' जी ने 'मुरली' को मधुर भावनाओं का प्रतीक बनाया है—

"विस्मृति है, मादकता है, मूर्छना भरी है मन में।
कल्पना रही, सपना था, मुरली बजती निर्जन में॥"[2]

---

(१) आँसू, (द्वितीय संस्करण, १९३३) पृष्ठ ११।
(२) आँसू, पृष्ठ २५।

'प्रसाद' के समान पंत भी अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों के व्यवहार में अत्यंत पटु हैं, इनकी रचनाओं में प्रतीकों का अत्यंत उपयुक्त प्रयोग होता है—

"कभी तो अब तक पावन प्रेम, नहीं कहलाया पापाचार।
हुई मुझको ही मदिरा आज, हाय क्या गंगाजल की धार॥"[1]

यहाँ 'गंगाजल' पवित्रता और 'मदिरा' कलुष का प्रतीक है। नीचे की पंक्तियों में 'उषा' पवित्रता, स्फूर्ति तथा उच्च भावना और 'मुकुल' निर्मलता तथा अबोधता का प्रतीक है—

"उषा का था उर में आवास, मुकुल का मुख में मृदुल विकास।
चाँदनी का स्वभाव में भास, विचारों में बच्चों की साँस॥"[2]

'निराला' जी की निम्नलिखित पंक्तियों में 'प्रात', 'चंद्र-ज्योत्सना' और 'रेणु' स्फूर्ति, शांति और शीतलता के प्रतीक हैं—

"वहाँ नयनों में केवल प्रात, चंद्रज्योत्स्ना ही केवल गात।
रेणु छाए ही रहते पात, मंद ही बहती सदा बयार।
हमें जाना इस जग के पार॥"[3]

इसी प्रकार महादेवी वर्मा ने शूलों को दुःख का और कलियों को सुख का द्योतक माना है। अलिकुल का क्रंदन दुःख का और पिक का कल-कूजन सुख का प्रतीक है। नीचे की पंक्तियों में कवियित्री द्वारा सुख-दुख की साथ-साथ अनुभूति की भावना की बड़े सुंदर ढंग से अभिव्यक्ति हुई है—

"शूलों का दंशन भी हो, कलियों का चुंबन भी हो।
सूखे पल्लव फिरते हों कहते जब करुण कहानी।
मारुत परिमल का आसन, नभ दे नयनों का पानी।
जब अलिकुल का क्रंदन हो, पिक का कल कूजन भी हो॥"[4]

---

(१) पल्लव, पृष्ठ २४। (२) पल्लव, पृष्ठ २६। (३) परिमल—'गीत'
(४) नीरजा, संख्या ४०, पृष्ठ ८५।

काव्य के प्रतीकों के विषय में एक बात आवश्यक है। नवीनता और प्रभाव के लिए नए-नए प्रतीकों की उद्भावना अत्यंत अपेक्षित है, नहीं तो ये प्रतीक रूढ़िगत होकर प्रभाव हीन हो जाते हैं। नवीन विधान के अभाव में हिंदी की आधुनिक रहस्यवादी कविता के हृत्तंत्री, वीणा, मूक वेदना, मौन आह्वान आदि प्रतीक रूढ़ और प्रभावहीन हो गए हैं। फ़ारसी कविता के साक़ी-प्याला के समान ही अब इनमें कोई प्रभाव नहीं है।

प्रतीकों के समान साम्य की योजना भी काव्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है। इनके द्वारा कवियों की भावना का विशद चित्रण होता है और पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। वर्तमान कविता में इनका चलन है। इन्हें पुरानी अलंकार-शैली का नव-विधान कहा जा सकता है। वर्तमान कवि रूप-साम्य पर अधिक आग्रह न कर गुण और प्रभाव को दृष्टि में रखकर साम्य की योजना करते हैं। मानसिक स्थिति की बाह्य दृश्यों से तुलना के लिए इनका उपयोग किया जाता है। साम्य के आधार पर बड़ी सुंदर अभिव्यंजना की उद्भावना हुई है। कवि वर्तमान नरत्व के रूपक (Personifications) और विशेषण-विपर्यय अलंकार (Transferred Epithet) का भी अधिक व्यवहार कर रहे हैं।

वर्तमान कवियों में पंत की साम्य-योजना सबसे बढ़ी-चढ़ी है। इसका सबसे अधिक प्रयोग पंत की कविता में पाया जाता है। इसलिए साम्य-विधान के दिग्दर्शन के लिए केवल पंत की कविता से उद्धरण देना अनुचित न होगा। निम्नलिखित पंक्तियों में शैशव में यौवन के क्रमिक विकास का चित्र अंकित हुआ है—

"मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार, अधोमुख अरुण सरोज समान।
मुग्ध कवि के उर के छू तार, प्रणय का सा नव गान।
तुम्हारे शैशव में सोभार, पा रहा होगा शैशव प्राण।"[1]

यहाँ पर सौंदर्य और कोमलता को द्योतित करने के लिए दो साम्यों की योजना की गई है। एक उपमान मृदुल लहरियोंवाली झील में उठता हुआ अरुण सरोज है और दूसरा कवि के हृदय में प्रेमगीत की शनैः शनैः उद्भावना है। यौवन का विकास कमल की क्रमशः बढ़ती हुई शोभा और कवि के हृदय में धीरे-धीरे उठते हुए प्रेम के गीत के समान है। नीचे की पंक्ति में स्थूल की उपमा सूक्ष्म से दी गई है। पर्वत के ऊँचे वृक्ष हृदय से उठनेवाली ऊँची इच्छाओं के समान हैं—

"गिरिवर के उर से उठ-उठ कर उच्चाकांक्षाओं से तरुवर॥"[2]

निम्नलिखित पंक्तियों में मानसिक स्थिति की तुलना प्रकृति के बाह्य दृश्य से की गई है—

"तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान, प्रभा के पलक मार उर चीर।
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर, मुझे करता है अधिक अधीर।
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण, खोजते हैं तब तुम्हें निदान।"[3]

पंत बेधड़क होकर साम्य की योजना करते हैं। नीचे की पंक्तियों में काल और देश की बड़ी सुंदर साम्य-योजना की है—

"चुन कलियों की कोमल साँस, किसलय अधरों का हिम हास।
चिर अतीत स्मृति सी अनजान, ला सुमनों की मृदुल सुवास॥
पिघला देतीं तन मन प्राण।"[4]

अतीत अर्थात् काल की मधुर स्मृति वर्तमान में इस प्रकार

(१) गुंजन, पृष्ठ ३५। (२) पल्लव, पृष्ठ ८। (३) पल्लव (प्रथम संस्करण, सन् १९२६), पृष्ठ १८। (४) पल्लव, पृष्ठ ६३।

आक्रांत कर लेती है जिस प्रकार दूर (देश) से आता हुआ सौरभ। निम्नलिखित पद्य में शब्द और गंध की साम्य-योजना की गई है। गंध शब्द के समान व्याप्त हो रही है। कुंज सौरभ और शब्द में लिपटा हुआ है—

"गंध गुंजित कुंजों में आज, बँधे बाँहों में छायालोक।
छजा मृदु हरित छदों का छाज, खड़े द्रुम तुमको खड़ी विलोक॥"[1]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन साम्यों की योजना गुण तथा प्रभाव का आश्रय लेकर की गई है—

प्रभाव-साम्य—

"नवोढ़ा बाल लहर अचानक उपकूलों के,
प्रसूनों के ढिंग रुककर सरकती है सत्वर।"[2] —पंत।

गुण साम्य—

"मुखकमल समीप सजे थे दो किसलय से पुरइन के,
जलबिंदु सदृश ठहरे कब इन कानों में दुख किनके।"[3]

—'प्रसाद'।

प्रथम पद्य में साम्य का आधार लज्जा है। यहाँ पर केवल लज्जा के प्रभाव को ध्यान में रखा गया है। दूसरे में अम्लानता (ताज़गी) साम्य का आधार है। गुण की समता के आधार पर तुलना की गई है।

नरत्व का रूपक और विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) भी आधुनिक कवियों को विशेष रूप से प्रिय हैं। पंत, 'प्रसाद' और महादेवी वर्मा की रचनाओं में इनका बाहुल्य है।

---

(१) गुंजन, (प्रथम संस्करण, सन् १९३२), पृष्ठ ५३।
(२) पल्लव, पृष्ठ २०। (३) आँसू।

"छपी सी पीसी मृदु मुस्कान, छिपी सी खिंची सखी सी साथ ।
उसी की उपमा सी बन मान, गिरा का धरती थी धर हाथ ॥"[१]–पंत ।

"बीती विभावरी जाग री,
अंबर पनघट पर डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी ।"[२] –'प्रसाद' ।

"धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत रजनी,
तारकमय नव वेणी बंधन, शीशफूल कर शशि का नूतन ।
रश्मि वलय सित नव अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी ॥"[३]–महादेवी वर्मा ।

विशेषण-विपर्यय के दो उदाहरण पंत और निराला की रचनाओं से दिए जाते हैं—

"गूढ़ कल्पना सी ऋषियों की अज्ञाता के विस्मय सी ।
ऋषियों के गंभीर हृदय सी बच्चों के तुतले भय सी ॥" [४] –पंत ।

"बता कहाँ अब वह वंशीवट, कहाँ गए नट नागर श्याम ।
चल चरणोंका व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृंदा-धाम ॥"[५]–'निराला'

उपलक्षण और साम्य-योजना के साथ-साथ भाषा का लाक्षणिक प्रयोग भी वर्तमान काव्य की प्रधान विशेषता है। वर्तमान कवि लक्षणा के आधार पर नवीन अभिव्यंजना-प्रणाली का विकास कर रहे हैं। इसके लिए कवियों ने कार्य-कारण, आधार-आधेय, व्यंग-व्यंजक और उपादान लक्षणा का प्रयोग किया है। इसका व्यवहार दिखलाने के लिए विविध कवियों की रचनाओं से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं। नीचे की पंक्तियों में कार्य-कारण लक्षणा के उदाहरण हैं—

---

(१) पल्लव, पृष्ठ ५। (२) लहर, पृष्ठ १६। (३) नीरजा, पृष्ठ २
(४) पल्लव, पृष्ठ ६७। (५) परिमल (प्रथम संस्करण, १९२९)
पृष्ठ २०।

"यही तो है बचपन का हास, खिले यौवन का मधुप-विलास।
प्रौढ़ता का वह बुद्धि-विकाश, जरा का अंतर्नयन-प्रकाश।
जन्मदिन का है यही हुलास, मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास॥"[१]–पंत

"मेरे जीवन की उलझन बिखरी थी उनकी अलकें,
पी ली मधु मदिरा किसने थी बंद हमारी पलकें।"[२] —'प्रसाद'।

"बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार।
नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार।"[३] —'निराला'।

निम्नलिखित उद्धरण में उपादान-लक्षणा का उपयोग हुआ है—

"कनक-छाया में जब कि सकाल, खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल, तड़प बन जाते हैं गुंजार॥"[४]—पंत।

नीचे की पंक्तियों में आधार-आधेय लक्षण का व्यवहार हुआ है—

"मर्म पीड़ा के हास"
"सिड़ी के गूढ़ हुलास"[५]—पंत।

"सुख अपमानित करता सा जब व्यंग्य हँसी हँसता है,
चुपके से तब मत रो तू यह कैसी परवशता है।"[६]—प्रसाद'।

निम्नलिखित दो उद्धरणों में व्यंग-व्यंजक संबंध की लक्षणा है—

(१) पल्लव, पृष्ठ ९। (२) आँसू, पृष्ठ २१। (३) परिमल—'तरंगों के प्रति'। (४) पल्लव, पृष्ठ ११। (५) पल्लव, पृष्ठ १२। (६) आँसू।

"अरी वरुणा की शांत कछार,
तपस्वी के विराग की प्यार।"[1]—प्रसाद
"आह यह मेरा गीला गान।"[2] पंत।

नीचे की पंक्ति संलक्ष्यक्रम व्यंग्य का सुंदर उदाहरण है—

"मधु-मंगल की वर्षा होती, काँटों ने भी पहना मोती।
जिसे बटोर रही थी रोती, आशा समझ मिला अपना धन॥"[3]

—'प्रसाद'।

भाषा के लाक्षणिक प्रयोग के उपर्युक्त उद्धरण सांकेतिक मात्र हैं। इन उद्धरणों द्वारा लाक्षणिक प्रयोगों के अधिकाधिक व्यवहार की ओर संकेत किया गया है। इसलिए अधिक उदाहरण देकर पन्ने रँगने की कोई आवश्यकता नहीं। भाषा की बढ़ती हुई शक्ति को द्योतित करने के लिए इतने उदाहरण पर्याप्त होंगे। इनके द्वारा हिंदी-भाषा की व्यंजकता बढ़ रही है। भाषा की शक्ति बढ़ाने के लिए इनका प्रयोग वांछनीय है।

आगे बढ़ने के पहले प्रतीकात्मक प्रयोग, साम्य-विधान और लाक्षणिक प्रयोगों के बाहुल्य के कुछ कारणों की ओर संकेत कर देना अच्छा होगा। तृतीय उत्थान का आरंभ ही द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता के विरोध में हुआ है। बँगला और विशेषतया स्वर्गीय रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक कविताओं की हिंदी-पाठकों में लोक-प्रियता बढ़ी तथा कवियों ने भी इसी शैली पर नवीन प्रयास किया। आधुनिक काव्य में बँगला की प्रभाव रहस्य की भावना, 'लछना, कुहुकिनी, छलछल' आदि शब्दों तथा अभिव्यंजना की नवीन लाक्षणिक शैली में लक्षित होता है।

---

(१) लहर (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ७। (२) पल्लव, पृष्ठ १५।
(३) लहर, पृष्ठ १५।

उर्दू का भी हिंदी-कविता पर अधिक प्रभाव पड़ रहा है। उर्दू-काव्य के प्याला, साक़ी, मैख़ाना, सुराही, मै आदि प्रतीकों को हिंदी के कुछ कवियों ने ग्रहण किया है, इसके परिणाम-स्वरूप हिंदी में एक काव्यधारा का नाम ही 'हालावाद' पड़ गया। इसमें मधुशाला, मधु, मधुबाला आदि की भरमार है। इस समुदाय के प्रतिनिधि और प्रधान कवि 'बच्चन' और भगवतीचरण वर्मा हैं। बहुत से कवियों ने साक़ी और प्याला पर कविताएँ लिखीं तथा एक प्याला पीकर सब कुछ भुलाने को लालायित रहे। मुस्लिम कब्रों ने बहुत से कवियों को मोहित किया। बहुतों ने कब्र पर चिराग जलाकर आँसू बहाए—

"क्यों जुगनू का दीप जलाया"

"किस समाधि पर बरसे आँसू।"[1]—'प्रसाद'।

उर्दू के कवियों में अत्यधिक प्रचलित फ़लक़ की संगदिली की भावना ने हिंदी में कई कवियों को प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ रामकुमार वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। जिनमें वर्माजी ने आकाश के कठोर अत्याचारों का संकेत किया है—

"और पत्ते का पतन जो हो गया कुछ अचर से चर।
देखकर मैंने कहा अः यह निशा का मौन अंबर॥
शांत है जैसे बना है साधु संत निरीह निश्छल।
किन्तु कितने भाग्य इसने कर दिए हैं नष्ट निर्बल॥"[2]

अँगरेजी-कविता का वर्तमान हिंदी-काव्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। प्रतीकात्मक काव्य की रचना और भाषा के लाक्षणिक प्रयोग में हिंदी के कवियों को इस ओर से पर्याप्त

(१) अजातशत्रु—तृतीय अंक (२) चंद्रकिरण, पृष्ठ २८।

उत्तेजना मिली है। अधिकांश कवियों को इसमें अच्छी सफलता मिली है। इसके उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। कभी इन कवियों के प्रयास निष्फल भी हो जाते हैं। कभी-कभी ये कवि ऐसे प्रतीक हमारे सामने रख देते हैं जो व्यर्थ या अर्थहीन प्रतीत होते हैं। ये भूल जाते हैं कि विदेशी भाषा के प्रतीक उस भाषा से अपरचित पाठकों के हृदय में कवि की आंतरिक भावना को जागरित करने में असमर्थ होते हैं। ऐसे प्रतीक भाववहन में असफल प्रमाणित होते हैं—

"एक जीवन का पहला पृष्ठ देवि तुमने उलटा है आज।"[1]

—भगवतीचरण वर्मा।

अँगरेजी के 'पेज आव् लाइफ' से अपरिचित पाठकों के लिए यह पंक्ति पहेली बन सकती है। इसी प्रकार 'दिनकर' की निम्न-लिखित पंक्ति में 'समय-रेत, अंगरेजी के "सैंड आव टाइम" का अनुवाद जान पड़ता है—

"सुन्दरता का गर्व न करना ओ स्वरूप की रानी।
समय-रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी।"[2]

महादेवी वर्मा की निम्नलिखित पंक्ति में मृत्यु के ठंढे अधरों की भावना भी हमें विदेशी प्रतीत होती है—

काल के प्याले में अभिनव, ढाल जीवन का मधु आसव।
नाश के हिम अधरों से कौन, लगा देता है आकर मौन।"[3]

अँगरेजी के 'इनोसेंस' (निर्मलता और भोलापन) की भावना पंत की इन पंक्तियों में समुचित रूप से नहीं व्यक्त हो रही है—

"चाँदनी का स्वभाव में वास, विचारों में बच्चों की साँस।"[4]

---

(१) मधुकण—नववधू के प्रति। (२) विशालभारत—जीवन-संगीत, नवम्बर १९३२। (३) रश्मि, पृष्ठ २५। (४) पल्लव, पृष्ठ २६।

नीचे की पंक्ति में मान चूमने में मान मोचन की भावना न आ सकी—

"चूम मौन कलियों का मान, खिला मलिन मुख में मुस्कान।"[1]

यह पंक्ति अँगरेजी के 'किस्ड अवे दि फ्रेंड ऐंगर आँव् दि बड्स' का अनुवाद सा जान पड़ती है। पंत की निम्नलिखित पंक्ति में ज्योत्स्ना की रुग्णा बाला से तुलना सामान्य भावना के प्रतिकूल है। ज्योत्स्ना प्रसन्नता सूचित करती है, दुःख नहीं—

"जग के दुख दैन्य शिखर पर यह रुग्णा जीवन-बाला।
रे कब से जाग रही वह, आँसू की नीरव माला।"[2]

पंत की निम्नलिखित पंक्तियों में यूरोप के गोचारण-काव्य की झलक वर्तमान है—

"शिखर पर विचर मरुत रखवाल वेणु में भरता था जब स्वर।
मेमनों से मेघों के बाल कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर"[3]

उपर्युक्त उद्धरण दोषोद्घाटन द्वारा किसी कवि की निंदा करने के विचार से नहीं दिए गए हैं। इनका प्रयोजन केवल उन प्रभावों की ओर संकेत करना है जिनके बीच वर्तमान कवि काव्य-निर्माण कर रहे हैं, और जिनके अंधानुकरण से उनकी रचनाओं में कुछ अवांछनीय प्रवृत्तियों के आ जाने की आशंका है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नवीन उद्भावना का प्रयास कविगण छोड़ दें। वस्तुतः नवीन योजना करते समय केवल थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है। यह सभी काव्यमर्मज्ञ जानते हैं कि प्रतीक-विधान साम्य-योजना और लाक्षणिक प्रयोग भाषा की बढ़ती हुई शक्ति सूचित करते हैं। काव्य में मार्मिकता और

---

(१) पल्लव, पृष्ठ ५१। (२) पल्लव, पृष्ठ ८३। (३) पल्लव, पृष्ठ २०।

व्यंजना के लिए इनका सदा स्वागत होगा। अतः कभी-कभी थोड़ा-बहुत असफल होते हुए भी कवियों द्वारा नवीन अभि-व्यंजना-प्रणाली की उद्भावना और विकास सदैव स्तुत्य है।

वर्तमान काव्य के शब्दशोधन (Diction) और शैली में स्वतंत्रता लक्षित होती है। हमें विभिन्न शैलियों के दर्शन होते हैं क्योंकि कवि मनोनुकूल अभिव्यक्ति के लिए पूर्णतया स्वतंत्र हैं। गत पंद्रह वर्षों में कविता का शब्दशोधन और शब्दचयन समुचित रीति पर हुआ है। वर्तमान कवि शब्दों का कुशल और प्रभावोत्पादक व्यवहार कर रहे हैं। कवि शब्द की आत्मा से परिचित होने की चेष्टा करते हैं। जिस प्रकार अन्य जीव-धारियों के प्रति व्यवहार-कुशल होना पड़ता है उसी प्रकार कवि शब्दों को जीवित मानकर उनका प्रयोग सावधानी से करते हैं। इसीलिए ये तुक मिलाने के लिए शब्दों के रूप-परिवर्तन या तोड़-मरोड़ के पक्ष में नहीं हैं। अच्छे कवि वाक्य में उलट-फेर और तोड़-मरोड़ एवं तुकबंदी के भद्दे तथा अनुपयुक्त शब्दों का व्यवहार ठीक नहीं समझते। ये किसी शब्द को केवल साहित्यिक या काव्यमय माने जाने के कारण प्रयुक्त नहीं करते। इनके लिए जो शब्द भाववहन में समर्थ हो और जिसका अन्य शब्दों से सामंजस्य हो वही काव्य के उपयुक्त है। इस कारण आधुनिक कवि 'काव्यगत विशेषाधिकार' (Poetic License) के लिए एकदम चिंतित नहीं हैं। ये शब्दों के साथ अनुचित व्यवहार के लिए किसी प्रकार की स्वच्छंदता नहीं चाहते। कवि की भावानुभूति की सचाई के आदर्श के कारण अनेक रूपात्मक विशिष्ट पदावली एवं पदशैली (Diction) दिखाई पड़ती है। प्रत्येक कवि की पदावली एवं पदशैली (Diction) पर पृथक्-पृथक् विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि विचार-

वैभिन्य के साथ-साथ इनकी अभिव्यक्ति का ढंग भी एक-दूसरे से पृथक् है।

पंत, 'प्रसाद' और 'निराला' को साथ लिया जा सकता है, क्योंकि इनकी पदावली एवं पदशैली (Diction) का सामान्य गुण संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है। इनकी भाषा की मधुरता संस्कृत-पदावली के आश्रित है। संस्कृत-शब्दों की भरमार से इनकी रचनाओं की तड़क-भड़क तो कुछ बढ़ जाती है परंतु ये जीवित भाषा के प्रवाह और प्रभाव से वंचित रह जाती हैं। संस्कृत के (तत्सम) शब्दों के भार से इनकी भाषा पंगु बन जाती है। इस शैली का अधिक अनुकरण भाषा के नैसर्गिक रूप और शक्ति को नष्ट कर उसे दुर्बल बना देगा। इनकी रचनाएँ सामान्य जनता के लिए अत्यंत कठिन और दुर्बोध हैं।

महादेवी वर्मा की रचनाओं में भी प्रवाह का अभाव है। यद्यपि संस्कृत की पदावली की ओर इनका अधिक झुकाव नहीं है और ये प्रभाव के लिए उर्दू के शब्दों को ग्रहण करती हैं तथापि इनकी भाषा में स्वाभाविक भाषा का प्रवाह और ओज नहीं है। इनकी भाषा में भी संस्कृतपन का थोड़ा पुट है ही। प्रवाह के अभाव का दूसरा कारण इनकी कविताओं का विषय भी है। लय की शालीनता और धीमी गति रहस्यवादी प्रेमगीतों की गंभीरता और शांति के अनुकूल है।

हिंदी-भाषा के सच्चे और नैसर्गिक विकास के दर्शन 'नैपाली' और गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की शैली में होते हैं। इनकी रचनाओं में खड़ी बोली के मुहावरों का प्रयोग हुआ है। खड़ी बोली की अपनी प्राकृतिक मधुरता और सौंदर्य का स्वरूप इनकी शैली में लक्षित होता है। इनकी भाषा में प्रवाह, प्रभाव और

ओज है। ये कवि हिंदी-भाषा की उन्नति और विकास का सच्चा मार्ग दिखला रहे हैं।

प्रसाद गुण 'बच्चन' की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। इनकी शैली अभिव्यक्तिपूर्ण है। अपनी शैली को प्रवाहमयी और और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ये उर्दू के शब्दों और मुहावरों का अपनी रचनाओं में बिना संकोच समावेश करते हैं। भगवतीचरण वर्मा की शैली भी इसी प्रकार की है। इन कवियों की अभिव्यक्तिपूर्ण शैली का प्रधान कारण उर्दू के मुहावरों और शब्दों का समावेश है। उर्दू के प्रसाद गुण से मुग्ध होकर इन कवियों ने इस भाषा से लाभ उठाने की चेष्टा की है और अपने-अपने प्रयास में सफल भी हुए हैं।

यहाँ पर प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधि-कवियों की ओर संकेत मात्र करके वर्तमान कवियों की शैलियों के विकास की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की गई है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि भाषा की सच्ची उन्नति का मार्ग 'नैपाली' और 'बच्चन'-समुदाय दिखला रहा है, क्योंकि जीवन की भाषा को ही काव्य की भाषा बनना चाहिए। संस्कृत-पदावली की अत्यधिक आराधना से हिंदी-भाषा के नैसर्गिक विकास की कोई संभावना नहीं। इससे अभिव्यंजना-शक्ति कुंठित हो जायगी और उसमें न प्रसाद गुण आ सकेगा और न प्रवाह। इसके प्रभाव से हिंदी-काव्य की भाषा जीवन की भाषा न रहकर केवल सजावट की वस्तु मात्र रह जायगी।

इन पृष्ठों में छंद, लय, प्रतीक, साम्य, शैली, भाषा आदि की संक्षिप्त विवेचना की चेष्टा की गई है। कवियों में आदि से अंत तक नवीनता और व्यर्थ की रोक-टोक तथा रूढ़ि से स्वच्छं-दता लक्षित होती है। कवियों को नए रूपविधान से प्रेम है।

कवियों ने जीवन और साहित्य दोनों का प्राचीन परंपरा से विद्रोह किया है। सौंदर्य की खोज में ये कवि छंद, लय, शैली आदि के क्षेत्र में नवीन प्रयोग कर रहे हैं। इनके ढंग एक-दूसरे से उतने ही अलग हैं जितने ये स्वयं एक-दूसरे से पृथक् हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने के पहले वर्तमान काव्य और उसकी प्रक्रिया के कुछ सामान्य आदर्शों की ओर संकेत करना अनुचित न होगा। वर्तमान कवि कविता को जीवन से संबंधित कला मानता है। इसलिए इसे भावों और शब्दों द्वारा चुना हुआ रूपविधान चाहिए। भावना को अपने मनोनुकूल रूपविधान देने के लिए कवि को छंद, लय आदि के विषय में पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। आधुनिक कवि अच्छी तरह से जानता है कि छंद, लय, प्रतीक और साम्य का भावों से सीधा और शाश्वत संबंध है। इनका प्रयोग मनमाना या केवल सजावट के लिए न होना चाहिए। इनमें पाठकों तक भाववहन की पूरी शक्ति और क्षमता होनी चाहिए। अपनी रचनाओं के लिए विषय चुनने में कवि पूरी स्वतंत्रता चाहता है। जिस वस्तु से कवि की प्रतिभा और कल्पना को प्रेरणा मिलती है वही काव्य का उपयुक्त विषय बन जाती है। शैली के क्षेत्र में आधुनिक कवियों के एक दल (पंत, 'प्रसाद', 'निराला') का विशेष झुकाव संस्कृत-पदावली की ओर है। दूसरे दल (नैपाली, 'भक्त', सुभद्राकुमारी चौहान) का ध्येय प्रसाद गुण और प्रवाह है।

इस अध्याय और पूर्व के प्रकरण से, द्वितीय उत्थान से, वर्तमान कविता की भिन्नता पूरी-पूरी लक्षित हो जाती है। द्विवेदी-युग की भावना बहुत-कुछ शास्त्रबद्ध (Classical) है। उस उत्थान में रूढ़ि से मुक्ति, स्वच्छंदतावादी मनोदृष्टि और

सौंदर्य की खोज का अभाव है। द्वितीय उत्थान से वर्तमान काव्य की इन विशेषताओं के स्वाभाविक संबंध की ओर कई बार संकेत किया जा चुका है। वर्तमान काव्य के भाव, भाषा और अभिव्यंजना-क्षेत्र की स्वच्छंदता तथा सौंदर्य के लिए काव्य-संबंधी नवीन प्रयोग द्विवेदी-युग की रूढ़ि और पुरातन छंदोविधान (Old prosody) के विरोध में चले थे। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि आधुनिक काव्य की भावना और प्रक्रिया नवीन है। नए होने के कारण भाषा और भाव के क्षेत्र के नवीन प्रयोगों को जनता आरंभ में अच्छी तरह नहीं समझ सकी और उनका समुचित स्वागत न कर सकी।

प्रथम अध्याय में रहस्यवादी कविता के प्रति जनता की उदासीनता के विषय में उठाए गए प्रश्न का उत्तर भी इसी में मिल जाता है। आगामी अध्याय में इसे अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी।

रहस्यवादी कविता

रहस्यवाद पर विगत आधुनिक वर्षों में जितना वाद-विवाद चला उतना कदाचित् अन्य विषयों पर नहीं। समालोचक, लेखक और कवियों ने इसमें जितना उत्साह दिखाया उसे पाकर साहित्य का कोई भी अंग समृद्धिशाली हो जाता, परंतु आलोचना-प्रत्यालोचना से विषय सुगम न होकर और भी जटिल होता गया। रहस्यवाद के सम्यक् अध्ययन का बहुत कम प्रयत्न हुआ। फलतः दो-एक लेखकों को छोड़कर शेष के विचारों में स्पष्टता का अभाव है।

आधुनिक हिंदी-साहित्य में अँगरेजी के 'मिस्टिसिज्म' (Mysticism) का 'छायावाद' तथा 'रहस्यवाद' के नाम से बोध होता है। 'रहस्यवाद' उस रहस्योन्मुख भावना की ओर संकेत करता है जिसका 'मिस्टिसिज्म' से सतत संबंध है। 'छायावाद' का अपना इतिहास है। इसका मूल बँगला-साहित्य के 'छाया-दृश्य' पद में मिलता है।

बँगला के रहस्यवादी साहित्य के प्रभाव से आधुनिक हिंदी-साहित्य में रहस्यवाद की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। 'ब्रह्म-समाज' की उपासना का ढंग रहस्यात्मक है। इसके उपासना के गीतों में उस 'प्रियतम' की 'झलक' का वणन होता है जिसका उपासक को कभी-कभी आंशिक आभास मात्र मिल जाता है। उपासक के लिए प्रतीकों का उपयोग आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इस माध्यम के द्वारा वह 'दिव्य ज्योति' को धूमिल बनाकर आत्मा के साक्षात्कार के उपयुक्त बनाता है। इन्हीं प्रतीकों के द्वारा उसे

प्रेषणीयता प्राप्त होती है। 'हाल' या मूर्च्छा की अवस्था में प्राप्त प्रियतम की झलक का वर्णन इन प्रतीकों द्वारा किया जाता है, क्योंकि इनमें और प्रियतम में काल्पनिक साम्य होता है। इन प्रतीकों का सांसारिक वस्तुओं से साम्य होने के कारण सांसारिक इनको सुगमता से समझ लेते हैं और इस प्रकार इन प्रतीकों के सहारे उन्हें उस 'प्रियतम' का आभास भी मिल जाता है। उस 'प्रियतम' की अपूर्ण प्रतिकृति होने के कारण इन प्रतीकों को बँगला में 'छाया-दृश्य' कहा गया। अतः रहस्यात्मक प्रतीकों (छाया-दृश्य) से युक्त कविता का नाम छायावादी कविता या रहस्यवादी कविता पड़ा।

यह है 'छायावाद' शब्द का इतिहास। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मिस्टिसिज्म' के हिंदी-पर्यायवाची 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' में मूलतः कोई तात्त्विक भेद नहीं है। कुछ समालोचक वाद-विवाद के जोश में छायावाद और रहस्यवाद में मूलतः भेद न रहने पर भी भेद का निरूपण करने लगते हैं। इसी से 'छायावाद' की विभिन्न और कभी-कभी विरोधी व्याख्याएँ की जाती हैं। कुछ लोग नवीन प्रक्रियावाली आधुनिक कविता को 'छायावादी कविता' का नाम देते हैं, कुछ समालोचक रहस्यवाद और छायावाद को पर्यायवाची मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'छायावाद' से दो भिन्न अर्थों का बोध होता है। आध्यात्मिक विषय से संबंधित होने पर यह रहस्यवाद से भिन्न नहीं है, परंतु प्रक्रिया से संबंध होने पर इसकी व्यापकता बढ़ जाती है और इसका प्रयोग प्रतीकात्मक रचना के लिए होता है। इसी लिए छायावाद की दोहरी व्याख्या से जटिलता बढ़ गई। तृतीय-उत्थान के प्रारंभ में रहस्यवादी रचनाओं के लेखकों को 'छायावादी कवि' कहा गया और आज की बहुत

सी रचनाएँ, जिसमें रहस्यवाद का लेश भी नहीं 'छायावाद' के नाम से प्रचलित हैं। इस जटिलता को कम करने के लिए अब छायावाद और रहस्यवाद के अर्थों को परिमित कर दिया गया है। अँगरेजी के 'मिस्टिसिज्म' के लिए रहस्यवाद' का व्यवहार होता है और नवीन प्रक्रियावाली आधुनिक कविता के लिए 'छायावाद' शब्द रूढ़ हो गया है।

रहस्यवाद विश्व की 'परम सत्ता' (Transcendental Reality) का बोध और साक्षात्कार है। ब्रह्म या ईश्वर से आत्मा के ऐक्य या सान्निध्य की धारणा 'रहस्यवाद' कहलाती है। यह वस्तुतः धार्मिक मनःस्थिति है। रहस्यवाद और धर्म में तात्त्विक भेद यह है कि रहस्यवादी उपासक को ईश्वर तक पहुंचने के लिए पुजारी या अन्य माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ती। रहस्यवादी को अपना पथ अपने आप चलाना पड़ता है। रहस्यवाद तात्त्विक रूप में ऐक्य की धारणा है और बुद्धि द्वारा उद्भूत द्वैत की भावना का निराकरण करता है।

रहस्यवाद आध्यात्मिक क्रिया है। उसका उद्देश्य भी आध्यात्मिक है। रहस्यवादी में अपरिवर्तनशील 'एकं ब्रह्म' से साक्षात्कार की उत्कट इच्छा रहती है। रहस्यवादी उसे तर्क या विवाद के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता। रहस्यवादी का ब्रह्म या ईश्वर उसका प्रिय या प्रेमी बन जाता है। रहस्यवादी का सबसे प्रधान साधन प्रेम है। इसी के कारण रहस्यवादी का अपने ब्रह्म से व्यक्तिगत संबंध स्थापित हो जाता है। 'जहाँ पर दर्शनिक तर्क या कल्पना करता है वहाँ पर रहस्यवादी प्रेम करता है। इसी से रहस्यवादी का ब्रह्म प्रिय और प्राप्य है।' रहस्यवाद में मनुष्य का रागात्मक पक्ष अधिक विकसित और उन्नत रहता है।

रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता का यह आशय नहीं है कि इसमें जीवन के अन्य पक्षों का अभाव है। 'सच्ची रहस्यात्मकता का मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आंशिक संतुष्टि से विरोध है। यह कहती है कि परिभाषा, वर्णन और अभिव्यंजना से अधिक (व्यापक) मनुष्य की इच्छा, जीवन और अनुभव हैं।' सच्चे रहस्यवाद में केवल 'समाधि' या 'हाल' का धार्मिक भावावेश नहीं होता। इसमें सामान्यतया एक-दूसरे से पृथक् समझे जाने-वाले रागात्मक और बौद्धिक पक्षों में पुनः सामंजस्य स्थापित होता है और मस्तिष्क या बुद्धि द्वारा विभक्त ये दोनों पक्ष फिर एक में मिल जाते हैं। रहस्यवाद से संपूर्ण व्यक्ति का संबंध रहता है।

रहस्यवादियों का कहना है कि उस 'परम सत्ता' की प्राप्ति ऊपरी मस्तिष्क से नहीं हो सकती क्योंकि यह तो लौकिक सत्ता और भेद-भावना (Spatial Conception) में ही लीन रहता है। वे मनुष्य की दूसरी सुप्त शक्ति प्रातिभज्ञान (Intuition) की ओर संकेत करते हैं। यह प्रातिभ ज्ञान (Intuition) रहस्यवादियों का प्रधान साधन और रहस्यवाद का प्रधान अंग है। साधना के कुछ उपाय—जिनमें ध्यान प्रमुख है—चेतनावस्था में ऐसा परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं कि जिससे यह सोई हुई शक्ति जग पड़ती है। ज्यों-ज्यों इस शक्ति (प्रातिभ ज्ञान) का प्रवेश हमारे चेतन जीवन में होता जाता है त्यों-त्यों मनुष्य रहस्यवादी बनता जाता है।

अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों या उपलक्षणों (यद्यपि ये अपरिपूर्ण सिद्ध होते हैं) का आश्रय रहस्यवादी के लिए अनिवार्य हो जाता है। इनके द्वारा अपनी अनुभूति की तीव्रता का प्रकाशन असंभव है। केवल साम्य के

सहारे आभास मात्र देकर पाठकों के सोए हुए प्रातिभ ज्ञान को उद्बुद्ध कर रहस्यवाद के प्रतीक काव्य के प्रचलित प्रतीकों के समान अपने अर्थ से कुछ अधिक व्यंजित करते हैं। यह प्रतीकात्मकता केवल सांकेतिक है।

रहस्यवाद के प्रतीकों का रहस्यवादी की विचारधारा के अनुकूल तीन समुदायों में विभाजन हो सकता है। जो रहस्य वादी उस पूर्ण सत्ता को अपने से पृथक् एवं बाह्य समझते हैं तथा जिनकी उपासना बहिर्मुखी होती है और जिनका 'उद्भव के सिद्धांत' (Doctrine Emanation) में विश्वास है, उन्हें उस सत्ता का सक्षात्कार—भौतिक से आध्यात्मिक—कठिन यात्रा प्रतीत होता है। वे उस 'भूले हुए घर' के पथिक होते हैं। संसार उनके लिए सराय है, उनका घर नहीं। ऐसे रहस्यवादियों के प्रिय प्रतीक यात्रा और खोज से संबंधित होते हैं।

जो उस सत्ता को प्रेममय देखते हैं वे अपने अनुभवों को व्यक्त करने के लिए लौकिक प्रेम के प्रतीकों का उपयोग करते हैं। उन्हें मानव-प्रेम और विवाह का साम्य अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। पति तथा पत्नी की प्रतीकात्मकता सभी के लिए बोधगम्य है। इससे उनके द्वारा प्रेम की पुकार पर आत्मा के समर्पण की भी व्यंजना होती है। इसी प्रतीकात्मकता को दृष्टि में रखकर क़बीर राम को पति और अपने को अर्थात् जीव को 'राम की बहुरिया' कहा करते थे।

जिनकी साधना अंतर्मुखी होती है, जो उसे अपने हृदय में बैठा देखते हैं और जो उसे संसार के बीच छिपा हुआ पाते हैं वे उसे बाहर न ढूँढ़कर आत्मिक उन्नति के द्वारा अपने अंदर ही पाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे रहस्यवादियों का जीवन बाह्य अन्वेषण न होकर आंतरिक परिवर्तन बन जाता है। इनके प्रिय

प्रतीक विकास तथा परिवर्तन के दृश्यों से चुने जाते हैं। जैसे, लोहे का पारस के स्पर्श से सोना हो जाना या खोटे सोने का खरा बन जाना।

इस प्रकार इन तीन प्रकार के रहस्यवादी समुदायों के प्रधान प्रतीक 'रहस्यात्मक खोज', 'आत्मा का विवाह' और (हठयोगी के) 'पारस पत्थर' हैं। इन प्रतीकों में 'रहस्यात्मक खोज' के प्रतीक आधुनिक हिंदी-कवियों को विशेष रूप से प्रिय हैं। बहुतों के लिए उस परम सौंदर्य की प्राप्ति बाह्य यात्रा के समान है। इस प्रकार सतत आगे बढ़कर प्रिय को खोजती हुई चली जानेवाली और पीछे मुड़कर भी न देखनेवाली सरिता को देखकर पंत की जिज्ञासा जाग पड़ती है कि उसे अनन्त का अज्ञात पथ किसने बताया--

"माँ उसको किसने बतलाया उस अनंत का पथ अज्ञात।
वह न कभी पीछे फिरती है, कैसा होगा उसका बल॥"[1]

'प्रसाद' की निम्नलिखित अन्योक्ति में इसी भाव की व्यंजना हुई है। सरिता 'देवलोक की अमृत-कथा की माया' हिमालय को छोड़कर हरे-भरे मैदानों में न रमती हुई सागर में ('जिसका देखा था सपना') परम विश्राम चाहती हुई बहती चली जा रही है—

"देवलोक की अमृत-कथा की माया, छोड़ हरित कानन की आलस-छाया।
विश्राम माँगती अपना, जिसका देखा था सपना।"[2]

जिस प्रकार सरिता सागर का सपना देखकर आगे बढ़ती चली जाती है उसी प्रकार रहस्यवादी को भी प्रातिभ ज्ञान होता

---

(१) वीणा, पृष्ठ ३७। (२) लहर, पृष्ठ १३।

है। उसे भी 'प्रियतम' का आभास मिलता है और वह उसे खोजने चल देता है।

नाविक से 'उस पार' पहुँचाने की प्रार्थना करते हुए मोहनलाल महतो 'वियोगी' का ध्यान इसी प्रतीक की ओर है। कवि अपने भार को हल्का करने के लिए और शीघ्र पहुँचाने के लिए अपनी भौतिकता छोड़ने को तैयार है—

"यद्यपि मैं हूं लिए पीठ पर जीवन का गुरु भार।
तरी डूबने का यदि भय हो कहीं यहीं दूँ डार॥
हाथ जोड़ता हूँ न सताओ तुम हो बड़े उदार।
मुझे अब पहुँचा दो उस पार॥"[1]

यात्रा के प्रतीक की अपेक्षा 'आत्मा के विवाह' का रूपक कवियों को अधिक न आकृष्ट कर सका। महादेवी वर्मा को प्रेम और विवाह के प्रतीक अत्यधिक प्रिय हैं। कवियित्री के समग्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति इन्हीं प्रतीकों के द्वारा होती है। महादेवी वर्मा के ऐसे रूपकों में प्रेम के आवेश और अतिरेक का बाहुल्य है। उदाहरण के लिए एक पद उद्धृत किया जाता है—

"नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ॥
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ।
एक हो कर दूर तन से छाँह वह चल हूँ॥
दूर तुमसे हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ॥"[2]

ऐसी रहस्यात्मक भावना हिंदी-साहित्य में एकदम नवीन नहीं है। कबीर के गीतों में इसका प्रचुर उपयोग हुआ है। वैष्णव भक्ति में यह 'माधुर्य-भाव' के नाम से विख्यात है।

---

(१) निर्माल्य, पृष्ठ ४९। (२) नीरजा, पृष्ठ २६।

आधुनिक कवियों ने आध्यात्मिक विकास तथा परिवर्तन के प्रतीकों का बहुत कम प्रयोग किया है। 'पारस पत्थर' का संयोग कवियों को अधिक आकृष्ट न कर सका। इसके उदाहरण यदा-कदा मिलते हैं। 'नैपाली' की निम्नलिखित पंक्तियों में इसकी ओर संकेत हुआ है—

"....मैं तो पृथ्वी पर पड़ा लोह, बस बाट तुम्हारो रहा जोह।
तुम पारस कर दोगे कंचन, तुम कब समझोगे मेरे मन॥[1]

'निराला' की निम्नलिखित पंक्ति में अंतर्मुखी साधना की व्यंजना हुई है—

"पास ही रे हीरे की खान, खोजता कहाँ और नादान"।[2]

इन उदाहरणों से आधुनिक कवियों की रहस्यात्मक प्रतीकात्मकता का परिचय मिलता है। कवियों की रहस्यवादी मनोदृष्टि के अध्ययन में भी इनसे सहायता मिलेगी।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रतीक सांकेतिक होते हैं, सत्य नहीं। इनके शब्दार्थ का अधिक आग्रह न कर इनके इंगित पर ध्यान देना चाहिए। शब्दार्थ पर अधिक जोर देने से प्रतीकों का सौंदर्य नष्ट हो जाता है और वे कवियों के सांप्रदायिक विचारों की प्रतिध्वनि बन जाते हैं। दूसरों को समझाने के प्रयत्न में प्रतीकों के अंग-प्रत्यंग का निरूपण करने से वे हास्यास्पद बन जाते हैं। प्रतीकों का अधिक विवरण उसकी सांकेतिकता नष्ट कर देता है क्योंकि प्रतीक केवल प्रतिकृति है इससे अधिक कुछ नहीं।

सांप्रदायिक रहस्यवाद के इस सिद्धांत से कि ज्ञान की उपलब्धि स्वप्न या अचेतनावस्था में ही होती है, भारतीय मानस

(१) उमंग, पृष्ठ १९। (२) गतिका पृष्ठ २५।

का मतैक्य नहीं हो सकता। भारतीय दर्शन के तीन मुख्य विभाग ज्ञान, कर्म और उपासना हैं। दूसरा विभाग योग और भक्ति का हो सकता है। यद्यपि इन तीनों में एक-दूसरे की कुछ-कुछ विशिष्टताएँ हैं तथापि इन तीनों को एक में कभी नहीं मिलाया गया। ज्ञानियों ने अपने को योगी कभी नहीं घोषित किया (यद्यपि कुछ दोनों थे)। इसी प्रकार भक्त तथा योगियों ने अपने मार्ग को ज्ञान का साधन नहीं कहा। संसार का सर्वश्रेष्ठ दर्शन (ब्रह्मविद्या) तर्क और ज्ञान से प्रसूत हुआ है। इसके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि यह कभी कार्यान्वित नहीं हुआ, क्योंकि इसके प्रवर्तकों को अपने जीवन में ब्रह्मसाक्षात्कार हो चुका था। प्रत्येक भारतीय दर्शन के संबंध में यही बात कही जा सकती है। इनका जन्म ज्ञान तथा अनुभव से हुआ है। इनके लिए यह नहीं कहा जाता कि इनका ज्ञान स्वप्न या 'हाल' में हुआ है। भारतीय दर्शन का प्रत्येक शब्द सकारण और युक्तियुक्त है। रहस्यवाद की बौद्धिक और तर्कयुक्त व्याख्या की आवश्यकता पश्चिम के विचारकों को प्रतीत हो रही है और अब बहुत से लेखक रहस्यवाद की बुद्धिसंमत व्याख्या कर रहे हैं।

हिंदी के आधुनिक कवियों ने स्वाभाविक रहस्य-भावना के साथ कभी-कभी सांप्रदायिक रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति की है। रहस्यवादियों के समान महादेवी वर्मा को भी प्रियतम के दर्शन 'स्वप्न' में ही होते हैं। कवियित्री के जागने पर वह चला जाता है—

"वह सपना बन बन आता, जागृति में जाता लौट।
मेरे श्रवण आज बैठे हैं, इन पलकों की ओट।"[1]

---

(१) नीरजा, पृष्ठ ३३।

'निराला' की निम्नलिखित सौंदर्यपूर्ण सांकेतिक पंक्तियों में भी इसी भावना की व्यंजना हुई है। रात्रि के अन्धकार में प्रियतम 'थे लगे गले' परंतु प्रभात के प्रकाश में भेद-बुद्धि जग गई और प्रियतम जानेवाले हैं। अंधकार में साक्षात्कार और प्रकाश में विछोह होने पर रहस्यवादियों का अपना विश्वास है—

"...हुआँ प्रात प्रियतम तुम जावगे चले, कैसो थी रात बंधु थे लगे गले।
फूटा अलोक परिचय परिचय पर जग गया भेद शोक। छलते सब चले एक अन्य के चले।"[1]

'प्रसाद' की निम्नलिखित पंक्तियों में सूफी रहस्यवादियों के इस सिद्धांत की अभिव्यक्ति हुई है कि 'प्रियतम' हाल की अवस्था में आता है और होश आने पर चला जाता है—

"मादकता से आए तुम, संज्ञा से चले गए थे।
हम व्याकुल पड़े बिलखते थे उतरे हुए नशे से।"[2]

नीचे के उद्धरण में सूफियों के इस विश्वास का कथन है कि 'प्रियतम' की ज्योति (नूर) के सामने आँख नहीं ठहर पाती। साधक के दर्शन के लिए दिव्य ज्योति को आवरण में आना होता है—

"शशि-मुख पर घूँघट डाले अंतर में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए॥"[3]

पंत भी इसी प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध में साम्प्रदायिक रहस्य-वाद की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। कवि के अनुसार इस संसार के स्वप्न या अनुभव स्वप्न के समान अर्थात् मिथ्या हैं, परन्तु उनका प्रवाह चल रहा है। किंतु जागर्ति के स्वप्न (वे अनुभव जो सत् हैं, जो स्वप्न में दिखाई पड़ते हैं।) सत्य हैं, क्योंकि

---

(१) गीतिका, पृष्ठ ९७। (२) आँसू, पृष्ठ २९। (३) आँसू, पृष्ठ १५।

इनका संबंध आत्मा से है और ये आध्यात्मिक संसार से आते हैं। ये जागर्ति के स्वप्न हृदय में ही सोए रहते हैं। सच्चा आध्यात्मिक जीवन इस संसार में सुप्त ही रहता है। कवि को सच्चे ज्ञान की उपलब्धि स्वप्न से संभव प्रतीत होती है, यद्यपि स्वप्न को संसारिक ज्ञान तथा अनुभवों की झलक कहा गया है। स्वप्न सांसारिक अनुभवों पर निर्भर रहते हैं—

"जग के निद्रित स्वप्न सजनि सब इसी अंधतम में बहते, ।'
पर जागृति के स्वप्न हमारे सुप्त हृदय ही में रहते ।"[1]

पंत की दो पंक्तियाँ और उद्धृत की जाती हैं—

"ऐ अस्पृश्य अदृश्य अप्सरसि यह छाया तन छाया लोक।
मुझको भी दे दो मायाविनि, उर की आँखों का आलोक ॥"[2]

कवि हृदय के सच्चे प्रकाश, सच्चे ज्ञान की याचना छाया अर्थात् अंधकार से कर रहा है। कवि को स्वप्न और कल्पना के चित्रों की इच्छा होती है क्योंकि ये सत्य हैं और संसार के चित्र मिथ्या हैं।

यहाँ पर हम देखते हैं कि कवियों को प्रकाश, जागर्ति और होश से अधिक स्वप्न छाया, अंधकार, आवरण और मादकता से प्रेम है, क्योंकि उन्हें प्रियतम इनमें ही मिलते हैं। कवियों की इस प्रवृत्ति का कारण रहस्यवादियों का साम्प्रदायिक विश्वास है कि ज्ञान की उपलब्धि स्वप्न या 'हाल' में होती है। भारतीय दृष्टि पहले कही जा चुकी है। हमारे यहाँ ज्ञान की प्राप्ति जाग्रत् अवस्था में होती है, मूर्च्छा में नहीं। प्रकाश-स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति के लिए अंधकार की आवश्यकता नहीं हुई और छाया से प्रकाश की आशा और याचना नहीं की गई।

---

(१) पल्लव, पृष्ठ ५७। (२) पल्लव, पृष्ठ ७०।

इन उद्धरणों का प्रयोजन रहस्यवाद की निंदा नहीं है, क्योंकि रहस्यवाद में बहुत कुछ प्रशंसनीय भी है। स्वाभाविक रहस्यवाद की सांकेतिकता तथा प्रतीकात्मकता अत्यंत रोचक और सौंदर्य-पूर्ण होती है। आधुनिक कवियों ने स्वाभाविक रहस्यभावना के अनुभवों की भी बड़ी मधुर व्यंजना की है।

हमें ज्ञात है कि 'साधारण' मनुष्य के जीवन में भी ऐसे व्यापक और तीव्र अनुभवों का समावेश होता है जिन्हें वह नहीं भूल सकता—जो उसकी इच्छा के विरुद्ध उस पर आरोपित होते हैं और जिनके लिए विज्ञान भी कोई कारण नहीं दे पाता। इनमें भी सबसे अधिक अज्ञेय वे भावनाएँ हैं जिन्हें हम धर्म, वेदना या सौंदर्य से संबंधित करते हैं।' वेदना और सौंदर्य ने बहुत से आधुनिक कवियों को रहस्योन्मुख बनाया।

इस प्रकार पंत उस परम सौंदर्य के रहस्यवादी कवि हैं। प्रकृति से भी पंत को रहस्यात्मक संकेत मिलते हैं। प्राकृतिक रहस्यवाद सौंदर्य की चेतनशक्ति को प्रभावित करता है। प्रकृति के सौंदर्यपूर्ण दृश्य कवि प्रभावित करते हैं और उसे किसी अज्ञात की पुकार सुनाई पड़ती है। वसंत के प्रभात में जब कलियाँ अपना हृदय खोल रही हैं, भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं, तब 'न जाने, ढुलक ओस में कौन खींच लेता दृग मौन'—

"कनक-छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुंजार।
न जाने, ढुलक ओस में कौन खींच लेता मेरे दृग मौन।"[1]

शांत सरोवर में उठती हुई हिलोरें कवि की जिज्ञासा को चंचल बना देती हैं। कवि जानना चाहता है कि कौन सी इच्छा सरोवर को चंचल बना रही है—

---

(१) पल्लव, पृष्ठ ४७।

"शांत सरोवर का उर किस इच्छा से लहराकर ।
हो उठता चंचल-चंचल ।"[1]

उस प्रियतम की इच्छा को छोड़कर और कौन सी इच्छा उसे चंचल बना सकती है। कवि जानना चाहता है—

'मैं चिर उत्कंठातुर ।
जगती के अखिल चराचर यों मौन मुग्ध किसके बल ॥"[2]

उस 'परम सौंदर्य' ने कवि को अभिभूत कर लिया है। उसी का सौंदर्य सब स्थलों पर बिखरा हुआ है—

"प्रिये कलि कुसुम कुसुम में आज मधुरिमा मधु सुखमा सुविकास ।
तुम्हारी रोम-रोम-छबि-व्याज छा गया मधुवन में मधुमास ।"[3]

प्रेयसी के सौंदर्य की व्यंजना वसंत-सुषमा के रूप में हुई है। उस परम सौंदर्य की सर्वव्यापी झलक की भावना 'पल्लव' में कई स्थलों पर मिलती है। कवि उस सौंदर्य को देखने को आतुर है जिसका प्रतिबिंब संसार के दर्पण में पड़ रहा है—

"माँ वह दिन कब आवेगा, जब मैं तेरी छबि देखूँगी ।
जिसका यह प्रतिबिंब पड़ा है, जग के निर्मल दर्पण में ॥"[4]

अन्य रहस्यवादियों के समान कवि को अपने प्रातिभ ज्ञान (intuition) से आंतरिक प्रेरणा मिल रही है। परंतु वह इसका कारण नहीं निर्दिष्ट कर पाता—

"मुझे अज्ञात उमंग ।
बहाती है कब से किस ओर, कौन जाने पर मेरे नाथ ।"[5]

पंत के समान 'प्रसाद' को भी प्रिय का (प्रातिभ ज्ञान से) आभास होता है, यद्यपि कवि ने उसे कभी नहीं देखा है। प्रतीक के सहारे कवि इस भावना का बड़ा सुंदर संकेत करता है—

---

(१) गुंजन, पृष्ठ ४। (२) गुंजन, पृष्ठ ४। (३) गुंजन, पृष्ठ ५०।
(४) वीणा, पृष्ठ ४८। (५) वीणा, पृष्ठ ६०।

"पिंगल किरणों सी मधुलेखा।
हिमशैल-बालिका को तूने कब देखा।
कलरव संगीत सुनाती, किस अतीत युग की गाथा गाती आती।
आगमन अनंत मिलन बनकर, बिखराता फेनिल तरल खील।
हे सागर संगम अरुण नील॥"[1]

सरिता ने समुद्र को नहीं देखा। तब भी वह आगे बढ़ती जा रही है। सागर ने सरिता को नहीं देखा। तब भी वह सरिता का बड़े उत्साह से स्वागत करता है। केवल एक अनिर्वचनीय आकर्षण सरिता का पथ प्रदर्शन कर रहा है।

प्रिय का आगमन वसंत और सौंदर्य की सृष्टि करता है।

"पतझड़ था झाड़ खड़े थे सूखी सी फुलवारी में।
किसलय नव कुसुम बिछाकर आए तुम इस क्यारी में॥"[2]

'प्रसाद' को विश्वास है कि दबे पैर आँख मूँदने के लिए आने पर भी 'प्रिय' पहचान लिया जायगा। 'प्रिय' की आभा-पूर्ण उँगलियाँ उसका परिचय दे देंगी—

"देख न लूँ इतनी ही तो इच्छा है लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-अँगुलियों से ढक दोगे यह दृग खुला हुआ॥"[3]

'प्रसाद' को उसके मिलन का विश्वास है। परंतु 'निराला' को उसका साक्षात्कार प्राप्त हो चुका है। कवि मिलन-स्थान का वर्णन कर रहा है—

"वहाँ नयनों में केवल प्रात, चंद्र-ज्योत्स्ना ही केवल गात।
रेणु छाए ही रहते प्रात, मद ही बहती सदा बयार।
हमें जाना इस जग के पार।"[4]

---

(१) लहर, पृष्ठ १३। (२) आँसू, पृष्ठ १५। (३) लहर, पृष्ठ ३। (४) परिमल— गीत'।

'निराला' प्रायः वेदांत की दृष्टि से अपने को 'ब्रह्म' कहने लगते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में इसी विश्वास की व्यंजना होती है—

"वहाँ कहाँ कोई अपना, सब सत्य नीलिमा में लयमान।
केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं ज्ञान ॥"[1]

कभी-कभी साधुओं के समान 'निराला' अन्योक्तियों के द्वारा आत्मा और शरीर के संबंध की चर्चा करते हैं। आत्मा शरीर में अवरुद्ध होकर नहीं रहना चाहती—

"मैं न रहूँगा गृह के भीतर, जीवन में रे मृत्यु के विवर।
यह गुहा गर्त, प्राचीनरुद्ध, नव दिक् प्रसार वह किरण शुद्ध।"[2]

'निराला' में प्रिय के प्रति भावावेश है। कवि की आत्मा अभिसारिका के समान सजकर प्रिय से मिलने जा रही है। अभिसारिका (आत्मा) संसार में चर्चा चलने पर लज्जित होती है। वह लौटना चाहती है परंतु प्रेममार्ग में प्रत्यावर्तन नहीं होता। वह आगे बढ़ती है और हृदय उसका साथ देता है। निम्नलिखित पद में इस भावना की बड़ी मधुर व्यंजना हुई है—

"मौन रही हार।
प्रिय-पंथ पर चलती सब कहते श्रृंगार।
कण-कण कर-कंकण, किण-किण रव किंकिणी।
रणन-रणन नूपुर उर लाज लौट रंकिणी ॥
शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ।"
"उन चरणों को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ ॥
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार।"[3]

---

(१) परिमल—'तरंगों के प्रति'। (२) गीतिका, पृष्ठ ९३।
(३) गीतिका, पृष्ठ ६।

प्रियतम के प्रति ऐसे तीव्र अनुभव और भावावेश के दर्शन महादेवी वर्मा की प्रतीकात्मक रचनाओं में होते हैं। वेदना का इनके जीवन में स्पर्श हो गया। व्यथा ने इनके जीवन और कवित्व में महान् क्रांति उपस्थित कर दी। वेदना कवियित्री और प्रियतम के बीच अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। व्यथा से संकुचित न होकर कवियित्री ने इसे प्रिय का वरदान समझकर अङ्गीकार कर लिया। प्रियतम की चितवन ने 'पीड़ा का साम्राज्य' दे डाला—

"इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का॥"[1]

कवियित्री इन वेदनाओं से निराश नहीं है। उसमें इस वेदना के कारण असीम उत्साह है। उसे करुणा की आवश्यकता नहीं है। वह किसी से हीन नहीं है और न वह वेदना के बदले में 'अमरों का लोक' स्वीकार करेगी।

"मेरी लघुता पर अतीत जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा।
उसके प्राणों से पूछो क्या पाल सकेंगे पीड़ा॥
क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव अरे यह मेरा मिटने का अधिकार॥"[2]

इसलिए केवल वेदना या पीड़ा शब्द की इनकी रचनाओं में उपस्थिति देखकर श्रीमती वर्मा को निराशावादी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि कभी-कभी कवियित्री को सर्वनाश में ही आनंद मिलता है—

"पीड़ा टकराकर फूटे, घूमे विश्राम विकल सा।
तम बढ़े मिटा डाले सब, जीवन काँपे चलदल सा॥"[3]

---

(१) नीहार, पृष्ठ १७ (२) नीहार, पृष्ठ २२। (३) नीहार, पृष्ठ ४६।

अपनी पीड़ा द्वारा उस प्रियतम के हृदय की कोमलता को जगाने का कवियित्री ने निश्चय कर लिया है। साधक की तपस्या से ईश्वर भी प्रभावित हो जाता है। वेदना में ही उस परम सत्ता का अस्तित्व मिला। कवियित्री उस परम सत्ता में वेदना को जगाकर अपनी तपस्या पूरी करना चाहती है—

"मेरे बिखरे प्राणों में सारी करुणा ढुलका दो।
मेरी छोटी सीमा में अपना अस्तित्व मिटा दो॥
पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा तुममें ढूँढूँगी पीड़ा॥"[1]

कवियित्री में रहस्यवादियों का प्रातिभ ज्ञान है। प्रियतम की स्मृति रह-रह कर हृदय में कसक उठती है। प्रेमिका बार-बार कुछ भूल जाती है। प्रियतम से वियोग की अप्रकट भावना ने जीवन में अभाव पैदा कर दिया—

"कहीं से आई हूँ कुछ भूल।
कसक कसक उठती सुधि किसकी, रुकती सी गति क्यों जीवन की।
क्यों अभाव छाए लेता विस्मृति-सरिता के कूल।"[2]

दूसरे स्थल पर यह भावना स्पष्ट हो जाती है। कवियित्री का सांसारिक अस्तित्व ही 'प्रियतम' के वियोग का परिचायक है और उसका जीवन 'विरह का जलजात' है—

"विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास॥
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।"[3]

महादेवी वर्मा की आंतरिक इच्छा है—

---

(१) नीहार, पृष्ठ ५७। (२) रश्मि, पृष्ठ ६९। (३) नीरजा, पृष्ठ १८।

"जो तुम्हारा हो सके लीला-कमल यह आज।
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मिति का प्रात।"[1]

कवियित्री को सदा वियोग नहीं रहता, उसे 'प्रियतम' का आभास मिल जाता है और वह कह उठती है—

"प्रिय मेरा निशीथ नीरवता में आता चुपचाप।
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पद-चाप॥"[2]

प्रकृति से प्रियतम के आने की सूचना मिल जाती है—'मुस्काता संकेत भरा नभ'। कवियित्री अपनी व्यथा भूल जाती है। वह प्रतीक्षा में तल्लीन है। 'नयन श्रवणमय' हो रहे हैं—

"मुस्काता संकेत-भरा नभ, अलि! क्या प्रिय आनेवाले हैं।
नयन श्रवणमय, श्रवण नयनमय आज हो रही कैसी उलझन।
रोम-रोम में होता री सखि एक नया उर का सा स्पंदन।
पुलकों से भर फूल बन गए जितने प्राणों के छाले हैं॥"[3]

कवियित्री मिलन-रात्रि का आह्वान कर रही है। निम्न-लिखित पंक्तियों से भावातिरेक और तन्मयता की व्यंजना हो रही है—

"...आ मेरी चिर मिलन-यामिनी।
...तम में हो चल छाया का क्षय, सीमित का असीम में चिर लय।
एक हार में हों शत शत जय, सजनि विश्व का कण कण मुझको।
आज कहेगा चिर, सुहागिनी।"[4]

अंतिम पंक्ति अत्यंत व्यंजक है। कवियित्री इस मिलन का

---

(१) नीरजा, पृष्ठ १९। (२) नीरजा, पृष्ठ ५९। (३) नीरजा, पृष्ठ ८७। (४) नीरजा, पृष्ठ ४३।

स्वप्न या झूठ नहीं मानती। उसके आँसू और प्रियतम की हँसी अभी तक फूलों में बिखरी पड़ी है—

"...कैसे कहती हो सपना है, अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में, मेरे आँसू उनके हास।"[1]

प्रियतम से साक्षात्कार होते ही मोह का निर्मम दर्पण टूट गया और रहस्य का पर्दा हट गया, अब कौन साधक और कौन साध्य। अब दोनों एक ही हैं—

"आज कहाँ मेरा अपनापन, तेरे छिपने का अवगुंठन।
मेरा बंधन तेरा साधन।
तुम मुझमें अपना सुख देखो, मैं तुममें अपना दुख प्रियतम।
टूट गया वह दर्पण निर्मम।"[2]

और इसीलिए आध्यात्म-पथ पर आगे बढ़ी हुई कवियित्री कहती है—

"... क्या पूजन क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे।"[3]

उसका जीवन अब असीम का वासस्थान है। इस धारणा के कारण अब किसका पूजन और किसकी अर्चना। असीम का ध्यान करते-करते साधिका स्वयं असीम बन गई। आध्यात्मिक तत्त्व अब अपने पूर्ण उत्कर्ष पर है। कवियित्री के जीवन में 'तत्त्वमसि' प्रतिफलित हो गया। महादेवी वर्मा की रचनाओं में सच्ची रहस्य-भावना के दर्शन होते हैं।

रहस्यात्मक मार्ग पर मोहनलाल महतो 'वियोगी' आगे बढ़े हुए हैं। कोलाहलपूर्ण सांसारिक मार्ग को पार कर अब वे

---

(१) नीहार, पृष्ठ ५ (प्रथम संस्करण, १९३०)। (२) नीरजा, पृष्ठ ६६। (३) नीरजा, पृष्ठ १०७।

मिलन के देश में पहुँच गए हैं। रहस्यवादी के इस स्वर्ग से ही वसंत-पृथ्वी पर फैलता है—

"चिर कोलाहलपूर्ण मार्ग का आज हो गया सहसा अंत।
दक्षिण द्वार यही है, जाता इसी देश से वहाँ वसंत।"[1]

प्रातिभ ज्ञान कवि को बराबर चलते रहने के लिए प्रेरित करता है। कवि युगों से चल रहा है। उसकी खोज अभी बंद नहीं हुई। एक अज्ञात शक्ति उसे बराबर चला रही है। कवि खोज में निमग्न है—

"....पथिक हूँ बस पथ है घर मेरा।
बीत गए कितने युग चलते किया न अब तक डेरा।
इसके बाद और भी कुछ है, यही बताकर आशा।
लेने देती नहीं तनिक भी मन को कहीं बसेरा।"[2]

इस अन्वेषण के मार्ग पर कवि अकेला नहीं है। सारी प्रकृति उससे मिलने को आतुर है। नीचे की पंक्तियों में सूफियों के रहस्यवाद की झलक है—

"अर्थहीन भाषा में खगदल, अस्थिर पवन हो महाविह्वल।
आठों पहर घोर गर्जन कर, अंतहीन कल्लोलित सागर।
रवि-शशि युग युग घूम-घूमकर, घोर शून्य में मेघ-नयन भर।
नाथ! रहे हैं तुम्हें पुकार।"[3]

'वियोगी' जी के साथ उच्च कोटि के रहस्यवादी कवियों की धारा का अंत होता है। शेष कवियों में दो-चार महत्त्व-हीन रहस्यात्मक छींटे मिलते हैं। इन कवियों के हाथ में रहस्य-वादी कविता रूढ़ हो गई। इनकी रचनाओं में केवल रहस्यवाद

(१) निर्माल्य, पृष्ठ ५४। (२) कल्पना—'पथिक'। (३) निर्माल्य, पृष्ठ १६।

की चुनी हुई शब्दावली का प्रयोग हुआ, जिसका उपयोग पूर्ववर्ती कवियों द्वारा हो चुका था। इसलिए इनकी कविताओं में काव्यत्व कम और नीरव वेदना, मूक आह्वान, हृत्तंत्री, असीम, अनंत आदि शब्दों का बाहुल्य है। इन रचनाओं में न भावातिरेक है और न सौंदर्य-विधान। इस समय छायावादी कविता लिखने का फैशन सा हो रहा था, इसीलिए बहुत से लोग छायावादी कविता के नाम पर अनर्गल पदावली लिखकर प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहते थे। यदि हम इस समय की पत्रिकाएँ देखें तो हमें ऐसे बहुत से लेखक मिलेंगे जो अपनी रचना को रहस्यवादी कविता कहकर प्रकाशित करना चाहते थे, परंतु उनमें काव्य कहे जाने योग्य एक पंक्ति लिखने की भी क्षमता नहीं थी। इनकी रचना को हम रहस्यवादी नहीं कह सकते और चाहे जो कुछ कहें। अधिकांश कविताओं में न सिर है न पैर। इस समय रहस्यवाद के नाम पर साहित्य में जितना कूड़ा-करकट जमा हुआ उतना कदाचित् कभी नहीं। तृतीय उत्थान के प्रथम दशक में ऐसी अनर्गल रचनाओं की बाढ़ सी आ गई। सन् १९२७ में 'सरस्वती' के संपादक को ऐसी निरर्थक रचनाओं से ऊबकर तीव्र आलोचना करनी पड़ी।

इस समय एक दूसरी प्रवृत्ति भी लक्षित होती है जिसका संबंध अज्ञान के कारण रहस्यवादी कविता से जोडा गया और जो रहस्यवादी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रधान कारण सिद्ध हुई। इसके लेखक संसार के कोलाहल से दूर, उस पार, क्षितिज के कोने में स्वप्न का संसार बनाने में व्यस्त दिखाई देते हैं। ये कवि संसार की कठोर वास्तविकता से दूर भागनेवाले हैं। स्वप्न और मिथ्या सौंदर्य की रचना द्वारा ये अपने को और दुनियावालों को भुलावे में डाले रहना चाहते हैं। संसार से भागकर

ये ऐकांतिक प्रेम की तान अलाप रहे हैं। निम्नलिखित पंक्तियों से इनकी मनोदृष्टि का पता चल जायगा—

> "इस दुनियाँ से माँग रहा हूँ छोटा सा उपहार।
> जा शून्य क्षितिज के पार बनाऊँ मैं तारों के हार।
> उन्हें छिपा काले अंचल में खाली हाथ पसार।
> किसी हृदय का प्रेम जला दे इन प्राणों में ज्योति।
> और बना दे मेरी दुनियाँ स्वप्नों का संसार॥"[1]

उस समय ऐसी कविताओं की बाढ़ सी आ गई। क्षितिज के उस पार जाकर अपना निराला संसार बसानेवाले न जाने कितने कवि उत्पन्न हो गए। ऐसी रचनाएँ जनता को कभी पसंद नहीं आ सकती थीं, क्योंकि इनमें सच्ची सहानुभूति का अभाव था। इन रचनाओं में उस ओज का अभाव है जो जीवन के संपर्क से प्राप्त होता है। छुई-मुई के समान इन कवियों की ये रचनाएँ भी जीवन की वास्तविकता के संपर्क से मुरझानेवाली हैं। इसलिए हमें इस बात से कोई आश्चर्य नहीं होता कि भारत की दीन जनता ने इन कवियों की ओर कोई ध्यान न दिया और इन कविताओं को अनसुनी कर दिया।

जनता के हृदय में रहस्यवादी कविता से भी तटस्थता और निष्क्रियता की धारणा उत्पन्न हुई। लोगों ने इसे संसार के कोलाहल और वास्तविकता से दूर रहने का कवियों का एक बहाना समझा। पंत और 'प्रसाद' की कविता भी इस भावना का उन्मूलन न कर सकी। रहस्यवादी कविता का जनता पर कोई स्थायी प्रभाव न पड़ सका। जनता रहस्यवादी कविता से मुग्ध न हो सकी, क्योंकि इसमें जनता को अपने भावों

---

(१) सरस्वती, खंड ३७, संख्या १, सन् १९३६।

को झलक नहीं मिली। सच बात तो यह है कि बँगला की देखादेखी हिंदी के कवियों ने भी इसे अपने यहाँ प्रचलित करना चाहा और इसी से हिंदीभाषी जनता में इसका प्रवेश न हो सका। रहस्य की भावना का ऊपर से आरोप हुआ था। इसमें कवियों की आंतरिक प्रेरणा नहीं थी।

रहस्यवादी उद्गार जनता के वास्तविक जीवन से बहुत दूर थे। जिस समय देशवासी अपनी सत्ता के लिए लड़ रहे हों और देश की दासता दूर करने को जी-जान से व्यस्त हों उस समय वे रहस्यवादी कविता की जीवन से तटस्थता और दूर रहनेवाली नीति का अनुमोदन नहीं कर सकते। अधिकारवंचिता जनता जब सांत्वना चाहती थी तब ये कवि क्षितिज के उस पार वीणा के टूटे-तार सँभालते थे। ऐसी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। जनता जीवन की कविता चाहती थी। इसलिए कविता से जीवन का संबंध जोड़ने के लिए रहस्यवादी कविता के विरुद्ध एक आंदोलन सा उठ खड़ा हुआ। इस प्रतिक्रिया और आंदोलन का पद्यबद्ध रूप भी मिलता है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

रहस्यवाद का निर्वासन

"क्या होगा गाकर अनंत का नीरव औ मधुमय संगीत,
मलयानिल की उछ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत।
कनक रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुखियों का त्राण,
रूखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण।
होगा क्या बनवाकर कविते! तुहिन-विंदु की निर्मल माल,
विस्मृति के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल।

निष्फल है निर्मम अतीत का मायायुत रहस्यमय गान,
साररहित है उस अनंत की सुखमय मंद मदिर मुस्कान।"[1]

इस कविता का शीर्षक स्वयं महत्त्वपूर्ण है। कवियों के हाथ में पड़कर रहस्यवाद केवल रूढ़ पदावली में परिमित हो गया। रेखांकित शब्दों में इसी रूढ़ पदावली की झलक मिलती है। जनता के भूखी-प्यासी होने पर कवियों की कोरी कल्पना का प्रतिवाद किया गया है। रहस्यवादी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के प्रमुख कारणों का पता ऐसी रचनाओं से लग जाता है।

उस समय की बहुत सी रचनाओं में कविता और जीवन के विच्छेद का विरोध किया गया है। रहस्यवाद के प्रति जनता की सामान्य भावना के दिग्दर्शन के लिए कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

"रूखी रोटी या रहस-गान।
देखूँ अरुण उषा की लाली या तन के मुरझाए प्राण॥
शीत काल के क्रुद्ध अनिल से ढाँकूँ अपना वस्त्रहीन तन।
या देखूँ कवि के अनंत की सुस मदिर मंजुल मुस्कान॥"[2]

रहस्यवादी कविता तृतीय उत्थान की प्रथम प्रवृत्ति है। द्वितीय उत्थान को तृतीय उत्थान से पृथक् करनेवाली नवीन प्रक्रिया के दर्शन भी इसी कविता में हुए। जनता नवीन प्रक्रिया को रहस्य-वादी कविता से पृथक् न कर सकी और इन दोनों के भेद को न समझ सकी। इसी से रहस्यवाद और छायावाद का वादविवाद चला और छायावाद से नवीन प्रक्रियावाली कविता का अर्थ गृहीत हुआ। जनता ने नवीन प्रक्रिया की दुरूहता को रहस्यवाद

---

(१) सरस्वती, खंड ३७, संख्या ३, सन् १९३६।
(२) सरस्वती, खंड ३७, संख्या १, सन् १९३६।

की अस्पष्टता का लक्षण समझा और इस प्रकार रहस्यवाद का विरोध किया, यद्यपि उसका विरोध नवीन प्रक्रिया से भी था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सच्ची भावानुभूति की कमी, नवीन प्रक्रिया का आधिक्य, समय, अनर्गल प्रलाप और वास्तविकता से दूर भागनेवाले कवि, इन सबने रहस्यवादी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया को जन्म दिया। यह प्रतिक्रिया बिलकुल स्वाभाविक और सामयिक आवश्यकताओं के अनुकूल थी। इसका सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसके द्वारा कविता और जीवन में पुनः संबंध स्थापित हुआ। भावानुभूति और सचाई की फिर से प्रतिष्ठा हुई।

इस प्रतिक्रिया से बड़ा लाभ यह हुआ कि इसके द्वारा काव्य में नवजीवन का संचार हुआ। इस समय से कविता में सामयिक जीवन की सच्ची झलक मिलती है। कवि अपनी हृदयस्थित और जनता की भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार इस प्रतिक्रिया ने देशभक्ति की भावना को और भी उत्तेजित किया। जनता की भावना को वाणी प्रदान करनेवाले कवियों ने देशभक्ति की कविता को विशिष्टता प्रदान की जिसकी चर्चा दूसरे अध्याय में होगी।

देशभक्ति की कविता

देशभक्ति की वर्तमान कविता प्रथम दो उत्थानों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न परिस्थिति में निर्मित हुई है। पूर्व के दो उत्थानों को हम चाहें तो 'शांति का समय' कह सकते हैं और वर्तमान अवस्था को अशांति या युद्ध का समय। वर्तमान युग महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के स्वातंत्र्य आंदोलन के आरंभ का साक्षी है। प्रतीक्षा का समय समाप्त हो गया। समय के साथ भारतेंदु-युग की राजनीतिक चेतना और जागर्ति बढ़ती गई और इसी के साथ-साथ उस कटुता और असंतोष की वृद्धि हुई जो राजनीतिक स्वत्वों की व्यंजना और अभाव से जन्म लेती है। देश के नेताओं की आँखें खुल गई थीं। उन्हें इस सत्य पर विश्वास हो गया था कि स्वतंत्रता की भीख नहीं मिला करती। कांग्रेस ने बड़े सोच-विचार के बाद 'सविनय अवज्ञा-आंदोलन' को कार्यान्वित किया। इस आंदोलन के आरंभ से (मातृभूमि की) स्वतंत्रता के वास्तविक युद्ध का श्रीगणेश होता है।

स्वतंत्रता के इस युद्ध ने देश की शांत परिस्थिति को बिल्कुल बदल दिया। देशवासियों ने कांग्रेस के इस आंदोलन का हृदय से स्वागत और समर्थन किया। इसकी लोकप्रियता के साथ-साथ शासकों के निर्दयतापूर्ण दमन का वेग भी बढ़ा। निःशस्त्र अहिंसात्मक सत्याग्रहियों के दमन—गिरफ्तारी, लाठी-प्रहार, गोलीकांड—ने देश की शांत परिस्थिति में उत्तेजना भर दी। इसलिए वर्तमान परिस्थिति को 'युद्ध की परिस्थिति' कहना उचित ही है।

ऐसी परिस्थिति में देशभक्ति की कविता इस संघर्ष से पृथक् नहीं रह सकती थी। हर्ष का विषय है कि वर्तमान कवि देश की आशा और भावना के अनुरूप ही समर्थ प्रमाणित हुए। इन कवियों को हम कोरे वाग्वीर नहीं कह सकते। कुछ कवियों ने सत्याग्रह-आंदोलन में उत्साहपूर्वक योग दिया और हँसते-हँसते अनेक यातनाएँ सहीं। दूसरों को भी आंदोलन से समानुभूति-प्रदर्शन के कारण अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। वर्तमान कवियों ने स्वतंत्रता के आंदोलन का स्वागत किया और इसके प्रचार में पूरा-पूरा योग दिया।

आज की देशभक्ति की कविता प्रधानतया क्रियात्मक है। उत्तेजित परिस्थिति और कवियों के समानुभूतिपूर्ण सक्रिय सहयोग ने कवियों की रचनाओं को आदर्श नैतिक उद्गार मात्र न बनने दिया। ये कवि सिंहासन पर आसीन रहनेवाले उपदेशक नहीं थे। इससे इनकी अधिकांश रचनाएँ वीर सत्याग्रहियों के युद्ध के गान हैं। इनमें भावानुभूति और सचाई है। कुछ कविताएँ जेलों के भीतर लिखी गई हैं।

सत्याग्रह-आंदोलन ने जनता को देशभक्ति की अभिव्यक्ति और साधना का अवसर दिया। जनता ने इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाया। मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए देशवासियों में अपार सहनशीलता, दृढ़ता, आत्मबलिदान और साहस की आवश्यकता थी। आंदोलन ने उपर्युक्त गुणों के प्रदर्शन का अवसर लाकर साधारण मनुष्य को भी वीर पुरुष में परिवर्तित होने और जनता का स्नेह-भाजन बनने का योग उपस्थित किया। कोई भी मनुष्य देशभक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति कर लोकप्रिय बन सकता था। इसमें संदेह नहीं कि बहुतों ने ऐसा किया।

वर्तमान कवि सत्याग्रहियों के प्रति आदर-प्रदर्शन में किसी

से पीछे नहीं थे। वीर-पूजा आधुनिक देशभक्ति की कविता का प्रधान लक्षण है। इस समय की कविता केवल महात्मा गांधी या देश के अन्य नेताओं की प्रशंसा मात्र में परिमित नहीं है। कवि जेल में जानेवाले कांग्रेस के सामान्य सैनिक के प्रति भी अपनी श्रद्धा दिखलाते हैं। कवियों ने स्वतंत्रता के इस पवित्र कार्य की हृदय से अभ्यर्थना की।

देशभक्ति की प्राथमिक अभिव्यक्ति उन नेताओं की प्रशंसा के रूप में प्रकट हुई जिन्होंने देश का नेतृत्व ग्रहण किया और फलतः औरों से पहले कठिनाइयाँ झेलीं। जनता की दृष्टि स्वाभाविक रूप से उन नेताओं की ओर सबसे पहले गई। कवियों ने भी उनकी अभ्यर्थना की। देश के नायक महात्मा गांधी के प्रति लिखी गई निम्नलिखित पंक्तियों में ओज और सचाई है—

"भूखे नंगे दीनबंधुओं पर लख अत्याचार।
दीनबंधु की आँखों से फूटी करुणा की धार॥
ईसा चढ़ा क्रूस पर फिर से प्रभु उसका कल्याण करे।
खेल रहा अपने प्राणों पर प्रभु दधीचि का त्राण करे॥
धो दे भारत का कलंक तेरी आँखों का पानी।
लिख दे यह बलिदान हमारी प्रायश्चित्त-कहानी॥"[1]

महात्मा गांधी को संबोधित 'चित्र' की निम्नलिखित पंक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक हैं—

"मानचित्र भारत का अंकित कृषकों की कृश काया में।
सब रहस्य है छिपा हमारी इस निद्रा की माया में॥
जाकर देखो कैसे कतता सूत प्रेम का विमल विमल।
पूने में यरवदा जेल में तरु रसाल की छाया में॥"[2]

---

(१) विशाल भारत—'तपस्या' (जून, १९३३)।

(२) उमंग, पृष्ठ ९८

सत्याग्रह-आंदोलन के समय ऐसी रचनाओं का बाहुल्य था। यदि हम उस समय की पत्र-पत्रिकाओं को देखें तो ऐसी बहुत सी प्रशंसात्मक कविताएँ मिलेंगी।

कवि केवल इन अग्रगण्य नेताओं की प्रशंसा से संतुष्ट न रहे। इन्होंने स्वतंत्रता के सामान्य सैनिकों की भी अभ्यर्थना की है। सुभद्राकुमारी चौहान के 'स्वागत' में इन सैनिकों के आत्मविश्वास और धार्मिकता की व्यंजना हुई है—

"ढीठ सिपाही की हथकड़ियाँ दमन-नीति के वे कानून।
डरा नहीं सकते हैं हमको यदपि बहाते प्रतिदिन खून॥
हम हिंसा का भाव त्याग कर विजयी वीर अशोक बनें।
काम करेंगे वही कि जिसमें लोक और परलोक बनें॥"[1]

'नवीन' बंदीगृह से छूटे हुए सत्याग्रहियों का स्वागत कर रहे हैं। इनके बंदी जीवन का आभास 'कैदी का स्वागत' में मिलता है—

"माँ ने किया पुकार बढ़ा तू चढ़ा हुआ कुरबान।
हमने देखा तुझे टहलते सिकचों के दरम्यान॥
हाथों में थी मूँज कभी बैठा चक्की पर गाते।
कंबल बिछा ओढ़ कंबल दिन बिता दिए मदमाते॥
बहुत दिनों के बिछुड़े प्यारे अंतर हिय से सट जा।
आज रिहाई हुई दौड़ आ मोहन गले लिपट जा॥"[2]

देशभक्ति की भावना जागरित करने के लिए इन सत्याग्रहियों के वंदीजीवन का बड़ा मार्मिक विवरण कई कवियों की रचना में मिलता है। इस जीवन का समानुभूतिपूर्ण चित्रण

(१) मुकुल, पृष्ठ ९४।
(२) विशाल भारत—'कैदी का स्वागत' (दिसंबर, १९३७)।

हमारी भावना को उद्दीप्त करता है। 'नवीन' और 'भारतीय आत्मा' की रचना के एक-एक उद्धरण उदाहरणार्थ पर्याप्त होंगे—

"ताला कुंजी लालटेन जँगला कैदी ये सब हैं ठीक।
खींच चुकी है नौकरशाही अपने सर्वनाश की लीक॥
तेरी चक्की के ये गेहूँ पिसते हैं पिस जाने दो।
चक्की पिसवानेवालों को मिट्टी में मिल जाने दो॥"[1]—'नवीन'।

"क्या देख न सकती जंजीरों का पहना,
हथकड़ियाँ क्यों यह बृटिशराज का गहना।
गिट्टी पर अंगुलियों ने लिक्खे गान,
कोल्हू का चर्रक-चूँ जीवन की तान।
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूँआ,
खाली करता हूँ बृटिश अकड़ का कूँआ।
दिन में मत करुणा जगे रुलानेवाली,
इसलिए रात में गजब ढा रही आली।
इस शांत समय में अंधकार को भेद,
रही क्यों हो कोकिल! बोलो तो।
चुपचाप मधुर विद्रोह बीज इस भांति,
बो रही क्यों हो कोकिल बोलो तो।"[2]

—'भारतीय आत्मा'।

कवियों ने उन बेनाम सत्याग्रहियों को आदर से शीश झुकाया है जिन्होंने यह संसार छोड़ दिया। 'पिंजरे का तोता' में इनके प्रति संकेत है—

"मरुथल पार वीर विश्वंभर की विभूति में लीन हुआ।
बधिक देखता रहा, अहा वह विहँग-बाल उड्डीन हुआ॥

---

(१) कुंकुम, पृष्ठ २।

(२) विशाल भारत—'कैदी और कोकिल, (जुलाई, १९३२)

बिना खिले कलिका के मुरझाने का ढंग नवीन हुआ ।
माँ, क्या कहूँ तुम्हारा तोता पिंजरे में स्वाधीन हुआ ॥"[1]

'नेपाली' की निम्नलिखित पंक्तियों में स्वतंत्रता के पुजारियों की मृत्यु पर श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। इन पंक्तियों में प्रवाह और प्रभाव है—

"सुन सुन ये दीवाने किसके आवाहन का शोर चले।
मचल मचल गलहार पहनकर किस महफिल की ओर चले।
चढ़ टिकठी पर चूम रस्सियाँ ये मतवाले उधर चले।
जिधर हमारे लाल लाड़िले बिहँस बिहँस कर बिखर चले ॥
हँसते-हँसते आखिर ये भी अपनी आँखें मूँद चले ॥
माँ की थाली भरने को ये बन रुधिरों की बूँद चले ॥"[2]

आज के सत्याग्रही वीरों की प्रशंसा करते हुए आधुनिक कवि अतीत के स्वतंत्रता के पुजारियों को नहीं भूल सके, कवि उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं और उनके उदाहरण से उत्साह और प्रेरणा प्राप्त करते हैं। कवि उनके स्वातंत्र्य-प्रेम की प्रशंसा कर उनसे संबंधित स्थल और घटनाओं का ओजपूर्ण वर्णन करते हैं। इस प्रकार सन् १८५७ की क्रांति में लड़नेवाली स्वतंत्रता की पुजारिणी रानी लक्ष्मीबाई पर सुभद्राकुमारी चौहान ने एक बड़ा ही प्रभावशाली गीत बनाया है। 'जालियानवाला बाग में वसंत' का पंजाब का गोलीकांड है। ये दोनों रचनाएँ इतनी प्रसिद्ध हैं कि इनके उद्धरण देना व्यर्थ है। अपने प्रभाव के कारण ये बहुत ही लोकप्रिय हुईं। 'दिनकर' की निम्नलिखित पंक्तियों में अतीत भारत के देशभक्तों की ओर संकेत है—

---

(१) विशाल भारत (जनवरी, १९३१)।
(२) उमंग, पृष्ठ १०४।

"देखा शून्य कुँवर का गढ़ है झाँसी की वह शान नहीं है।
दुर्गादास प्रताप बली का प्यारा राजस्थान नहीं है॥
समय माँगता मूल्य मुक्ति का देगा कौन मांस की बोटी।
पर्वत पर आदर्श मिलेगा खाएँ चलो घास की रोटी॥"[1]

अतीत की ओर ऐसे संकेत बहुत कम मिलते हैं। आधुनिक कविता में अधिकतर स्वतंत्रता के वर्तमान संग्राम का चित्रण हुआ है। यह अत्यंत स्वाभाविक है क्योंकि यह युद्ध जनता के अधिक निकट है और देशवासी इससे अधिक प्रभावित हुए हैं।

वीर-पूजा के आवेश में आधुनिक कवियों ने स्वतंत्रता की अवहेलना नहीं की। इनकी रचनाओं पर कांग्रेस का प्रभाव स्पष्ट है, क्योंकि यही संस्था देशभक्तों का मार्ग-प्रदर्शन कर रही है। कुछ कवियों पर महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धांत का बड़ा प्रभाव पड़ा है। सुभद्राकुमारी चौहान ऐसे ही कवियों में से हैं। कांग्रेस इनके लिए माता के समान है, देश की आशा तथा आधारस्वरूपा है—

"आ मैया कांग्रेस हमारी आकांक्षा की प्यारी मूर्ति।
राज्यहीन राजाओं के गत वैभव की स्वाभाविकपूर्ति॥
...लुटे हुए दीनों की आशा तू दासों की उज्ज्वल रत्न।
भारतीय स्वातंत्र्य प्राप्ति की तू चिरजीवी सात्त्विक यत्न॥"[2]

निम्नलिखित पंक्तियों में कवयित्री के अहिंसा में पूर्ण विश्वास की व्यंजना हो रही है—

"हमारी प्रतिभा साध्वी रहे, देश के चरणों पर ही चढ़े।
अहिंसा के भावों में मस्त आज यह विश्व जीतना पड़े॥

---

(१) हुङ्कार, पृष्ठ ६८। (२) मुकुल, पृष्ठ ९३, ९५।

"... हम हिंसा का भाव त्याग कर विजयी वीर अशोक बनें।
काम करेंगे वही कि जिसमें लोक और परलोक बनें॥"[1]

'नेपाली' भी सत्याग्रही वीरों की अहिंसात्मक भावना की प्रशंसा कर रहे हैं—

"है अपूर्व यह युद्ध हमारा हिंसा की न लड़ाई है,
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है।
तलवारों की धार मोड़ने गर्दन आगे आई है,
सिर की मारों से डंडों की होती यहाँ सफाई है।
ऐसी वैसी यह न लड़ाई महासमर मरदानों का,
जिसमें अंत नहीं आहुति का प्राणों के बलिदानों का।"[2]

मैथिलीशरण गुप्त इस अहिंसात्मक आंदोलन की शक्ति की प्रशंसा कर रहे हैं—

"लिखा रहे जगतीतल में वह सत्याग्रह का साका,
हाथों में हथियार न थे, हाँ बस थी यही पताका।
रोक न सका इसे बढ़ने से लोहे का भी नाका,
चौंक चमत्कृत अखिल विश्व ने नया तर्क सा ताका।
है बलिदान वही तो जिससे हत्यारा भी हहरे,
निज विजय-पताका फहरे॥"

इस आंदोलन के प्रधान शस्त्र अहिंसा की प्रशंसा ने सत्याग्रहियों का उत्साह अकुण्ठित रखा। सत्याग्रही सदा उत्साहपूर्वक आत्मबलि चढ़ाने को तैयार थे।

देश के लिए आत्मबलिदान बहुत सी कविताओं का विषय है। कवि स्वतंत्रता की बलिवेदी पर सब कुछ न्योछावर करने के लिए जनता को आमंत्रित करते हैं। 'नेपाली' देश की उन्नति के लिए अपना बलिदान चढ़ाने को तत्पर हैं—

---

(१) मुकुल, पृष्ठ ८५, ९४। (२) उमंग, पृष्ठ ९१।

"हृदय रहे आधार हृदय का पत्थर भी दिलदार रहे,
खिसक पड़ें कड़ियाँ बंधन की लगा नेह का तार रहे।
सेवा का व्रत लेकर विचरूँ जग के कोने कोने में,
मैं न रहूँ न सही पर भारत यह गुलजार रहे।"[1]

आत्मबलिदान की यह भावना माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' की रचनाओं में विशेष रूप से वर्तमान है। ये अपने बलिदान के बदले में कुछ नहीं चाहते हैं। इनकी इच्छा केवल मातृभूमि के लिए अपना बलिदान चढ़ाना है—

"छूटा कारागार आज मैं करुणागार खुले पाऊँ,
पैरों के ही नहीं शीश के द्वारा भी जाने पाऊँ।
जिनमें बेड़ी थी उनमें आ पड़े लिपटने के बंधन,
जिनमें पड़ी हथकड़ी उनमें पड़े साधना के कंगन।
तौक पड़ी थी वही कंठ माँ के गुण का कल गान करे,
स्वागत का बदला बदले में वह मुझको बलिदान करे॥"

कवि कलियों को उपयुक्त अवसर के आने पर ही विकसित होने का आदेश देता है। 'मातृबंधन-मुक्ति का जिस दिन मने त्योहार' और 'जब कि जनपथ लाल हों हो किसी की तलवार' उसी दिन कलियों के खिलने का उपयुक्त अवसर आएगा, माली सूइयों से छेदकर माला बनाएगा। वही 'मधुर बलि' 'विजय का मोल' होगी। कवि का कहना है कि जब तक वह अवसर न आए 'मानिनी तब तक हृदय मत खोल'। 'फूल की चाह' में कवि फूल की आत्मबलि की भावना की व्यंजना करता है। यह कविता बहुत प्रसिद्ध है।

आत्मबलिदान की यह भावना आशापूर्ण विश्वास से हीन

---

(१) उमंग, पृष्ठ १०६।

नहीं है। अपने उद्देश्य की सफलता में अटल विश्वास इस समय की देशभक्ति की अधिकांश रचनाओं में लक्षित होता है। देश को सत्याग्रह-आंदोलन की सफलता पर पूर्ण विश्वास था। इसी विश्वास के सहारे देशवासी अनेक यातनाएँ हँसते-हँसते झेल जाते थे। इसी अटल विश्वास के कारण कवियों में अपूर्व उत्साह है और उनके उद्गार प्रभावहीन नहीं हैं। कवियों में साहस की कमी नहीं है। इनमें ओज, शक्ति तथा स्फूर्ति है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवियों के आत्मविश्वास और अपने उद्देश्य के साफल्य का दृढ़ निश्चय उमड़ रहा है—

"ओ मदहोश बुरा फल हो शूरों के शोणित पीने का।
देना होगा तुझे एक दिन गिन गिन मोल पसीने का।
मंजिल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोनेवाले।
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले॥"[1]

—'दिनकर'

"है इतना उत्साह कि डर है हम उन्मत्त न बन जावें।
है इतना विश्वास कि भय है हम गर्विष्ठ न कहलावें।
इतना बल है प्रबल कहीं हम अत्याचार न कर डालें।
यही सोच संकोच यही मर्यादा पार न कर डाले॥"[2]

—सुभद्राकुमारी चौहान

परंतु सत्याग्रह-संग्राम में इतनी शीघ्र सफलता नहीं मिलने वाली थी। कदाचित् स्वतंत्रता की देवी इतने बलिदानों से संतुष्ट नहीं हुई थी। देश के नेताओं को अपनी योजना बदलनी पड़ी और कांग्रेस ने सत्याग्रह-आंदोलन को बंद कर दिया। आंदोलन के बंद होने से देश में निराशा छा गई। बहुतों ने

(१) हुँकार, पृष्ठ ३२। (२) मुकुल, पृष्ठ ९४।

इसे अपनी पराजय माना। वे अपने को साम्राज्यवादी शासकों द्वारा पराजित समझने लगे। बहुत से कवि इससे मर्माहत हो गए। उनके मनोभाव अभिव्यक्ति की सीमा के बाहर थे और वे मौन होकर बैठ गए। 'नवीन' के 'पराजय-गीत' की निम्न-लिखित पंक्तियों से उस समय की भावना का कुछ कुछ संकेत मिल सकता है—

"आज खड्ग की धार कुंठिता है खाली तूणीर हुआ।
विजय-पताका झुकी हुई है लक्ष्यभ्रष्ट यह तीर हुआ॥
वर्दी फटी, हृदय घायल, मुख पर कालिख, क्या वेश बना।
आँखें सकुच रहीं कायरता के पंकिल में देश सना॥
अरे पराजित ओ रणचंडी के कुपूत हट जा हट जा।
अभी समय है कह दे माँ मेदिनी ज़रा फट जा फट जा॥"[1]

सुभद्राकुमारी चौहान के निम्नलिखित पद्यों में जनता के नैराश्य की अभिव्यक्ति हुई है—

"हम हारे या थके रुकी सी किंतु युद्ध की गति है।
हमें छोड़कर चला गया पथ-दर्शक सेनापति है॥
रणभेरी का नाद सदा को क्या अब रुक जाएगा।
जिसको ऊँचा किया वही क्या झंडा झुक जाएगा॥"[2]

कांग्रेसके मंत्रित्व-स्वीकार से देश की निराशा बहुत-कुछ हट गई। कांग्रेस के इस निर्णय से देश को कुछ शांति मिली। जनता के हृदय से पराजय का भाव दूर होने लगा। कवियों को देश के आशापूर्ण भविष्य पर विश्वास होने लगा। कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम ने देशोन्नति को प्रेरणा दी।

---

(१) कुंकुम—'प्रलयगीत'। (२) त्रिधारा, पृष्ठ ८८।

कांग्रेस का मंत्रित्व कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसके फलस्वरूप भाषण और लेखन की पहले से अधिक स्वतंत्रता मिली। कवियों को अपने विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए प्रेरणा मिली। कम से कम इनकी आशा थी कि अब शीघ्र जेल की तैयारी नहीं करनी पड़ेगी तथा हिंदी की पत्र पत्रिकाएँ अब देशभक्ति से पूर्ण लेखों को प्रकाशित करने के लिए जब्त न होंगी और उनके संचालकों को जुर्माना न भरना पड़ेगा। आंदोलन के समय की बहुत सी देश-प्रेम की सुन्दर रचनाएँ अप्राप्य हैं क्योंकि सरकार ने उनको जब्त कर लिया।

भाषण-स्वातंत्र्य की सुविधा से बहुत से विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का (समाजवाद तथा अन्य वादों) का जनता में प्रचार हो रहा है और जनता इनसे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हो रही है। बहुत से कवियों की विचारधारा और मनोदृष्टि में बड़ा परिवर्तन हो गया है। कवियों में क्रांतिवाद की प्रवृत्ति लक्षित होती है (जिसका विश्लेषण दूसरे अध्याय में होगा)।

तृतीय उत्थान के कवियों की देशभक्ति की भावना का यह संक्षिप्त चित्रण है। पूर्व के उत्थानों से इसके विकास और संबंध को दिखाने के लिए हम यह कह सकते हैं कि प्रथम उत्थान कथन या वाग्विलास का युग था (कवि अपनी वाणी के द्वारा जनता को देशोन्नति के लिए आमंत्रित करते थे)। द्वितीय उत्थान संघटन का युग था और आज का समय कार्य का है। राजनीतिक चेतना की क्रमिक उन्नति इसका प्रमाण है। यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो हमें प्रतीत होगा कि तीनों उत्थानों की देशभक्ति की भावना का उत्तरोत्तर विकास अत्यंत स्वाभाविक रीति से हुआ है।

अतीत हिंदू इतिहास तथा परंपरा की ओर अत्यधिक संकेत, देशोद्धार के लिए ईश-स्तवन—भारतेंदुयुगीन देशभक्ति की कविता के विशिष्ट लक्षण—हमें अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि उस समय कोई राजनीतिक संस्था नहीं थी जो देश का (स्वतंत्रता के लिए) नेतृत्व ग्रहण करती। ऐसी परिस्थिति में केवल भव्य अतीत के प्रति संकेतों द्वारा ही देश की राजनीतिक उदासीनता दूर करना संभव था। कांग्रेस की स्थापना भारतेंदु-युग के अंतिम भाग में हुई थी। इसलिए जनता में देशभक्ति के संचार का भार प्रथम उत्थान के कवियों पर था और उन्होंने अपने उत्तरदायित्व का अपनी रीति से सफलतापूर्वक पालन किया। इस समय की देशभक्ति की अत्यंत उदार भावना और उसके व्यापक क्षेत्र का अभाव हमें आश्चर्यान्वित नहीं करता। क्योंकि हम जानते हैं कि प्रथम उत्थान में राजनीतिक चेतना का केवल आरंभ होता है। यह चेतना अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकी थी।

द्वितीय उत्थान की यथार्थवादिता कांग्रेस की लोकप्रियता के परिणामस्वरूप है। देशभक्ति का अधिकाधिक उदार भावना में परिवर्तन राजनीतिक चेतना की उन्नति और विकास के कारण हुआ। एकता पर विशेष आग्रह, सदिच्छा और प्रेम के साथ देश की उन्नति के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्न की प्रार्थना, आत्मनिर्भरता की भावना—कवियों के ऐसे उद्गारों—में हमें कांग्रेस की संघटन-योजना का आभास मिलता है, जिसके द्वारा वह देश उन्नतिशील समुदायों को एक में मिलाकर शासकों से अधिकार-प्राप्ति का प्रयत्न कर रही थी।

प्रथम दो उत्थानों से तृतीय उत्थान की देशभक्ति-संबंधी कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी क्रियात्मकता है। इसका

कारण सत्याग्रह-आंदोलन का आरंभ है। इस आंदोलन से देश का वातावरण बिल्कुल परिवर्तित हो गया। कवि अधिक न कहकर स्वयं स्वतंत्रता के संग्राम में कूद पड़े और वीर सत्याग्रहियों को श्रद्धांजलि चढ़ाई। कवियों की वाणी से अधिक उनके आचरण ने जनता में देशभक्ति और आत्मबलिदान का भाव भरा।

देशभक्ति—सबसे प्रमुख सामाजिक और जातीय मनोभाव—की शक्ति इस तथ्य में निहित है कि वह साधारण स्त्री-पुरुष को (मानव-स्वभाव को प्रिय अत्यंत प्राचीन प्राणिविशिष्ट गुण) साहस के प्रदर्शन के लिए आमंत्रित करती है। देशभक्ति व्यक्तित्व के परिवर्तन का सबसे बड़ा अवसर प्रदान करती है। मातृभूमि के लिए सब कुछ न्योछावर करता हुआ और सब कुछ सहन करता हुआ स्वतंत्रता का सैनिक अनेक दोषों के रहते हुए भी क्षणभर में वीरपुंगव में परिवर्तित होकर जनता का स्नेह-भाजन बन जाता है।

कांग्रेस के सत्याग्रह-आंदोलन ने भी ऐसे परिवर्तन का अवसर उपस्थित किया। इसलिए जब कांग्रेस ने (शांति के मंद वातावरण के स्थान पर) भावों को उद्दीप्त करनेवाले युद्ध के वातावरण में देशवासियों को अत्यंत प्राचीन प्राणिसुलभ गुण साहस के प्रदर्शन और आत्मबलिदान के लिए आमंत्रित किया तब जनता ने इस आंदोलन का हृदय से स्वागत किया और इसमें उत्साहपूर्वक योग दिया। समकालीन कवियों ने भी स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय योग दिया। इनकी वाणी ने अत्यंत भावुक प्रभावशाली देशभक्तिपूर्ण मुक्तक गीतों को जन्म दिया, जिनको युद्ध के गीत कहना असंगत न होगा। सत्याग्रह-संग्राम में स्वयं संलग्न होने के कारण इन कवियों के गीतों में भावावेश,

प्रवाह, प्रभाव और सचाई है। इन गीतों में कवियों की सत्ता निहित है और उसकी पूर्ण व्यंजना हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों उत्थानों में देशभक्ति की कविता का विकास अत्यंत स्वाभाविक और युक्तियुक्त है, इसमें देश की राजनीतिक अवस्था की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है।

क्रांतिवादी कविता

क्रांतिवादी कविता हिंदी-काव्य की नई प्रवृत्ति है। यह अभी अपनी शैशवावस्था में है, पूर्णता पर नहीं पहुँची है। इसीलिए इसके भविष्य के विषय में दृढ़तापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रवृत्ति का मूल हमारे आज के जीवन और आज की परिस्थिति में निहित है। क्रांतिवादी कविता को हम वायु के आकस्मिक आघात से उठी हुई सामान्य हिलोर कहकर नहीं टाल सकते। यह जीवन-सागर के उस क्षोभ और अव्यवस्था की लहर है जिसके दर्शन भयंकर झंझावात के आने पर ही होते हैं। हमारे वर्तमान जीवन में इसी प्रकार का झंझाबात चल रहा है और क्रांतिवादी कविता इसी अशांति तथा आंदोलन की भूमिका है।

क्रांतिवादी कविता देशभक्ति की धारा से पृथक् चल रही है, क्योंकि क्रांतिवादी कवि का आदर्श देशभक्त कवि से कुछ अधिक व्यापक है। देशभक्त कवि अपने देश की स्वतंत्रता और उन्नति का इच्छुक होता है, परन्तु क्रांतिवादी कवि सारे संसार में क्रांति का आवाहन करता है और किसी देश विशेष की राजनीतिक उन्नति तथा स्वतंत्रता की कामना न कर सारे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अत्याचारों से मुक्ति चाहता है। क्रांतिवादी कवि ऐसी सभ्यता का विकास और नई व्यवस्था का जन्म देखना चाहता है जिसमें सारी मानवता दासता, दरिद्रता और अंध-विश्वास के पाश से मुक्त होकर शांति और समता का अनुभव कर सके। ऐसा कहकर देशभक्त कवियों पर कोई लांछन नहीं

लगाया जा रहा है, क्योंकि देश को जागरित करने में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। स्वयं इन कवियों की रचनाओं में भी यदा कदा क्रांतिवादी कविता की दो-चार पंक्तियाँ मिल जाती हैं।

वर्तमान अशांति और असंतोषजनक स्थिति ने क्रांतिवादी कविता को और भी उत्तेजना दी है। आज आर्थिक शोषण और पाशविक बल का बोलबाला है। दरिद्रता का विस्तृत राज्य है। विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ हमारी और भी अधिक दुर्दशा हो रही है। अशिक्षित जातियों को सभ्य बनाने के नाम पर सभ्यता के ठेकेदार उन पर अत्याचार कर रहे हैं। समाज में कुरीतियाँ, परंपरा और अंधविश्वास जनता का गला घोंट रहे हैं। कवि ऐसी स्थिति से ऊब उठा है और वह ऐसी व्यवस्था की उत्कट कामना कर रहा है जिससे रूढ़ि तथा अंधविश्वास का अंत हो, राजनीतिक अत्याचार का नाश हो और आर्थिक शोषण की इतिश्री हो।

वर्तमान स्थिति में सबसे अधिक असंतोष आर्थिक अन्याय और अत्याचार से है। किसान और मजदूर—जिनके सहारे आज की विलासिता टिकी हुई है—गरीबी से तड़प रहे हैं। साम्राज्यवाद इनका खून चूस रहा है। 'दिनकर' की निम्न-लिखित पंक्तियाँ इन्हीं भावों को व्यक्त करती हैं—

"देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-शोणित की धारें
और उठी जातीं उन पर ही वैभव की ऊँची दीवारें।"[1]

'दिल्ली' शीर्षक अपनी कविता में 'दिनकर' भारत की राज-धानी दिल्ली को कृषकमेध की रानी कहते हैं—

---

(१) विशाल भारत—'कस्मैदेवाय' (अगस्त, १९३४)।

"आहें उठीं दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी, गरीबों के लोहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें॥
वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषकमेध की रानी दिल्ली।"[१]

रामावतार यादव 'शक्र' देश की विस्तृत गरीबी को लक्षित कर कहते हैं कि एक ओर तो गरीब की झोपड़ी रो रही है और दूसरी ओर विलासिता की मुस्कराहट है—

"कंकालों का रक्तपान कर आज अमित आँखें हैं लाल।
दलितों की आशा अभिलाषा कुचल-कुचलकर हुई निहाल॥
दीन झोपड़ी को बिलोक कर विलासिता मुसकाती है।
दानवता का ताण्डव लखकर मानवता अकुलाती है॥"[२]

'नवीन' भी श्रमजीवियों की दुर्दशा की ओर संकेत कर रहे हैं—

"जिनके हाथों में हल बक्खर जिसके हाथों में धन है।
जिनके हाथों में हँसिया है वे भूखे हैं निर्धन हैं॥"[३]

धन के वितरण का अधिकार आज धन के उत्पादकों के हाथ में न होकर दूसरों के हाथ में है। इसी से इतनी दरिद्रता और दुर्दशा है। धन के इसी असंतुलित वितरण के कारण आज देश में जो अमीर हैं वे अत्यधिक धनवान हैं और जो गरीब हैं उनकी दशा बहुत दयनीय और शोचनीय है। क्रांतिवादी कवि इसी के विरोध में अपनी आवाज उठाते हैं। विलासिता की नींव में पड़े हुए इन्हीं श्रमजीवियों की दुर्दशा पर विश्वंभरनाथ कहते हैं—

'कंकालों की अतुल राशि पर अति विस्तृत साम्राज्य खड़े हैं।
ये मानव प्रस्तर हैं बुनियादों में भूले त्याज्य पड़े हैं॥

---

(१) हुंकार, पृष्ठ ३७। (२) विशाल भारत—'अपनी कविता से' (अगस्त, १९३७)। (३) विशाल भारत—'कस्त्वं कोऽहम्' (अक्टूबर १९३७)।

श्रम ही इनकी पूँजी उस पर आज अमीरों का शासन है।
टूटी हुई कमर पर इनकी अवनी भर का अनुशासन है॥
अखिल विश्व के उत्पादन की शक्ति तुम्हारे पैरों पर है।
पर उनके वितरण का निर्णय आज अभागे गैरों पर है॥"[1]

'नरेंद्र' को इस बात पर आश्चर्य है कि ये जर्जर निष्प्राण कंकाल साम्राज्य का बोझ किस प्रकार अपनी पीठ पर लादे हुए हैं?

"मुझे आश्चर्य महान झुके जर्जर निष्प्राण।
न जाने कैसे हैं ये स्तंभ लदा है जिन पर जग का भार॥

विश्व वैभव का भार।
सँभाले है जिसको कंगाल सिहरते हिलते से कंकाल।
देखता हूँ विस्तृत साम्राज्य और ये कृश कंकाल॥"[2]

यह तो अपने देश की बात हुई। विदेश की भी दशा कुछ अच्छी नहीं है। वहां शांति और समृद्धि के उपकरणों के होते हुए भी विनाश की लीला हो रही है। 'दिनकर' यूरोप के ऐसे आचरण से क्षुब्ध हो उठे हैं। उन्हें जान पड़ता है कि शांति और वैभव का उपकरण विज्ञान यूरोपवालों के हाथ में पड़कर मानवता के लिए अभिशाप बन गया। अपनी सभ्यता की डींग हाँकनेवाले यूरोपीय निरीह हब्शियों को शिष्ट बनाने के नाम पर उन पर अमानुषिक अत्याचार कर रहे हैं। आज युद्ध का हाहाकार मचा हुआ है—

"जो मंगल उपकरण कहाते वे मनुजों के पाप हुए क्यों।
विस्मय है विज्ञान विचारे के वर ही अभिशाप हुए क्यों!

---

(१) विशाल भारत—'कवि से निषेध प्रार्थना!' (सितंबर, १९३७)।

(२) प्रभातफेरी—'कंगाल'।

रणित विषम रागिनी मरण की, आज विकट हिंसा उत्सव में।
दबे हुए अभिशाप मनुज के उगने लगे पुनः इस भव में॥
शोणित से रँग रही शुभ्रपट संस्कृति निठुर लिए करवालें।
जला रहीं निज सिंह-पौर पर दलित दीन की अस्थि मसालें॥
हब्शी पढ़ें पाठ संस्कृति के खड़े गोलियों की छाया में।
यही शांति वे मौन रहे जब आग लगे उनकी काया में॥"[1]

यहूदियों के खून को पानी की तरह बहानेवाले मानवता-विनाशक हिटलर को 'दिनकर' नहीं भूलते—

"राइन-तट पर खिली सभ्यता हिटलर खड़ा कौन बोले।
सस्ता खून यहूदी का है नाजी निज स्वस्तिक धो ले॥"[2]

इन अमानुषिक अत्याचारों का उत्तरदायित्व आज की ईसाई-दुनिया पर है। ईसा के गोरे शिष्यों के ये काले कारनामे हैं—

"श्वेतानन स्वर्गीय देव हम ये हब्शी रेगिस्तानी।
ईसा साखो रहें ईसाई-दुनिया ने बर्छी तानी॥"[3]

ऐसी विषाक्त परिस्थिति की पुनरावृत्ति रोकने के लिए क्रांतिवादी कवि एक नई सभ्यता और नई व्यवस्था की स्थापना चाहते हैं जिसमें शांति और समृद्धि हो, स्वतंत्रता हो और जीवन के विकास का पूरा अवसर मिले। ये कवि एक नया संसार बसाना चाहते हैं जिसमें संपूर्ण मानवता सुख से रह सके। ऐसा संसार जिसमें किसी प्रकार का शोषण न हो, और समता हो। इस प्रकार की नई सभ्यता और नई व्यवस्था क्रांति की भावना से ओत-प्रोत है। फ्रांस की राज्यक्रांति के तीन मूल मंत्र स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व का समावेश थोड़े भेद

(१) विशाल भारत—'कस्मै देवाय' (अगस्त, १९३४)
(२) हुंकार पृष्ठ ५१। (३) हुंकार, पृष्ठ २।

के साथ आज के क्रांतिवादी कवियों की नई व्यवस्था में है। भेद इतना है कि इस व्यवस्था में व्यष्टि से अधिक समष्टि की प्रधानता है। यह धार्मिक और भावात्मक न होकर मुख्यतया आर्थिक है। क्रांतिवादी कवि वर्णभेद का नाश चाहते हैं। ये जीवन और साहित्य के संबंध को और भी दृढ़ तथा गंभीर बनाना चाहते हैं।

'नरेंद्र' के मतानुसार नई व्यवस्था दीन और दलितों को शक्ति तथा अधिकार देगी—

"वर्ण-हीन असमान पतित को उठा शक्ति देंगे प्रलयंकर।
दैत्यों का दुर्जेय शौर्य ले देवों की ले अमृत मधुरिमा।
मानवता के साँचे में ढल बनी हमारी कुंदन प्रतिमा॥"[1]

'पंत' ऐसी सभ्यता का गान कर रहे हैं जिसमें वर्गभेद, शोषण और रूढ़ि का नाम भी न होगा—

"ज्ञानवृद्ध निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बंधन सक्रिय जीवन।
रूढ़ रीतियाँ जहाँ न हो आराधित,
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित॥
धन बल से हो जहाँ न जन-श्रम-शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नवमानव संस्कृति-किरणों से ज्योतित॥"[2]

क्रांतिवादी कवियों को नई व्यवस्था साहित्य के 'सत्य' 'शिव' और 'सुंदर' को सामान्य जीवन के बीच देखना चाहती है। कवि

(१) प्रभातफेरी—'भावी संतति'। (२) युगवाणी—'नवसंस्कृति', पृष्ठ १८।

कला के इन कल्पित मानदंडों को जीवन से अनुप्राणित देखना चाहते हैं—

"सुंदर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान।
बन गए स्थूल जग-जीवन से हो एक प्राण॥
मानव-स्वभाव ही बन मानव-आदर्श सुकर।
करता अपूर्ण को अपूर्ण सुन्दर को सुन्दर॥"[1]

इस नई व्यवस्था में सदाचार और धर्म की महत्ता जन-हित पर निर्भर होगी—

"धर्म, नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जनहित।
सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण-संबंधित॥"[2]

जैसा पहले कहा जा चुका है यह व्यवस्था व्यष्टि से अधिक समष्टि के आधार पर खड़ी होगी। मनुष्य को ऐसी सभ्यता का विकास करना है जिसमें मनुष्य को व्यक्तिगत लाभ से अधिक मानवता के कल्याण का ध्यान रखना होगा। व्यष्टि की विशिष्टता समष्टि में लीन रहेगी—

"क्षुद्र व्यक्ति को विकसित हो अब बनना है जन मानव।
सामूहिक मानव को निर्मित करनी है संस्कृति नव।"[3]—पंत।

इस नवीन संस्कृति के विषय में सबसे अधिक सुलझी हुई भावना पंत की है। इनकी कुछ अपनी विशिष्टता है, इसी के परिणाम-स्वरूप इनकी नई व्यवस्था की भावना भी स्वतंत्र है। पंत के मतानुसार नई व्यवस्था में क्रांतिवादियों के साम्यवाद और गांधीजी के सत्य एवं अहिंसा का सामंजस्य तथा समावेश होगा।

---

(१) युगवाणी—'नवदृष्टि', पृष्ठ १५। (२) युगवाणी—'मूल्यांकन', पृष्ठ ३५। (३) युगवाणी—गंगा का प्रभात', पृष्ठ ३४।

सत्य और अहिंसा व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक हैं और साम्यवाद समष्टि की उन्नति के लिये अपेक्षित है। नवीन संस्कृति का स्वर्णयुग गांधीवाद और साम्यवाद दोनों का संदेश लेकर आया है—

"गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति नव प्राण।
मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।
साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग करता मधुर पदार्पण।
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।"[1]

क्रांतिवादी कवि अपने मार्ग के काँटों से अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते हैं कि केवल नवीन संस्कृति के गान इस संसार में नई व्यवस्था नहीं ला सकते, इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता क्रांति की है—ऐसी क्रांति जो जीवन में महान् परिवर्तन उपस्थित कर दे। ऐसा महान् और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए ये कवि अत्याचारों से दबे हुए किसानों और मजदूरों को प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्तेजित करते हैं। इन कवियों का विश्वास है कि प्रचलित प्रणाली में सुधार करने से कोई लाभ न होगा, नई संस्कृति के निर्माण के पहले आज की व्यवस्था का तहस-नहस नितांत आवश्यक है, इसीलिए क्रांतिवादी कवियों में समझौता और सुधार की भावना नहीं मिलती। ये अधिकतर क्रांति और विद्रोह करने का निमंत्रण देते हैं। विश्वंभरनाथ इसी प्रकार के वातावरण के लिए श्रमजीवियों को उत्साहित करते हैं—

---

(१) युगवाणी—'समाजवाद गांधीवाद', पृष्ठ ४।

"दुनिया भर के श्रमजीवी जागो, कुछ अपनी ताक़त जानो।
तुम में कितना बल है प्यारे, कुछ तो अपने को पहचानो।
और न सोचो अपने मन में, एवमस्तु प्यारे अब बोलो।
महारुद्र का नयन तीसरा, प्रलयंकर गति से तुम खोलो।"[१]

'नवीन' भी मनुष्यों को ऐसी दुनिया बनाने के लिए बुला रहे हैं जिसमें गरीब अपना सर उठाकर चल सके—

"हे मानव कब तक भोगेगे यह निर्मम महा भयंकरता,
बन रहा आज मानव देखो मानव का ही भक्षणकर्ता।
है दुनिया बहुत पुरानी यह, रच डालो दुनिया एक नई,
जिसमें सर ऊंचा कर विचरें इस दुनिया में बेताज कई।"[२]

इन कवियों की क्रांति राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों तक परिमित नहीं है, ये सामाजिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता चाहते हैं। रूढ़ि, विश्वास तथा अंधपरंपरा का नाश ये आवश्यक समझते हैं। वर्णभेद को मिटाकर सारी मानवता को अपनाना इनका परम कर्तव्य है। संकुचित सामाजिक और धार्मिक भावनाओं को ठुकराकर ये सारी मानवता का कल्याण चाहते हैं। ये एक व्यक्ति को अपने पापों के लिए पूर्णतया दोषी नहीं ठहराते। उस व्यक्ति के पापों का उत्तरदायित्व समाज पर भी है, क्योंकि सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसे पाप करने को बाध्य करती हैं। इसलिए ये कवि कभी उसे हेय नहीं समझते। इन कवियों को समाज के सताए हुए प्राणियों के प्रति हार्दिक समानुभूति है। हार्दिक समानुभूति और सच्ची उदारता की नींव पर ये कवि एक नए समाज की स्थापना चाहते हैं।

---

(१) विशाल भारत—'कवि से निषेध प्रार्थना,' (सितंबर १९३७)।
(२) विशाल भारत—'कस्त्वं कोहम्', (अक्टूबर १९३७)।

नरेंद्र की रचनाओं में इसी प्रकार की समाजिक भावनाओं की झलक मिलती है। 'वेश्या' शीर्षक कविता में वेश्याओं पर कुपित न होकर नरेंद्र उन पर किए गए अत्याचारों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते हैं और उनके प्रति अपनी समानुभूति दिखलाते हैं—

"गृहसुख से निर्वासित कर दी हाय मानवी बनी सर्पिणी
यह निष्ठुर अन्याय, आओ बहन ......
अरी सर्पिणी, आ तेरे मणिमय मस्तक पर मैं
अंकित कर दूं निर्धन चुंबन, आ सर्पिण, आ
ले भाई का निर्बल प्रेमालिंगन।"[1]

'पापी' शीर्षक कविता में अपने कर्तव्यों से गिरे हुए लोगों के प्रति नरेंद्र की समानुभूति भली-भांति प्रकट होती है—

"यहाँ कौन है जग में पापी वह मेरा भोला भाई है।
यह मेरा भूला भाई है, यहाँ कौन इस जग में पपी।
बालक हैं थक ही जाते हैं पल भर कहीं ठहर जाते हैं।
क्या डर है यदि कठिन मार्ग में संग न ये शिशु चल पाते हैं।"[2]

'पंत' स्त्रियों की शोचनीय दशा के लिए पुरुषों को दोषी ठहराते हैं। वे स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि पुरुष उनके स्वत्वों को उन्हें दे दें।

"पुरुषों की ही आँखों से नित देख-देख अपना तन,
पुरुषों के ही भावों से अपने प्रति भर अपना मन।
लो अपनी ही चितवन से वह हो उठती है लज्जित,
अपने ही भीतर छिप-छिप जग से हो गई तिरोहित।
मानव की चिर सहधर्मिणि युग-युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित वह घर दीप—शिखा सी कंपित।

(१) प्रभातफेरी—'वेश्या'। (२) प्रभातफेरी—'पापी'।

उसे मानवी का गौरव दे पूर्ण स्वत्व दो नूतन,
उसका मुख जग का प्रकाश हो उठे अंध अवगुंठन।
खोलो हे मेखला युगों से कटि-प्रदेश से तन से,,
अमर प्रेम ही बंधन उसका वह पवित्र हो मन से।'[1]

'निराला' सामाजिक अंधविश्वास का विरोध करते हैं। 'दान' शीर्षक कविता में उन धार्मिक पुरुषों का व्यंगपूर्ण वर्णन है जो बंदरों को खिलाते हैं, परंतु भिखमंगों को पास नहीं आने देते।

"मेरे पड़ोस के वे सज्जन, करते प्रतिदिन सरिता-मज्जन।
झोली से पुये निकाल लिए, बढ़ते कपियों के हाथ दिए।
देखा भी नहीं उधर फिरकर, जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।
चिल्लाया किया दूर मानव, बोला मैं 'धन्य श्रेष्ठ मानव'।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रांतिवादी कवि स्वतंत्रता का संदेश सुनाते हैं। ये स्वतंत्रता और क्रांति का आवाहन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करते हैं। क्रांति के साथ-साथ ये कवि नाश का भी स्वागत करते हैं, क्योंकि यह भी इनके कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग है। आज की व्यवस्था को बिना मिटाए शांति और समता की स्थापना इन कवियों को असंभव प्रतीत होती है। इसीलिए इनके क्रांति-प्रेम की कोई सीमा नहीं है और इनको नाश तथा प्रलय की कोई चिंता नहीं। उद्देश्यपूर्ण नाश की भावना अनुचित नहीं कही जा सकती, परंतु क्रांति का बाना धारण किए बहुत सी ऐसी रचनाएँ भी देखने में आती हैं जिनमें महानाश की होली के आगे कुछ नहीं है। कुछ

---

(१) युगवाणी—'नर की छाया', पृष्ठ ६०।

(२) अनामिका, पृष्ठ २५।

कवियों को उद्देश्यहीन नाश की लीला में बड़ा आनंद मिलता है। इन कवियों की रचनाएँ 'नवीन' की निम्नलिखित पंक्तियों से मिलती-जुलती होती हैं—

"प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव भू में छाए।
नाश और सत्यनाशों का धुँवाधार जग में छा जाए॥
नियम और उपनियमों के ये बंधन टूक-टूक हो जाएँ।
विश्वंभर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ॥
नाश नाश हाँ महानाश की प्रलयंकरी आँख खुल जाए।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे अंग-अंग झुलसाए॥"[1]

कवियों के ऐसे उद्गार क्रांतिवादी कविता की अव्यवस्थित दशा की सूचना देते हैं। इसका कारण आरंभ में ही बताया जा चुका है कि क्रांतिवादी कविता का अभी श्रीगणेश हुआ है और अभी यह अपनी पूर्णावस्था को नहीं पहुँची है। कवि और पाठक दोनों के सामने इसका स्पष्ट और सुलझा हुआ स्वरूप नहीं है। इसी कारण क्रांतिवादी कविता के क्षेत्र में आग से खेलनेवालों की अधिकता है और व्यवस्थित बुद्धिवाले कवियों की कमी है।

क्रांतिवादी कवि यथार्थवाद के अत्यधिक प्रेमी होते हैं और इसीलिए इनकी रचनाओं में यथार्थ जीवन की दरिद्रता और दुर्दशा के चित्र अत्यधिक मिलते हैं जो कभी-कभी अरुचि भी उत्पन्न करते हैं। कुछ रचनाओं में कवि दैन्य के कुत्सित चित्र खींचकर उपदेश देना आरंभ करते हैं। इस प्रवृत्ति का एक कारण विदेशी समाजवादी और क्रांतिवादी साहित्य की भरमार है, जिसका प्रचार इस देश में हो रहा है। यथार्थता के प्रेमी होने

---

(१) कुंकुम, पृष्ठ ११।

के कारण इन कवियों के लिए कोई भी विषय काव्य के अनुपयुक्त नहीं है। ये साधारण मनुष्यों के सुख-दुख को वाणी देने के लिए सदा तैयार रहते हैं। इन कवियों ने संपूर्ण जीवन को, उसके सौंदर्य और उसकी कुरूपता के साथ, स्वीकार किया है, इसीलिए ये निर्भीक होकर सचाई के साथ जीवन के गान गाते हैं। इनकी कविता में कुरूपता के चित्र इसीलिए मिलते हैं क्योंकि इस जीवन में कुरूपता भी है।

क्रांतिवादी कवि विद्रोह की भावना से ओत-प्रोत हैं। इसी से ये प्राचीन धार्मिक और सामाजिक आदर्शों को चुनौती दिया करते हैं। ये जीवन और साहित्य दोनों में स्वतंत्रता का स्वागत करते हैं। इनकी रचनाओं में जीवन और कला का निकट संबंध देखने को मिलता है। क्रांतिवादी कविता सौंदर्य के संकुचित आदर्श के विरोध में खड़ी हुई है। इन कवियों के हाथ में पड़कर यह कला न रहकर प्रचार का साधन बन गई। इनकी अत्यधिक स्वतंत्रता, शक्ति और रूढ़ि से मुक्त सरलता की उपासना ने जीवन और साहित्य में एक नवीन स्फूर्ति भर दी। क्रांतिवादी रचनाओं में सौंदर्य और मधुरता कम परंतु ओज तथा सचाई अधिक है।

क्रांतिवाद के अधिकांश कवियों को वक्तृता देनेवाले मानवतावादियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनका कलात्मक आदर्श वक्तृता है। ये कवि भी राजनीतिक व्याख्यानदाताओं के समान हैं। ये अपनी भावनाओं को सीधे तथा प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकट करते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि क्रांतिवाद की अधिकांश रचनाएँ लुप्त हो जायँगी और जल्द ही लुप्त हो जायँगी। इसमें से जो

रचनाएँ बचेंगी वे अपनी सचाई और उत्कृष्ट भावनाओं के बल पर बचेंगी।

इसी स्थल पर क्रांतिवादी कविता की दो-चार संकीर्णताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। क्रांतिवादी कविता के कुछ आलोचकों का यह कहना है कि यह कविता अधिकतर कृत्रिम है और सच्ची अनुभूति की कमी के कारण यह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो रही है। इन लोगों का यह भी कहना है कि इसके अधिकांश कवि मध्यवर्ग के होने के कारण सच्ची लगन के साथ क्रांति के गीत गाते हुए डरते हैं और इसी से जनता के कानों तक अपनी आवाज नहीं पहुँचा पाते।

समालोचकों के इन वाक्यों में बहुत कुछ सचाई है। यह सच है कि क्रांतिवादी कविता अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो रही है। इसका एक कारण इस कविता की प्रारंभिक अवस्था है। दूसरा कारण जनता की अशिक्षा और फलतः उसकी अपरिपक्वावस्था है। सबसे मुख्य कारण इन कवियों की क्लिष्ट और दुरूह भाषा है जो इनके संदेश को साधारण जनसमुदाय तक नहीं पहुँचने देती। कवियों की भाषा जनता की भाषा नहीं हो सकी है और क्रांति का कवि तभी सफल हो सकता है जब वह जनता के सुख-दुःखों को उसकी भाषा द्वारा उसके सामने रख सके। जनता की भाषा क्रांति का सबसे बड़ा साधन है।

मध्यवर्ग के होते हुए भी कवियों के लिए क्रांति के गीत गाना कोई विडंबना नहीं है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ये कवि क्रांति के अग्रदूत हैं। क्रांति करनेवाले दूसरे होंगे और क्रांति द्वारा मुक्त जनता के कवि बाद में आएँगे। आज के कवि आधुनिक समय की परिस्थिति से प्रेरित होकर सच्चे हृदय से

जनता को क्रांति के लिए जगा रहे हैं, इसलिए इन सबको कृत्रिम कहना न्याय न होगा।

कला की दृष्टि से इन कवियों की अधिकांश रचनाओं में कविता कम है और 'वाद' अधिक। क्रांतिवादी कविता की यही सबसे बड़ी संकीर्णता है। जीवन विविधता है, इसमें रोटी-दाल, सुख-दुःख, सौंदर्य और कुरूपता सभी कुछ है। जीवन को केवल रोटी का गान कहना इसकी विविधता को नष्ट करना है। गरीबी और रोटी के गीत गाने के साथ-साथ क्रांतिवादी कवि को जीवन के सौंदर्य की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए, ऐसा न करने से सत्य की हत्या होगी।

बहुत संभव है कि क्रांतिवाद की अशांति और आंदोलन से संपूर्ण मानवता के कवि का जन्म हो। इसीलिए क्रांतिवाद की प्रवृत्ति का भी अध्ययन अत्यंत सावधानी से होना चाहिए। परंपरावादी कवियों से क्रांतिवादी कवि को इसीलिए भी और अधिक धैर्यपूर्वक सुनना चाहिए कि वह एक नई चीज लाया है जिसे अभी सब लोग अच्छी तरह नहीं समझ सके हैं।

प्रेम की कविता

सहस्रों वर्षों से स्त्री-पुरुष एक दूसरे से प्रेम करते चले आए हैं। प्रेम की प्रेरणा से विविध प्रकार के असंख्य भावों का आस्वादन इनके जीवन में विविधता ला रहा है। प्रेम की ही प्रेरणा से स्त्री-पुरुष अपने जीवन के प्रभात में साथ-साथ पुलकित हुए और इसी के प्रभाव से संध्या की उदासी और निराशा के अंधकार में पग बढ़ाते जीवन-पथ पर चलते रहे हैं। प्रेम के ही कारण मनुष्य खिलती हुई कलियों को देखकर हँसा और बिखरी हुई ओस की बूंदों पर रो पड़ा। कवि सच्चे भावावेश में—अपने हृदय के गान द्वारा—प्रेम के आनंद और उसकी वेदना का संदेश लोगों तक पहुंचाते रहे हैं।

आज के कवि भी मानव-जाति की इस गूढ़ मनोवृत्ति के स्पर्श से पुलकित होकर कुछ परिवर्तित रूप में प्रेम गीत सुना रहे हैं। परिवर्तन आदर्श और अभिव्यंजना दोनों में लक्षित हो रहा है। प्रेम की वर्तमान कविता रीतिकाल की शृंगारी कविता से भिन्न है। रीतिकाल की अधिकांश शृंगारी कविता में बाह्य सौंदर्य और चेष्टा का निरूपण अधिक हुआ है। उसमें अंतर्वृत्ति की व्यंजना कम हुई है और प्रेम-वर्णन कभी-कभी अश्लील भी हो गया है। भारतेंदु-युग के कवि भी रीतिकाल की परंपरा का अवलंबन करते रहे। यद्यपि आधुनिकता का श्रीगणेश इन्हीं कवियों के द्वारा हुआ परंतु इन लोगों ने प्रेम के क्षेत्र में कोई, परिवर्तन नहीं किया। इन लोगों ने रीतिकाल की प्रचलित शैली

पर प्रेम के छंद लिखे। प्रेम इनकी कविता में केवल रूढ़ काव्योपयुक्त विषय रह गया। स्वयं भारतेंदु भी अपने को इस रूढ़ि से नहीं मुक्त कर सके। यद्यपि इनकी प्रेम की कविता अपनी मधुरता के कारण इनके जीवन-काल में ही लोकप्रिय हो गई तथापि इनमें भी कुछ स्थल अश्लील हैं और हास्यास्पद अतिशयोक्ति से अतिरंजित हैं। इसका संपूर्ण उत्तरादायित्व इन कवियों पर नहीं है। चलती हुई परंपरा से प्रभावित होना अनिवार्य है और इस प्रवाह को पूर्णतया रोकना इन कवियों के सामर्थ्य के बाहर था। भारतेंदु-युग की प्रेम की कविता रीति-काल की शृंगारी कविता की अंतिम झलक है।

द्विवेदी-युग में रीतिकालीन शृंगारी कविता के विरोध का आरंभ हुआ। फलतः अधिकांश कवियों ने अपने को प्रेम के संक्रामक रोग से बचाने की चेष्टा की। परंतु मानव-हृदय की इस आदिम मूलवृत्ति का जादू कवियों के सिर चढ़कर बोल उठा। यद्यपि द्विवेदी-युग के कवियों ने प्रेम के गीत नहीं लिखे तथापि उनमें प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। प्रेम की प्रशंसा की यह प्रवृत्ति इन कवियों के पद्यात्मक निबंध, विषय-प्रतिपादन और नैतिक निष्कर्ष के प्रदर्शन की सामान्य प्रवृत्ति का एक अंग है। इसलिए हम गुप्तजी को 'प्रणय की महिमा' का पाठ सुनाते हुए पाते हैं—

"मोद-प्रद प्रणय से जिनके विशाल, होते विभूषित उर-स्थल सर्वकाल।
वे ही मनुष्य जगती-तल में प्रधान, हैं जानते प्रणय की महिमा महान॥"[1]

'मानसोद्गार' में लोचनप्रसादजी प्रेम के प्रभाव की व्याख्या कर रहे हैं—

---

(१) 'प्रणय की महिमा'—सरस्वती, खंड ७, संख्या ६, १९०६।

"सुखद सुमतिदाता प्रेम ही विश्व-बीच,
सुमति-पथ दिखाता प्रेम ही विश्व-बीच।
करगत कर देता प्रेम चारों पदार्थ,
सुध बुध हर लेता प्रेम ही वह पदार्थ॥"[1]

गोपालशरणसिंह प्रेम को जीवन का सार समझते हैं—

"बन जाओ तुम प्रेम हमारे मंजु गले का हार,
तन-धन-जीवन जो कुछ चाहो दें हम तुम पर वार।
तुमको पाकर क्यों न भला हम हो जावेंगे धन्य,
सच कहते हैं तुम्हें मानते हम जीवन का सार॥"[2]

केवल इतने ही कवि इस प्रकार की पद्यात्मक निबंधों की रचना में नहीं संलग्न हैं। रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर 'प्रसाद' (अपनी आरंभिक रचनाओं में) तथा अन्य कवि भी प्रेम के आदर्श की व्याख्या और प्रशंसा करने में व्यस्त हैं। व्याख्यात्मक और नैतिकता-प्रधान पद्यात्मक निबंधों की प्रवृत्ति से हमें कोई आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि हम जानते हैं कि यह रीतिकाल और भारतेंदु-युग की बाह्य सौंदर्यनिरूपिणी शृंगारी कविता के विरोध का फल है। यद्यपि इस विरोध से भारतेंदु-युग की एक-सी कविता के बाद प्रेम-क्षेत्र में कुछ परिवर्तन और विविधता लक्षित होती है तथापि इसे हम प्रेम की कविता नहीं कह सकते क्योंकि इसमें प्रेम-भाव की व्यंजना नहीं मिलती।

परिवर्तन और विविधता के सबसे अधिक दर्शन आज की प्रेम की कविता में होते हैं। रीतिकाल के आदर्श और अभिव्यंजना से आधुनिक प्रेम-काव्य बहुत कुछ भिन्न है। स्त्री आधु-

(१) 'मानसोद्गार'—सरस्वती, खंड १९, संख्या २, १९१८।

(२) 'प्रेम'—सरस्वती, खंड १७, संख्या ३, १९१६।

निक कवियों के समक्ष वासना-तृप्ति का साधन-मात्र नहीं है। कवि इसका वर्णन उदात्त भावनाओं की प्रेरिका के रूप में करते हैं। इसके भी आत्मा है और इसकी क्षमता पर कवियों को विश्वास है। स्त्री प्रेम करती है और प्रेम चाहती है। पंत की 'नारी-रूप' कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में ऐसी ही उदार भावनाओं की झलक मिलती है—

"स्नेहमयि सुंदरतामयि।
तुम्हारे रोम-रोम से नारि मुझे है स्नेह अपार।
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि, मुझे है स्वर्गागार॥
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान, तुम्हीं स्वर्गिक आभास।
तुम्हारी सेवा में अनजान, हृदय है मेरा अंतर्धान॥
देवि! माँ! सहचरि! प्राण!!"

'देवि, माँ, सहचरि, प्राण'[1] हिंदी-काव्य को स्त्रियों के प्रति ऐसी उदात्त भावनाओं की ऐसी उदार वाणी पहली बार प्राप्त हुई है। उदार मनोदृष्टि और समानुभूति के ऐसे शब्द, स्त्रियों के प्रति आधुनिक शिक्षा और सुधरी हुई भावना के फल-स्वरूप हैं। आज के समाज की दृष्टि में स्त्रियाँ दासी नहीं हैं। वर्तमान कवि इनको उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कर इनका आदर और संमान करते हैं। पंत को अपनी प्रेयसी में प्रेम के साथ-साथ पवित्रता के भी दर्शन होते हैं—

"तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगास्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान॥"

भगवतीचरण वर्मा को प्रेमिका निराशा और असफलता-भरे

---

(१) पल्लव—'नारी-रूप', पृष्ठ ८१।
(२) पल्लव—'आँसू', पृष्ठ २७।

जीवन में आशा की किरण प्रतीत होती है। उसके साथ एक प्रकार का अमरत्व लगा चल रहा है—

"भरे हुए सूनेपन के तम में विद्युत् की रेखा सी।
असफलता के तट पर अंकित तुम आशा की लेखा सी॥
आज हृदय में खिंच आई हो तुम असीम उन्माद लिए।
जब कि मिट रहा था मैं तिल-तिल सीमा का अपवाद लिए॥"[1]

प्रेयसी की निम्नांकित भावना स्फूर्ति, आनंद और जीवन देती है—

"शत-शत मधु के शत-शत सपनों की पुलकित परछाई सी।
मलय-विचुंबित तुम ऊषा की अनुरंजित अरुणाई सी॥"[2]

'नवीन' जीवन की अंधकारमयी रजनी में भटक रहे हैं। इनकी प्रार्थना है कि प्रेमिका जीवन-पथ को अपनी दीप्ति से आलोकित कर दे—

"दीप-रहित जीवन-रजनी में, भटक रहा कब से सजनी मैं।
भूल गया हूँ अपनी नगरी, कूहू व्याप्त है सारी डगरी॥
अपनी दीप-शिखा की किरणें जाने दो उस पथ की ओर।
जहाँ भ्रांत सा ढूँढ़ रहा हूँ प्रतिमे तव अञ्चल का छोर॥"[3]

वर्तमान युग के कवि स्त्री को जीवन-संगिनी मानते हैं। इसमें वासना से अधिक प्रेम, पवित्रता और प्रकाश की झलक मिलती है। घर और समाज में इसका उचित स्थान और आदर है। स्त्री-विषयक इस नवीन परिवर्तित भावना ने प्रेम की कविता में सौम्यता, संयम और औदात्त्य की महत्ता प्रतिपादित की। प्रेम की व्यंजना में कवियों को औचित्य का सदा ध्यान रहता है।

---

(१) प्रेमसंगीत, पृष्ठ १८। (२) प्रेमसंगीत, पृष्ठ १०।
(३) कुंकुम, पृष्ठ ५२।

वे ऊहात्मक अतिशयोक्तियों को अधिक उपयुक्त न समझकर अनुभूतिपूर्ण सच्ची भावाभिव्यंजना को श्रेयस्कर मानते हैं। बिहारी की निम्नलिखित अत्युक्तियाँ इन कवियों को नहीं संतुष्ट करतीं—

"आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की रात।
साहसु ककै सनेह-बस, सखी सबै ढिग जात॥
सुनत पथिक-मुँह माह-निसि, चलति लु वैंउ हि गाम।
बिनु बूझै बिनु ही कहे, जियति बिचारी बाम॥"[1]

इन पंक्तियों के स्थान पर वे जायसी की भावपूर्ण गंभीर उक्तियों की शैली पर अपने भावों को व्यक्त करेंगे—

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥
पिरनि परेवा होइ पिउ, आउ वेगि परु टूटि।
नारि पराए हाथ है, तोहि बिनु पाव न छूटि॥"[2]

'प्रसाद' और 'द्विज' की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रेमावेश की आधुनिक व्यंजना के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत की जा सकती हैं—

"आह वेदना मिली बिदाई।
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित मधुकरियों की भीख लुटाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ में, प्रलय चल रहा मेरे पथ में॥
मैंने निज दुर्बल पद पर उससे हारी होड़ लगाई॥"[3]

—'प्रसाद'।

"धधकें लपटें उर-अन्तर में तेरे चरणों पर शीश झुके।
तूफान उठे अङ्गारों के, उर प्रलय, सृष्टि का स्रोत रुके॥

---

(१) बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ११९।

(२) जायसी-ग्रन्थावली, पृष्ठ १७३। (३) स्कंदगुप्त, पृष्ठ १६१।

हाँ खूब जला दे रह न जाय अस्तित्व और जब वे आवें।
चरणों पर दौड़ लिपट जानेवाली केवल विभूति पावें॥"[1]

—द्विज।

इन पंक्तियों से प्रेम की वर्तमान कविता के परिवर्तित रूप का आभास मिलता है। इनके तल में छिपे हुए भावों की तीव्र अनुभूति के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता, और न इनमें ऐसी अतिरंजना है जो लोगों को गंभीर बनाने के स्थान पर हँसा दे।

वर्तमान युग के कवियों को शिष्टता का बहुत ध्यान रहता है। प्रेम की व्यंजना में ये सदा सावधान रहते हैं कि कहीं अश्लीलता न आ जाय। अश्लीलता का अभाव आज की कविता का बड़ा भारी गुण है और इसके सुरुचिपूर्ण होने का सूचक है। महादेवी वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रेम के प्रथम प्रभाव की व्यंजना अश्लीलता से कोसों दूर है—

"सजनि तेरे दृग बाल, चकित से विस्मित से दृग बाल।
आज खोए से आते लौट, कहाँ अपनी चंचलता हार।
झुकी जाती पलकें सुकुमार, कौन से नव रहस्य के भार।
सजनि वे पद सुकुमार, तरंगों से द्रुत पद सुकुमार।
सीखते क्यों चंचल गति भूल, भरे मेघों की धीमी चाल।
तृषित कन कन को क्यों अलि चूम, अरुण आभा सी देते ढाल॥"[2]

सुभद्राकुमारी चौहान यौवनागम की सूचना इसी प्रकार दे रही हैं—

---

(१) खड़ी बोली की प्रगति, पृष्ठ २८।
(२) रश्मि—'क्यों', पृष्ठ ९९।

"लाज-भरी आँखें थीं मेरी, मन में उमँग रँगीली थी।
तान रसीली थी कानों में चंचल छैल-छबीली थी॥
दिल में एक चुभन सी थी यह दुनिया सब अलबेली थी।
मन में एक पहेली थी मैं सबके बीच अकेली थी॥"[१]

'प्रसाद' जी के लजीले मौन यौवन का चित्र मुसकराकर अपने आप बोल उठता है—

"तुम कनक-किरन के अंतराल में, लुक-छिपकर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते, यौवन के घन रसकन ढरते।
हे लाज भरे सौंदर्य बतादो, मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में, कल-कल ध्वनि की गुंजारों में।
मधु सरिता सी वह हँसी तरल, अपनी पीते रहते हो क्यों?"[२]

इन चित्रों की सौम्यता और भव्यता का पूर्ण रूप रीतिकाल की वयःसंधि की कविताओं के प्रतिपक्ष में रखने से निखरता है।

आज की कविता में प्रेम का भावात्मक चित्रण अधिकतर मिलता है। औचित्य, सौम्यता और संयम इन सबने प्रेम की अंतर्वृत्तिनिरूपिणी शैली को जन्म दिया है। मुक्तक गीतों की आधुनिक प्रवृत्ति ने इसे और भी उत्तेजना दी है। हमारे कवि वाह्य चेष्टा और वर्णन से अधिक प्रेम से प्रभावित मानसिक अवस्था के विश्लेषण और व्यंजना को अधिक महत्त्व देते हैं। इनकी कविताओं में सौदर्यपूर्ण व्यंजना रहती है। पंत की निम्न-लिखित पंक्तियाँ यौवन पर प्रेम के प्रभाव को अङ्कित कर रही हैं। प्रेयसी का सौदर्य कवि को अभिभूत कर लेता है—

"उषा सी स्वर्णोदय पर भोर दिखा मुख कनक किशोर।
प्रेम की प्रथम मदिरतम कोर दगों में दुरा कठोर॥

---

(१) मुकुल—'मेरा बचपन', पृष्ठ ३२। (२) चंद्रगुप्त, पृष्ठ ११।

छा दिया यौवन शिखर अछोर रूप-किरणों में घोर।
सजा तुमने सुख स्वर्ण सुहाग लाज लोहित अनुराग ॥"[1]

भगवतीचरण वर्मा प्रेमिका के आगमन से उत्पन्न आह्लादपूर्ण परिस्थिति के प्रभाव का वर्णन करते हैं। निम्नलिखित कविता शब्दार्थ से कुछ अधिक का संकेत कर रही है।

"बरस पड़ी हो मेरे मरु में तुम सहसा रस-धार बनी।
तुम में लय होकर अभिलाषा एक बार साकार बनी ॥"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रेमिका के प्रति नवीन भावना और अभिव्यंजना की नई प्रणाली का संक्षिप्त परिचय मिल गया होगा। रीतिकाल की कविता से प्रेम की वर्तमान कविता के भेद को लक्षित कराने के लिए अब अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है।

वर्तमान युग के कवि और कवियित्रियों को प्रेमभाव के प्रकाशन में कोई संकोच नहीं होता। इनके प्रेम के गीतों में सजीवता, सरलता और मधुरता है। बहुत से कवि प्रेम की उन्मुक्त परिस्थिति में घूमने का निमंत्रण देते हैं। पंत प्रथम-मिलन का स्मरण कर रहे हैं जिसका साक्षी मंजरी से लदा आम का वृक्ष था। प्रथम-मिलन की इस रंगभूमि की परिस्थिति में भी स्वच्छंदता और प्रेम का राग था—

"मंजरित आम्र-वन छाया में हम प्रिये मिले थे प्रथम बार।
ऊपर हरीतिमा नभ गुंजित नीचे चंद्रातप छना स्फार ॥
छनती थी ज्योत्स्ना शशि-मुख पर मैं करता था मुख-सुधा-पान।
कूकी थी कोकिल हिले मुकुल भर गया गंध से मुग्ध प्राण ॥"[3]

---

(१) गुंजन, संख्या २७, पृष्ठ ५५।
(२) प्रेमसंगीत, पृष्ठ १९। (३) युगांत, संख्या २२।

भगवतीचरण वर्मा प्रेम के क्षेत्र में स्वच्छंदता का आवाहन कर रहे हैं। वे अपनी प्रिया से लाज की सीमा तोड़ने को कह रहे हैं। इनकी निम्नलिखित पंक्तियों में स्वच्छंद प्रेम (Romantic Love) का संकेत मिलता है—

"आज सौरभ से भरा उच्छवास है, आज कंपित भ्रमित सा बतास है।
आज शतदल पर मुदित सा झूलता, कर रहा अठखेलियाँ हिम-हास है॥
लाज की सीमा प्रिये तुम तोड़ दो, आज मिल लो, मान करना छोड़ दो।"[1]

'नरेंद्र' आधुनिक जीवन में स्वच्छंद प्रेम का पुट देने का प्रयास करते हैं—

"तुम्हें याद है क्या उस दिन की नए कोट के बटन-होल में हँसकर।
प्रिये लगा दी थी जब वह गुलाब की लाल कली॥
फिर कुछ शरमा कर साहस कर बोली थी तुम।
इसको यों ही खेल समझकर फेंक न देना है यह प्रेम-भेंट पहली॥
कुसुम-कली वह कब की सूखी, फटा ट्वीड का नया कोट भी।
किंतु बसी है सुरभि हृदय में जो उस कलिका से निकली॥"[2]

स्वच्छंद प्रेम के आमंत्रण के साथ-साथ सच्ची भावनाओं को सम्यक् वाणी प्राप्त हो रही है। कविता की प्रथम आवश्यकता सचाई के महत्त्व से कवि भलीभाँति परिचित हैं। ये व्यर्थ के आडंबर और जाल नहीं रचते। ये अपनी सर्वोत्तम भावनाओं की भेंट संसार को देते हैं, क्योंकि इनका पक्का विश्वास है कि जनता केवल सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ को ही स्वीकार करती है। इसी कारण ये प्रेम की सरल और सीधी व्यंजना की चेष्टा करते हैं। इसी से इनके प्रेम के गीत सौंदर्य से पूर्ण होते हैं। इन गीतों में प्रभाव, सत्यता और सजीवता है। बहुत से कवियों

---

(१) प्रेमसंगीत, पृष्ठ ४३। (२) प्रवासी के गीत, संख्या ४८, पृष्ठ ७३।

में प्रेम की स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण व्यंजना मिलती है। इन कवियों में भगवतीचरण वर्मा और सुभद्राकुमारी चौहान इस क्षेत्र में अधिक प्रमुख हैं। प्रेम के क्षेत्र में इन कवियों की वैयक्तिक विशेषता और अनुभूति की तीव्रता उत्कृष्ट कोटि की है। प्रेम के विषय में भगवतीचरण वर्मा के कुछ अपने विचार हैं। ये प्रेम के उदात्त प्रभाव को मानते हैं। प्रेम को ये आनंद की एक हिलोर कहते हैं जो असीम की ओर चलने का संकेत करती है—

> "है हमें बहाने को आई यह रस की एक हिलोर प्रिये।
> शाश्वत असीम में चलना है निज सीमा के उस ओर प्रिये॥"[1]

ये अपनी दुर्बलता और शक्ति की सीमाओं से परिचित हैं। भाग्य की अस्थिरता और भविष्य की आशंका से ये जीवन के वर्तमान क्षणों से लिपटे रहते हैं। ये भाग्यवादी हैं और मनुष्य की आवश्यकता को अच्छी तरह जानते हैं। ये जीवन के इन थोड़े से क्षणों में प्रेमी बन जाने के लिए कहते हैं—

> "पलभर जीवन फिर सूनापन पलभर तो लो हँस बोल प्रिये।
> कर लो निज प्यासे अधरों का प्यासे अधरों से मोल प्रिये॥
> चलना है सबको छोड़ यहाँ अपने सुख-दुख का भार प्रिये।
> करना है कर लो आज उसे कल पर किसका अधिकार प्रिये॥
> यौवन की इस मधुशाला में है प्यासों का ही स्थान प्रिये।
> फिर किसका भय उन्मत्त बनी है प्यास वहाँ वरदान प्रिये॥"[2]

भगवतीचरण वर्मा ने उर्दू के प्रेम-काव्य की परंपरा का भी समावेश हिन्दी में किया है। उर्दू के प्रेम-काव्य के अधिकांश

---

(१) प्रेमसंगीत, पृष्ठ ४६। (२) प्रेमसंगीत, पृष्ठ ३६।

प्रतीकों का उपयोग इनकी कविता में मिलता है। साकी, प्याला, अफ़साना और मस्ती इन सबका समावेश है—

"होठों पर नाच रहा था मेरे वैभव का प्याला।
मैं बना हुआ था साकी मैं ही था पीनेवाला॥"[1]

अदृष्ट और विवशता के कारण ये प्रेम को सपना और भूल कहते हैं। भाग्यवाद के साथ-साथ इनकी कविता में निराशा की भी छाया है—

"अब असह अबल अभिलाषा का है, सबल नियति संघर्षण।
आगे बढ़ने का अमिट नियम, पग पीछे पड़ते हैं प्रतिक्षण॥
मैं एक दया का पात्र अरे, मैं नहीं रंच स्वाधीन प्रिये।
हो गया विवशता की गति में, बँधकर हूँ मैं गतिहीन प्रिये॥
क्यों रोती हो मिटना ही है, है एक अंत मिटने का।
है प्रेम भूल सपने की, उस सुख-सपने को भूलो॥"[2]

'नरेंद्र' भी निराशा से अभिभूत हैं, इनको भविष्य के सुख-मिलन में संदेह है—

"यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता।
सत्य कहता हूँ न मैं असहाय या निरुपाय होता॥
किंतु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे।
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे॥"

'नरेंद्र' भाग्यवादी हैं, इनको 'विवश, नियति-शासित यह जीवन' है।

'बच्चन' भी इन्हीं की तरह भाग्यवादी हैं। इस संसार में मनुष्य की परवशता को देखकर ये दूसरे लोक के सुख के विषय

---

(१) प्रेमसंगीत, पृष्ठ ४०। (२) प्रेमसंगीत, पृष्ठ ७०।
(३) प्रवासी के गीत, संख्या ३, पृष्ठ ३।

में शंकित हो उठे हैं। इस पार निर्दोषों पर अत्याचार करनेवाली नियति उस पार मनुष्य से कैसा व्यवहार करेगी, यह भय इनको उद्वेलित किए है—

"कुछ न किया था जब उसका उसने पथ में काँटे बोए।
वे भार रख दिए कंधे पर जो रो-रोकर हमने ढोए॥
अब तो हम अपने जीवन भर उस क्रूर कठिन को कोस चुके।
उस पार नियति का मानव से व्यवहार न जाने क्या होगा॥"[1]

इन भाग्यवादी और निराशावादी रचनाओं के विपरीत सुभद्राकुमारी चौहान की प्रेम की कविता प्रफुल्लकारिणी और स्फूर्तिदायिनी है। सुभद्राकुमारी चौहान जीवन और उत्साह से पूर्ण हैं। इससे इनकी रचनाएँ भी इनकी सजीवता और प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। इनमें प्रेम की स्वाभाविक व्यंजना की पूरी क्षमता है। भाषा और भाव की सरलता तथा सीधापन इनकी बहुत बड़ी विशेषता है। इनकी शैली में प्रवाह और प्रसाद की अत्यधिक मात्रा है।

सुभद्राकुमारी चौहान की प्रेम की कविता स्त्री की प्रीति-रीति का गान है। ये प्रेम के आह्लाद का सीधे-सादे ढंग से वर्णन करती हैं—

"मधुर-मधुर मीठे शब्दों में मैंने गाना गाया एक।
वे प्रसन्न हो उठे खुशी से शाबाशी दी मुझे अनेक॥
प्रेमोन्मत्त हो गई, मैंने उन्हें प्रेम निज दिखलाया।
उसी समय बदले में उनसे एक प्रेम-चुंबन पाया॥"[2]

'चलते समय' में जाते हुए प्रियतम से आज्ञा माँगने पर

(१) मधुबाला—'इस पार उस पार'।

(२) मुकुल 'पारितोषिक का मूल्य', पृष्ठ २१।

कवियित्री के हृदय के अनिश्चय की बड़ी आकर्षक और उचित व्यंजना हुई है—

"तुम मुझे पूछते हो जाऊँ, मैं क्या जबाब दूं तुम्हीं कहो।
'जा' कहते रुकती है जबान, किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो॥"[१]

सुभद्राकुमारी चौहान की कविता अपनी सरलता, सत्यता और निष्कपटता से विश्वासपूर्ण परिस्थिति का प्रसार करती है, जिसमें पाठक कवियित्री के समीप आ जाता है और उसके हृदय की धड़कन सुनता है। निम्नलिखित पंक्तियों के समान अपनी कुछ कविताओं में गाना न गाकर ये मधुर और विश्वसनीय ढंग से बात करती हैं—

"बहुत दिनों तक हुई परीक्षा अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी बोल तो लिया करो चाहे मुझ पर प्यार न हो।

इनकी निम्नलिखित पंक्तियों में नम्रता, प्यार और आत्म-समर्पण का प्रभावपूर्ण वर्णन है—

"धूप दीप नैवेद्य नहीं है झाँकी का शृङ्गार नहीं।
हाय गले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं॥
पूजा और पुजापा प्रभुवर इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर इसी भिखारिन को समझो॥
चरणों पर अर्पित है इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है ठुकरा दो या प्यार करो॥"[२]

इनके हृदय में प्रेम की कविता से संबद्ध मातृत्व की भी कविता है। इनकी ख्याति और लोकप्रियता का अधिकांश बचपन के चित्र उपस्थित करनेवाली इनकी रचनाओं पर निर्भर

(१) मुकुल 'चलते समय', पृष्ठ ४

(२) मुकुल—'ठुकरा दो या प्यार करो', पृष्ठ ९, १०।

है। प्रेम की कविता के समान इसमें भी स्पष्टवादिता है। सुभद्राकुमारी को जो कुछ कहना होता है उसे अच्छी तरह जानती हैं और उसे अच्छी तरह कहती हैं। इनके उद्गारों में भावानुभूति और सचाई रहती है।

सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाएँ आधुनिक प्रेम की कविता के उस रूप का आभास देती हैं जो संभवतः उसे प्राप्त हुआ होता यदि बीच में अनायास रहस्यवाद की आँधी न उठ पड़ती। यदि सभी कवि रहस्यवाद के पीछे उन्मत्त न हो जाते तो प्रेम के गीत अत्यन्त प्रभावशाली और सजीव होते। रहस्यवादी स्पष्टता ने इन कवियों के प्रेम-काव्य को धूमिल बना दिया और इनकी शालीनता तथा इनका प्रभाव कम कर दिया। दुहरे रूपवाले बहुत से ऐसे गीत भी मिलेंगे जिनको सांसारिक प्रेम और रहस्यवाद दोनों की व्यञ्जना कहा जा सकता है। 'प्रसाद' की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

'अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करनेवाले को।
मेरी आँखों से आकर फिर आँसू ढरनेवाले को॥
निष्ठुर खेलों पर जो अपने रहा देखता सुख के सपने।
आज लगा है क्या वह कँपने देख मौन मरनेवाले को॥"[1]

देश की आधुनिक राजनीतिक अवस्था प्रेम-गीतों की रचना के अनुकूल नहीं है। आधुनिक दुरवस्था ने कुछ कवियों को प्रेम के क्षेत्र में भी भाग्यवादी और निराशावादी बना दिया। कुछ कवि समय की कटुता भुलाने के लिए साकी और प्याला सपनों के महल और वास्तविक जीवन से कोसों दूर बसी हुई प्रेम की दुनिया का गान करने लगे। इनके विपरीत कुछ,

---

(१) लहर—पृष्ठ४०।

'दिनक' तथा 'नेपाली' के समान कवि, देश की दरिद्रता और दुर्दशा से क्षुब्ध हो उठे हैं। देश का अपमानित जीवन इनको प्रेम की अपेक्षा अन्य भावों को व्यक्त करने को विवश करता है। 'ठोकर' की निम्नलिखित पंक्तियों में 'नेपाली' की भावना देखिए—

"घायल मर्म सताया प्राणी, काँटे कोई चीज नहीं।
ममता का अंकुर फूटे, अब हिय में ऐसा बीज नहीं॥
स्वप्नभंग सुख का मुँह काला, मेंहदी के बदले छाले।
इस अवसर पर दिल क्या चाहे बादल ये काले-काले॥
नहीं दुपहरी, नहीं चाँदनी, आज कत्ल की रात घनी।
छेड़ न श्यामा बुला न मोहन प्रीत उलट आघात बनी॥"[1]

काव्य जीवन के साथ लगा चलता है। अतः प्रेम-काव्य का भविष्य भी देश की रक्षा और संपन्नता पर निर्भर है। अभाग्यवश अपने देश का भविष्य अभी अस्थिर है। इसलिए ऐसी परिस्थिति में प्रेम की कविता के विषय में भविष्यद्वाणी करना कठिन होगा। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक प्रेम की कविता अधिकतर प्रभावपूर्ण और अनुभूति-युक्त है। पूर्वकाल से इसका आदर्श और इसकी अभिव्यंजना अधिक उन्नत है। प्रेम-गीतों में आकर्षण और लालित्य है। केवल औदात्त्य की बहुलता नहीं है। औदात्त्य की न्यूनता हमारे जीवन् में औदात्त्य की कमी की ओर संकेत करती है। हमारे दैनिक जीवन में लालित्य और आकर्षण रहता है, परंतु हम उदात्त और उदार कभी-कभी ही होते हैं। उदात्त प्रेम-गीतों की रचना

(१) रागनी—'ठोकर', पृष्ठ १७।

के लिए आत्मव्यंजन की क्षमता और व्यक्तित्व की उदारता आवश्यक है।

कतिपय अभावों के होने पर प्रेम की अधिकांश कविता सरल, स्वच्छंद, अनुभूतियुक्त और प्रभावशाली है। देश-दशा के अनुकूल होने पर प्रेम की आधुनिक कविता का भविष्य उज्ज्वल और आशापूर्ण है।

प्रकृति-चित्रण

वर्तमान युग के कवियों में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम लक्षित होता है। द्वितीय उत्थान के प्रकृति-काव्य से इन कवियों के प्राकृतिक चित्र अधिक सफल हैं। आज की कविता में द्वितीय उत्थान के अनेक दोषों का निराकरण हो गया है। वर्तमान युग के कवियों को नैतिक उपदेशों में कोई विश्वास नहीं है क्योंकि इनकी धारणा है कि इससे इनकी रचनाओं का सौंदर्य कुंठित हो जाता है। इसलिए ये कवि अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति मात्र से संतुष्ट हैं। ये शब्दचित्र उपस्थित कर अलग हो जाते हैं और पाठकों को अपने-अपने निर्णय पर पहुँचने की पूरी स्वतंत्रता देते हैं। इस कारण इस समय की प्रकृति-संबंधी कविता अधिक मनोरम और आकर्षक है। प्रकृति के प्रति कवियों के संकेत भावपूर्ण और रोचक हैं। द्वितीय उत्थान से इस समय की प्रकृति-संबंधी कविता अधिक भरी-पूरी है। प्रकृति-चित्रण में कई कवि संलग्न हैं और इसके विविध अंगों को दिखलाने के लिए कई प्रणालियों का प्रयोग कर रहे हैं।

प्रकृति-वर्णन के लिए चित्रात्मक प्रणाली का कई कवि उपयोग कर रहे हैं। द्वितीय उत्थान के कवियों के समान ये कवि प्रकृति के बाह्य रूप का विस्तृत विवरण के साथ अंकन करते हैं, कवियों की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति उनके इस कार्य में सहायक होती है। पंत, गुरुभक्त सिंह 'भक्त' तथा 'नेपाली' प्रकृति के विभिन्न रूपों को इसी तरह चित्रित करते हैं। अल्मोड़ा के प्राकृतिक प्रदेश में बीते हुए आरंभिक वर्षों की स्मृति कवि (पंत)

को प्रकृति-चित्रण में सहायता देती है। पार्वत्य प्रदेश के स्वतंत्र जीवन के प्रति कवि में अगाध प्रेम है और वह इसके शब्द-चित्र बड़े उत्साह से उपस्थित करता है। सुमित्रानंदन पंत की रचनाओं में पर्वत झील और संध्या के बड़े सौंदर्यपूर्ण वर्णन मिलते हैं। यहाँ पर केवल दो या तीन पद्य उद्धृत किए जाते हैं। निम्नलिखित वर्णन किसी पार्वत्य प्रदेश (कदाचित् नैनीताल) और उसके आस-पास का है। वृत्ताकार पर्वतमालाएँ अपने 'सहस्र दृग-सुमन फाड़, अपने चरणों में पले ताल' में देख रही हैं—

"पावस ऋतु थी पर्वत-प्रदेश, पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेष।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बारबार, नीचे जल में निज महाकार।
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण सा फैला है विशाल।
गिरि का गौरव गाकर झरझर, मद में नस नस उत्तेजित कर।
मोती की लड़ियों से सुंदर, झरते हैं झाग-भरे निर्झर।"[1]

अचानक आस-पास कुहासे का साम्राज्य फैल जाता है और वस्तुएँ छिप जाती हैं। कोई भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। केवल झरने की ध्वनि सुनाई पड़ती है। झील पर धुआँ उठ रहा है, मानों वह जल गई हो—

"उड़ गया अचानक लो भूधर, फड़का अपार पारद के पर।
रव-शेष रह गए हैं निर्झर, है टूट पड़ा भू पर अंबर।
धँस गए धरा में सभय ताल, उठ रहा धुआँ जल गया ताल।
यों जलद यान में विचर-विचर, था इंद्र खेलता इंद्रजाल।"[2]

कवि केवल पर्वतों की शोभा पर ही मुग्ध नहीं है। उसके लिए मैदान भी सौंदर्यपूर्ण है। 'गुंजन' में सामान्य स्थलों की

(१) पल्लव, पृष्ठ ८। (२) पल्लव, पृष्ठ ९।

प्राकृतिक शोभा की कई कविताएँ हैं। निम्नलिखित वर्णन शांत संध्या का है—

नीरव संध्या में प्रशांत, डूबा है सारा ग्राम प्रांत।
पत्रों के आनत अधरों पर, सो गया निखिल वन का मर्मर।
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।
खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलिहीन।
धूसर भुजंग सा जिह्वा क्षीण।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशांति को रहा चीर।
संध्या-प्रशांति को कर गंभीर॥"[1]

निम्नलिखित पंक्तियों में चाँदनी रात में नौका-विहार का वर्णन है—

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर, हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर।
लो पालें बँधी, खुला लंगर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिंबित हो रजत-पुलिन निर्भर।
दुहरे ऊँचे लगते क्षणभर।
विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे हैं तारक दल।
ज्योतित कर नभ का अंतरतल।
जिनके लघु दीपों को चंचल की ओट किए अविरल।
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल॥"[2]

गुरुभक्त सिंह 'भक्त' में प्रकृति निरीक्षण की सच्ची आँखें हैं। कवि का प्रकृति-प्रेम 'नूरजहाँ' में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। इस काव्य की कथा का प्रसार ही प्राकृतिक क्षेत्रों में होता है। काव्य का आरंभ फारस की प्राकृतिक शोभा के वर्णन से होता है

---

(१) गुंजन, पृष्ठ ७६। (२) गुंजन, पृष्ठ ९४।

और इसके अंत में काश्मीर की सुषमा का चित्रण हुआ है। प्रकृति की पार्श्वभूमि में इसके पात्रों का चरित्र प्रस्फुटित हुआ है। संपूर्ण काव्य प्रकृति-वर्णन—चित्रात्मक तथा संवेदनात्मक-से ओत-प्रोत है और कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचायक हैं।

इस काव्य में पहाड़, घने जंगल, खँडहर, रेगिस्तान, मैदान तथा गाँव आदि सभी के रोचक वर्णन मिलते हैं। कवि ने अपने प्रकृति-प्रेम की सीमा नहीं निर्धारित की। कवि समान उत्साह से भयानक प्रकृति और मनोहर मैदानों का वर्णन करता है। घने जंगल के वर्णन में कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय मिलता है। यह वर्णन चित्रात्मक है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

> "आगे जंगल था घना बड़ा तरु ही तरु थे हरियाली थी।
> छिलके थे छिलके हिलने में तिल भर भी भूमि न खाली थी।
> नीचे से पौधे नए निकल तरुवर वयस्क को बगली दे।
> वारिद सा उठते जाते थे नभ पर हरीतिमा सागर से॥
> बादल सा दल फैलाते थे उड़ जाने को नभमंडल में।
> लतिकाएँ प्रेमपाश से जकड़े रहतीं अपने अंचल में॥
> तृण भी वृक्षों से होड़ लगा उठते ही जाते थे ऊपर।
> लतिका-भूषित तरु-शाख-जाल में विहगों के फँस जाने पर॥
> थी ऊँची-नीची भूमि कहीं चढ़ती गिरती हरियाली थी।
> खग-कुल के बल संगीतों से झंकृत हर डाली डाली थी॥"[1]

'नूरजहाँ' में झील, ग्राम-सुषमा, रात और प्रभात के सौंदर्य-पूर्ण वर्णनों का बाहुल्य है। अधिक उद्धरण देना संभव नहीं

---

(१) नूरजहाँ, पृष्ठ ३७

है। नूरजहाँ के जन्म के प्रभात का वर्णन बहुत आकर्षक है। संध्या का निम्नलिखित संवेदनात्मक वर्णन अत्यंत रोचक है—

"अंगारे पश्चिमी गगन के झवाँ झवाँ कर लाल हुए।
निर्झर खो सोने का पानी पुनः रजत की धार हुए॥
रश्मि-जाल से खेल खेलकर आँखमिचौनी तरु-छाया।
सोने चली गई दिनपति सँग बिलग नहीं रहना भाया॥
केवल एक काक का जोड़ा अभी बहुत घबराया सा।
उड़ता हुआ चला जाता है धुँधले में 'काँ काँ' करता॥
दम साधे सब वृक्ष खड़े हैं पत्तों की रसना है बंद।
आती है विभावरी रानी खोले श्यामल केश स्वछंद॥
मधुप कुसुम से बात न करते तितली पर न हिलाती है।
निद्रा सबकी आखें बंद कर परदा करती जाती है॥
तारे नदी-सेज पर सोए थपकी देने लगी लहर।
रुँधा गला मोथा सेवार से सरिता का धीमा है स्वर॥
कटे करारे से लटकी है गाँठदार कुछ तृण की जड़।
मंद पवन में भी जो हिलकर करती है खड़-खड़ लड़-लड़॥"[1]

गुरुभक्त सिंह 'भक्त' ने वंग की शस्य-श्यामला भूमि की शोभा और काश्मीर की पार्वत्य सुषमा का अपूर्व वर्णन किया है। 'नूरजहाँ' अपने प्रकृति-चित्रण के लिये विख्यात है।

पंत के समान 'नेपाली' को भी प्राकृतिक सुषमा के चित्रण में बड़ा आनंद मिलता है। 'नेपाली' की सबसे बड़ी विशेषता प्रकृति की साधारण, सरल और छोटी वस्तुओं के प्रति प्रेम है। इन्हें प्रकृति-चित्रण के लिए विशाल पर्वत और महान् प्रपातों की विशेष चिंता नहीं। कवि को अपने आँगन की हरी घास ही

---

(१) नूरजहाँ, पृष्ठ ९६।

आनंदित करने लिये प्रर्याप्त है। देहरादून के बेर 'नेपाली' के लिए सब कुछ हैं। अपने आँगन की हरी घास में गलती से स्वर्ग की सुषमा उतर आई है—

"रहता हूँ मैं इस वसुधा में ढक देती है तन को कपास।
जल से समीर से पावक से यह जीवन पाता है हुलास॥
देते हैं खिला खिला मुझको ये उपवन के गेंदे गुलाब।
पर हृदय हरा करनेवाली मेरे आँगन में हरी घास॥
बस गया यहाँ तो गलती से उस प्रभु का सुंदर सुखद स्वर्ग।
क्या समझ लगा दी थी उसने मेरे आँगन में हरी घास॥"[१]

फूल-पत्ती, सुग्गे तथा प्रकृति के अन्य जीवों का दर्शन कवि को आनंदित करता है। इनको आश्चर्य होता है कि इन्हें देखकर लोग कैसे सुखी नहीं होते। इसी से कवि पक्षी से मंजुल बोल बोलने को कहता है—

"फूलों पर मधुपों का गुँजन, फुल चुग्गी का मंजुल रुन झुन।
सुग्गों का फल खाना चुन-चुन, यह सब बन में लख-लख सुनसुन॥
कैसा मन जो उठता न डोल, रे पंछी मंजुल बोल बोल।
जब बैठ नीड़ में डालों पर, सुहला-सुहला चोंचों से पर॥
गदगद होकर आँसू भर-भर, कुछ गीत न गाया रे क्षणभर।
तो इस जीवन का कुछ न मोल, रे पंछी मंजुल बोल बोल॥"[२]

कवि की 'पीपल' शीर्षक रचना में फूल, वृक्ष और उसके आस-पास के दृश्य का विवरण के साथ वर्णन हुआ है। यह कविता बहुत ही मधुर है। आरंभ की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

---

(१) उमंग, पृष्ठ ५०। (२) उमंग, पृष्ठ ३८।

"कानन का यह तरुवर पीपल, युग-युग से जग में अचल अटल।
ऊपर विस्तृत नभ नील नील, नीचे वसुधा में नदी झील।
जामुन तमाल इमली करील,
जल से ऊपर उठता मृणाल, फुनगी पर खिलता कमल लाल।
तिर-तिर करते क्रीड़ा मराल,
ऊँचे टीले से वसुधा पर झरती है निरझरिणी झर-झर।
हो जाता बूँद-बूँद झरकर,
निर्झर के पास खड़ा पीपल सुनता रहता कल-कल ढल ढल।
पल्लव हिलते ढल-पल ढल-पल॥"[1]

प्रकृति के इस सरल पक्ष से सरल ग्रामवासियों का जीवन घनिष्ठ रूप से संबंधित है, 'नेपाली' का ध्यान ग्रामजीवन को ओर है और वे इसका समानुभूतिपूर्ण वर्णन करते हैं, निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति के अधिक संनिकट रहनेवाले ग्रामवासियों का सरल जीवन चित्रित हुआ है।

"हैं आस-पास बन में बिखरे कितने कुटीर रे कई गाँव।
खेलते यहाँ आँगन में हैं मानव स्वभाव के मधुर भाव।
सङ्गीत मधुर इनके जीवन का गाय भैंस की घंटी में।
लौकी के चौड़े पातों पर लहराते इनके मनोभाव।"[2]

कवि गाँवों को पवित्र तीर्थ कहता है। 'मालव की डगर' में ग्रामसुषमा का अच्छा वर्णन हुआ है।

'दिनकर' को भी ग्रामजीवन से प्रेम है, ग्रामवासियों की रहन-सहन का कवि बड़े उत्साह से वर्णन करता है। निम्नलिखित पंक्तियों में इसका संकेत मिलता है—

---

(१) उमंग, पृष्ठ ५२। (२) उमंग, पृष्ठ ६२।

"स्वर्णाचला अहा खेतों में उतरी संध्या श्याम परी।
रोमंथन करती गाएँ आ रहीं रौंदती घास हरी।
घर घर से उठ रहा धुआँ जलते चूल्हे बारी बारी।
चौपालों में कृषक बैठ गाते 'कहँ अटके बनवारी'।
बन-तुलसी की गंध लिए हल्की पुरवैया आती है।
मंदिर की घंटा-ध्वनि युग युग का संदेश सुनाती है।"[1]

'पर्वत-स्मृति' में मनोरंजनप्रसाद सिंह बदरीनाथ धाम के आस-पास के दृश्य का चित्रण करते हैं—

"गिरि-सरिता का वह अल्हड़पन खेल चपल लहरों का।
चीड़-विपिन की सुरभि लिए सुंदर समीर का झोंका।
पयस्विनी के सुंदर तट पर वह लहराते धान।
बटोही फिर वह मीठी तान।
संध्या की वह म्लान माधुरी शीतल सुंदर छाया।
अंधकार की चादर ओढ़े ऊँचे गिरि की काया।
धीरे धीरे हाय हो गए सारे स्वप्न समान।
बटोही फिर वह मीठी तान।"[2]

चित्रात्मक वर्णन के साथ-साथ आधुनिक कवि संवेदनात्मक प्रणाली का भी उपयोग करते हैं। इसमें कवि प्रकृति का विवरण के साथ वर्णन नहीं करते। ये अधिकतर प्रकृति के विषय में अत्यंत सूक्ष्म तथा आवश्यक संकेत करते हैं। इनके प्रकृति-संबंधी उद्गार सदा व्यक्तिगत होते हैं। कवि की भावुकता ही पाठकों के मस्तिष्क को उत्तेजित करती है। कवि के उद्गार ही पाठक के हृदय पर अधिक समय तक अंकित रहते हैं। संवेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के रूपों को अपने रंग में

(१) हुंकार, पृष्ठ ५८। (२) गुनगुन, पृष्ठ ५३।

रंग देती है और भावावेश में कवि को प्रकृति के रूप में अपनी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है। प्रकृति के दृश्यों में दूसरों की कहानी लिखी मिलती है। इस प्रकार रामकुमार वर्मा के अराकान के वर्णन में शुजा के व्यथित मस्तिष्क की झलक मिलती है—

"ये शिलाखंड काले कठोर वर्षा के मेघों से कुरूप।
दानव से बैठे, खड़े या कि अपनी भीषणता में अनूप।
ये शिलाखंड मानों अनेक पापों के फैले हैं समूह।
या नीरसता ने चिर निवास के लिए रचा है एक व्यूह।"[1]

किसी विशेष मनःस्थिति में पंत को सुनहली संध्या ज्वालामय लाक्षागृह की प्रतिकृति प्रतीत होती है—

"धधकती है जलदों से ज्वाल, बन गया नीलम व्योम प्रवाल।
आज सोने का संध्याकाल, जल रहा जंतुगृह सा विकराल॥"[2]

संध्या के निम्नलिखित वर्णन से उदासी बरस रही है क्योंकि कवि मेवाड़ की शोचनीय दशा से व्यथित है। कवि को एक भी व्यक्ति ऐसा नही दिखाई पड़ता जो स्वर्गीय महाराणा प्रताप के उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में समर्थ हो। ऐसी विवशतापूर्ण परिस्थिति में कवि नैराश्यपूर्ण संध्या का निम्नलिखित शब्दों में चित्र उपस्थित करता है—

"अरुण करुण बिंब !
वह निर्धूम भस्मरहित ज्वलन पिंड !
विकल विवर्तनों से
विरल प्रवर्तनों में
श्रमित नमित सा—
पश्चिम के व्योम में है निरवलंब सा।
पेशोला की उर्मियाँ हैं शाँत,

(१) रूपराशि—'शुजा'। (२) पल्लव, पृष्ठ १९।

घनी छाया में—
तट तरु है—चित्रित तरल चित्रसारी में।
झोपड़े खड़े हैं बने शिल्प से विषाद के—
दग्ध अवसाद से।
कालिमा बिखरती है संध्या के कलंक सी,
दुंदुभि-मृदंग तूर्य शांत, स्तब्ध, मौन हैं।"[1]

इसके विपरीत गुजरात के समुद्र-तट का वर्णन अत्यंत मनोरम है, क्योंकि इसका संबंध गुजरात की रानी कमला की यौवनावस्था से है। कमला अपनी यौवनावस्था की याद कर रही है—

"और उस दिन तो;
निर्जन जलधि-वेला रागमयी संध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।
दूरागत वंशीरव—
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रंध्र खोजती थीं, रजनी की नीली किरणें
उसे उसकाने को—हँसाने को।
पश्चिम जलधि में,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छू कर।"[2]

यद्यपि यह अत्यंत स्वाभाविक है कि किसी विशेष मनःस्थिति में वस्तुएँ विशेष रंग में रँगी प्रतीत होती हैं तथापि इसे उस मात्रा तक न पहुँच जाना चाहिए कि प्राकृतिक वर्णन का सौंदर्य

---

(१) लहर, पृष्ठ ६२। (२) लहर, पृष्ठ ६५।

ही नष्ट हो जाय। संवेदनात्मक चित्रण के लिए सामंजस्य और अनुपात की भावना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा प्राकृतिक दृश्य कवि की भावना से आछन्न होकर बिल्कुल अपरिचित सा प्रतीत होगा और वह कवि की कहानी बन जायगा। इस प्रकार तारा पांडे की निम्नलिखित पंक्तियों से यद्यपि कवियित्री के मनोभाव की सूचना मिलती है तथापि इनके उद्गार को हम सत्य नहीं मानते और उसे स्वीकार नहीं कर सकते—

"नीरव नभ भी है रोता।
रोने से ही अखिल विश्व में एकमात्र सुख होता।"[1]

इसी प्रकार चाँदनी रात का रुग्णा बाला से रूपक प्राकृतिक अनुभूति के विरुद्ध है। चाँदनी से आनंद की अनुभूति होती है, रोगिणी की भावना को संकेत नहीं मिलता—

"जग के दुख-दैन्य-शिखर पर यह रुग्णा जीवन-बाला।
रे कब से जाग रही वह आँसू की नीरव माला।"[2]

पर पंत में ऐसे अस्वाभाविक संकेत बहुत कम स्थलों पर मिलते हैं, साधारणतया कवि के संकेत, बड़े भावुक और अनुभूतिपूर्ण होते हैं।

दोषों से युक्त होते हुए भी संवेदनात्मक प्रणाली प्राकृतिक क्षेत्र के संदेश मानवता तक पहुँचा सकने में समर्थ है। जब कवि प्रकृति से अपनी अभिन्नता का अनुभव करते हैं तभी वे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने में समर्थ होते हैं। प्रकृति के दृश्य कवियों की उत्सुकता को जागरित करते हैं। कुछ कवियों को प्रकृति से रहस्यात्मक संकेतों का आभास मिलता है। इस प्रकार पंत यह जानने को उत्सुक हैं कि सरोवर का शांतहृदय किस

---

(१) सीकर, पृष्ठ ५४। (२) गुंजन, पृष्ठ २६।

अभिलाषा से चंचल हो उठता है। किसके स्पर्श से प्रकृति की वीणा मुखरित हो उठती है।

"शांत सरोवर का उर किस इच्छा से लहराकर।
हो उठता चंचल-चंचल ॥
सोए वीणा के सुर क्यों मधुर स्पर्श से मरमर।
बज उठते प्रतिपल प्रतिपल।"[1]

महादेवी वर्मा को भी 'दूर के संगीत सा' किसी के आह्वान का मंद स्वर सुनाई पड़ता है। वह उस पार बुलानेवाला कौन है।

'मुकुल दल से वेदना के दाग को पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ।
चौंक उठतीं अनिल के निश्वास छू तारिकाएँ चकित सी अनजान सी।
तब बुला जाता मुझे उस पार जो दूर के संगीत सा वह कौन है।"[2]

वसंत की सुषमा में पंत को किसी अज्ञात रहस्यमयी सत्ता का आभास मिलता है—

"देख वसुधा का यौवन-भार, गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के से मृदु उद्गार कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास।
न जाने सौरभ के मिस कौन, संदेशा मुझे भेजता मौन।"[3]

वायु में उड़ते हुए पत्तों में कवि को किसी का उठा हुआ हाथ अपनी ओर इंगित करता हुआ प्रतीत होता है—

"कभी उड़ते पत्तों के साथ, मुझे मिलते मेरे सुकुमार।
"बढ़ाकर लहरोंसे निज हाथ, बुलाते मुझको फिर उस पार ॥"[4]

सागर की ओर दौड़ती हुई सरिता से 'प्रसाद' रहस्यात्मक संकेत ग्रहण करते हैं। सरिता की क्षीण धारा सागर बनने का स्वप्न देख रही है। इसी प्रकार आत्मा—प्रकाश की क्षीण रेखा—

---

(१) गुञ्जन, पृष्ठ ४। (२) रश्मि, पृष्ठ १९। (३) पल्लव, पृष्ठ ४७।
(४) पल्लव, पृष्ठ ६०।

उस महत् प्रकाश का आभास धारण किए उससे मिलने को बढ़ रही है। रहस्यवादी भी इसी पथ पर चलकर प्रियतम से मिलते हैं। 'सागर-संगम अरुण नील' का यह प्रधान विषय है। इस कविता का अंतिम पद्य उद्धृत किया जाता है—

"(हिम-शैल-बालिका) देवलोक की अमृत कथा की माया।
छोड़ हरित कानन की आलस छाया,
विश्राम माँगती अपना, जिसका देखा था सपना।
निस्सीम व्योमतल नील अंक में,
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील।
हे सागर-संगम अरुण नील।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों के संकेत अत्यंत स्वाभाविक हैं। कवियों की भावुकता के बल पर ये संकेत पाठकों के हृदय पर चिरकाल के लिए अंकित रहते हैं। ये संकेत बड़े मनोरम और आकर्षक हैं।

इस समय की प्रकृति-संबंधी कविता के विकास पर अपनी संमति देने के पूर्व एक और प्रकार की प्रणाली पर विचार कर लेना आवश्यक है। इसमें कवियों का प्रकृति-प्रेम परोक्ष (Indirect) रूप में प्रकट होता है। इसमें प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग केवल साम्य या तुलना के लिए होता है। कवि प्राकृतिक दृश्यों की योजना मानसिक स्थिति के प्रकाशन या स्वानुभूति के निरूपण के लिए करते हैं। यहाँ पर प्रकृति उपलक्षण मात्र है। पंत और 'प्रसाद' ने इस प्रणाली का प्रयोग किया है।

ईस प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में पंत ने प्राकृतिक दृश्य (वर्षा की रात) का उपयोग प्रेमी की दशा की व्यंजना के लिए किया है—

---

(१) लहर, पृष्ठ १२।

"तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान, प्रभा के पलक मार उर चीर।
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर मुझे करता है अधिक अधीर॥
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण खोजते हैं तब तुम्हें निदान।"[1]

यहाँ पर आंतरिक दशा की तुलना प्रकृति के बाह्य रूप से हुई है। प्रकृति के प्रतीकात्मक प्रयोग के उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। इनमें प्रेम के आनंद और दुःख की व्यंजना हुई है--

"प्रथम इच्छा का पारावार, सुखद आशा का स्वर्गाभास।
स्नेह का वासंती संसार, पुनः उच्छ्वासों का आकाश।
यही तो है जीवन का गान, सुखों का आदि और अवसान॥"[2]

प्रेम के आरंभ में प्रथम तो आशाओं का स्वर्ग दिखाई पड़ता है। वसंत इसका उपलक्षण है। अंत में ग्रीष्म की लू के समान गर्म आहें भरनी पड़ती हैं। यहाँ पर वसंत और ग्रीष्म उपलक्षणों से प्रेमी के हर्ष और दुःख की व्यंजना की गई है।

इसी प्रकार 'प्रसाद' रातभर प्रिय की बड़ी आशा से प्रतीक्षा करने के बाद निराश प्रेमी की व्यथा की व्यंजना करते हैं। प्रभात के उदय के साथ उसकी आशाएँ नष्ट हो जाती हैं। कवि प्रेमी की अवस्था की उस शिरीष के फूल से तुलना करता है जो रात में खिलता है परतु प्रभात होने पर जिसकी पंखड़ियाँ बिखर कर धूल में मिल जाती हैं--

"कुसुमाकर रजनी के जो पिछले पहरों में खिलता।
उस मृदुल शिरीष सुमन सा मैं प्रात धूल में मिलता॥"[2]

कवियों ने अलंकार की परंपरागत शैली पर भी प्रकृति का चित्रण किया है। उनकी ऐसी रचनाओं में उपमा तथा रूपक का

---

(१) पल्लव, पृष्ठ १९ (२) पल्लव—'आँसू'।
(३) आँसू, पृष्ठ २७।

बाहुल्य होता है। इन उपमाओं की योजना प्रभाव-साम्य के आधार पर होती हैं। इससे इन उपमाओं या रूपकों से वर्णनों का प्रभाव कम नहीं होने पाता। इस प्रकार पंत पहाड़ की उपमा हाथी से देते हैं—

"द्विरद-दंतों से उठ सुन्दर, सुखद कर-सीकर से बढ़कर।
भूति से शोभित शिखर बिखर फैल फिर कटि के से परिकर।
बदल यों विविध वेष जलधर बनाते थे गिरि को गजवर॥"[1]

'निराला' के 'पंचवटी-प्रसंग' में गोदावरी का बड़ा सौंदर्य-पूर्ण वर्णन मिलता है। शूर्पणखा अपने फूलों से गुँधे केशों की तुलना तारा-भरी रात में गोदावरी की लहरों से करती है—

"बीच-बीच पुष्प गुँथे किंतु तो भी बंधहीन
लहराते केशजाल जलद श्याम से क्या कभी
समता कर सकती है।
नील नभ तड़ित्तारिकाओं का चित्र ले
क्षिप्रगति चलती अभिसारिका यह गोदावरी।"[2]

'प्रसाद' ने ऊषा को पनघट पर पानी भरनेवाली नागरी का रूप पदान किया है—

"बीती विभावरी जाग री!
अंबर-पनघट में डुबो रही—तारा घट ऊषा-नागरी।
खग-कुल कुल कुल सा बोल रहा, किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—मधु मुकुल नवल रस-गागरी।"[3]

प्रभात का चित्र उपस्थित करने में सांग रूपक का आश्रय लिया गया है। आकाश पनघट है। आकाश में लुप्त होते हुए तारे कलश हैं, जिनको ऊषा-नागरी आकाश रूपी पनघट में

(१) पल्लव, पृष्ठ २२। (२) अनामिका (प्रथम संस्करण, प्रकाशक महादेवप्रसाद), पृष्ठ १२॥ (३) लहर, पृष्ठ १६।

डुबो रही है। पक्षियों का कल-कल डूबते घड़े की ध्वनि का आभास देता है। चंचल किसलय ऊषा-नागरी के हिलते अंचल की ओर संकेत करता है। इस प्रकार रूपक के सहारे प्रभात का बड़ा मनोरम चित्र उपस्थित किया गया है।

ऊषा का नागरी से रूपक कवियों के मनोभाव को विशेष रूप से व्यक्त करता है। प्रकृति को नारी के रूप में ग्रहण करने की कवियों की सामान्य प्रवृत्ति है। इस प्रकार महादेवी वर्मा वसंत-रात्रि को स्वर्ग का रूपक देती हैं--

"धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत-रजनी,
तारकमय नव वेणी--बंधन,
शीशफूल कर शशि का नूतन।
रश्मि-वलय सित नव अवगुंठन।
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।"[1]

'निराला' ने परी के रूप में संध्या के आगमन का बड़ा ही मनोरम चित्र खींचा है--

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे
तिमिरांचल में कहीं नहीं चंचलता का आभास
मधुर-मधुर है दोनों उसके अधर
किंतु जरा गंभीर नहीं है उनमें हास विलास
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक

(१) नीरजा, पृष्ठ ३।

अलसता की सी लता
किंतु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी अंबर-पथ से चली
नूपुरों में भी रुन-झुन रुन-झुन रुन-झुन नहीं
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा चुप-चुप-चुप।"[1]

अलंकार-शैली का ऐसा उन्नतिपूर्ण विकास इस उत्थान की प्रकृति-संबंधी कविता की सफलता का परिचायक है। इसके वर्तमान कलापूर्ण उत्कर्ष का सम्यक् ज्ञान हरिश्चंद्र के यमुना-वर्णन से तुलना करने पर होता है। अलंकार-शैली के प्रयोग में कवियों ने प्रभाव-साम्य पर अपनी दृष्टि बराबर रखी। इसी से उनको इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता मिली।

प्रकृति-वर्णन और चित्रण की अनेक शैलियाँ कवियों के प्रकृति-प्रेम की सूचना देती हैं। प्रकृति के मनोरम वर्णन उज्ज्वल भविष्य का संकेत करते हैं। इसके साथ-साथ यह कहना पड़ेगा कि वर्तमान युग के कवि प्रकृति के उत्साहशील प्रेमी होते हुए भी उसे अपने से पृथक् वस्तु मानते हैं और कदाचित् गुणकारी औषध के समान प्रकृति के सम्यक सेवन को लाभदायक समझते हैं। ये अपने को प्रकृति का अंश नहीं मानते। ये कवि प्रकृति से अपनी अभिन्नता नहीं स्थापित कर सके और न अपने व्यक्तित्व का प्रकृति के महान् व्यक्तित्व में लय कर सके। हम अभी प्रकृति के महान् कवि की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो उसमें तन्मय होकर उसका संदेश मानवता तक पहुँचा सके।

---

(१) परिमल—'संध्या-सुंदरी'।
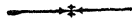
उपसंहार

उपसंहार

इन पृष्ठों में आधुनिक हिंदी-कविता को साहित्य (के प्रत्येक काल के समान उस) की अखंड और शाश्वत धारा के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। साहित्य के इतिहास में इसका क्या स्थान है, इस दृष्टि से भी हिंदी की इस नवीन कविता की विवेचना की गई है। कला और साहित्य-संबंधी विचार तथा कवियों की प्रक्रिया की दृष्टि से भी इसे देखने की चेष्टा की गई है। प्रत्येक उत्थान की प्रचलित प्रवृत्तियों की प्रधान विशेषताओं से हम परिचित हो चुके हैं। इन प्रवृत्तियों में एक उत्थान से द्वितीय उत्थान में जो परिवर्तन और भिन्नता लक्षित हुई है उसे स्पष्ट रूप से दिखाने की चेष्टा की गई है। परिवर्तित होती हुई इन प्रवृत्तियों के अविछिन्न क्रम की ओर भी संकेत किया गया है।

पूर्व-प्रकरणों के अध्ययन से, आशा है, हिंदी की वर्तमान कविता के उत्तरोत्तर विकास और उन्नति का परिचय मिल गया होगा। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया होगा कि भिन्न-भिन्न उत्थानों की विविध प्रवृत्तियाँ अभी तक जीवित हैं और उनका प्रादुर्भाव अकारण नहीं है। प्रथम उत्थान की प्रधान प्रवृत्तियाँ अभी तक प्रचलित हैं, यद्यपि समय और कवियों की परिवर्तित मनोदृष्टि के प्रभाव से उनमें भी कुछ परिवर्तन समुपस्थित हो गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु-युग की सामाजिक प्रवृत्ति आज भी कवियों का ध्यान आकर्षित कर रही है। कवि

सामयिक सामाजिक जीवन में उत्सुकता दिखा रहे हैं; यद्यपि इनकी सामाजिक मनोदृष्टि में महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया है। भारतेंदु-युग के कवियों की सामाजिक चेतना का स्वरूप समाज के अंधविश्वास तथा कुरीतियों की आलोचना में लक्षित होता है। वे समाज की आलोचना द्वारा समाज-सुधार करना चाहते थे। द्वितीय उत्थान में समाज की आलोचना के साथ-साथ कवि समाज द्वारा सताए हुए प्राणियों के प्रति समानुभूति भी प्रदर्शित करते हैं। विधवा, अछूत आदि कवियों की समानुभूति के पात्र बन गए। आधुनिक कवियों के लिए समाज-सुधार की समस्या स्वतंत्र न होकर, उनकी संसार-सुधार की नवीन योजना का एक अंग है। आज के कवि मानवतावादी हैं। वे केवल हिंदू-समाज के सुधार की चेष्टा न कर समस्त मानव-जाति की सामाजिक दासता और अत्याचारों से मुक्ति की कामना करते हैं। वे स्त्रियों के लिए भी समता और स्वतंत्रता चाहते हैं। उनको पूरा विश्वास है कि स्त्री एक दिन समाज में पुरुष के समकक्ष स्थान प्राप्त करेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि सामाजिक समस्याओं से विमुख नहीं है। सामाजिक जीवन के प्रति उनकी उत्सुकता अधिक हो गई है और उनकी मनोदृष्टि भी अधिक व्यापक और उदार बन गई है। वे केवल एक जाति के विषय में न सोचकर सारी मानवता की कल्याण-कामना कर रहे हैं।

धार्मिक कविता के क्षेत्र में भी इसी प्रकार की उन्नति लक्षित होती है। प्रथम उत्थान में राम-कृष्ण तथा अन्य देवताओं पर धार्मिक रचनाएँ मिलती हैं। इन मुक्तक गीतों में उपासना और आत्मसमर्पण की भावना अपनी सीमा पर पहुँची हुई है। इनके साथ-साथ उपदेशात्मक कविताएँ भी लिखी गईं। द्वितीय

उत्थान में नैतिक कविताओं का चलन कम हो गया और ईश्वर-विषयक रचनाएँ भी कम हो गईं। वास्तव में ईश्वर सत्कर्मों में व्याप्त आध्यात्मिक शक्ति में परिवर्तित हो गया। दीन-दुखियों की सेवा और विश्व-प्रेम में कवियों को ईश्वर का आभास मिलता है। कवियों को इसी से मानवतावाद की प्रेरणा मिली। द्वितीय उत्थान के अंतिम वर्षों की मानवतावादी भावना तृतीय उत्थान की विशेष प्रवृत्ति बन गई। द्वितीय उत्थान की धार्मिक कविताओं के रहस्यात्मक पुटका तृतीय उत्थान में अत्यधिक विकास हुआ और फलतः रहस्यवादी कविता आधुनिक काव्य की प्रधान प्रवृत्ति बन गई।

कवियों की देशभक्ति की भावना भी अधिक उदार हो गई है। भारतेंदु-युग की देशभक्ति की कविता का प्रधान विषय हिंदू इतिहास और परंपरा था। द्वितीय उत्थान में इसकी लोकप्रियता के तल में आर्थिक प्रेरणा थी। कवि अतीत से अधिक वर्तमान अवस्था की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे। ये एकता की भावना का प्रचार कर रहे थे आर इनकी मनोदृष्टि आशावादिनी थी। तृतीय उत्थान की देशभक्ति की कविता सक्रिय है। इस समय की देशभक्ति की रचनाओं को सत्याग्रहियों का युद्धगान कहा जा सकता है। इन गीतों में मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए आत्मबलिदान की भावना भरी है। इस समय की देशभक्ति की भावना को राजनीतिक और आर्थिक प्रेरणा से उत्साह और उत्तेजना मिल रही है।

यह तो प्रथम उत्थान की प्रधान प्रवृत्तियों के तृतीय उत्थान तक उत्तरोत्तर विकास की कथा हुई। प्रेम और प्रकृति को भी कवियों ने अपनाकर उनका सुरुचिपूर्ण विकास किया। प्रथम उत्थान की बाह्यार्थनिरूपिणी प्रेम की कविता के स्थान पर तृतीय

उत्थान में स्वानुभूतिनिरूपक मुक्तक गीतों की प्रधानता हो गई। प्रेमगीतों में आधुनिक कवियों का व्यक्तिगत राग और भावातिरेक अपनी सीमा पर पहुँचा हुआ है। प्रेम के मुक्तक गीतों में कवि के व्यक्तित्व का प्रदर्शन होता है। ये मुक्तक गीत कवि की मनःस्थिति के रंग में रँगे हुए हैं और उनकी भावना इनको उद्दीप्त करती है। कवियों को संयम और औचित्य का ध्यान रहता है। आधुनिक कवि प्रकृति के संपर्क में प्रसन्न होते हैं। इनको प्रकृति के भव्य और साधारण दोनों रूपों से प्रेम है। प्रकृति-वर्णन के लिए इन कवियों ने चित्रात्मक तथा संवेदनात्मक शैली ग्रहण की है।

मुक्तक गीतात्मकता, अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली और क्रांतिवाद का पुट आधुनिक काव्य की प्रधान विशेषता है। इनके तल में आज की सामयिक परिस्थिति है। स्वतंत्रता के आंदोलन का कवियों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है और फलतः आज की कविता भी अत्यधिक प्रभावित हुई है। कवि स्वतंत्रता का संदेश सुना रहे हैं। ये प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता का स्वागत कर रहे हैं। आधुनिक कवि बिना आलोचना किए किसी भी विचार को श्रद्धापूर्वक चुपचाप स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। इसी से ये प्राचीन नैतिक और सामाजिक व्यवस्था को चुनौती दे रहे हैं। ये साहित्य के परंपरागत रूपों को भी चुनौती दे रहे हैं। हमारी मनोदृष्टि आलोचनात्मक हो गई है और हम में विश्वास की अपेक्षा संदेह प्रबल है। नवयुवकों का अपने प्राचीन आदेशों से विश्वास उठ गया है और इसके स्थान पर अन्य संतोषदायक विचारों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है। आज का समय अव्यवस्था और संघर्ष का युग है। ऐसी परिस्थितियाँ सदैव से गीतात्मक उद्रेक के तल में रही हैं। ऐसी गंभीर शंका और प्रश्न के युग में

स्वीकृति और सामंजस्यपूर्ण चित्रण की शास्त्रानुयायी (Classical) भावना नहीं ठहर सकती। आज की अशांति और अंतस् की अभिव्यक्ति की उत्कट इच्छा आधुनिक काव्य की मुक्तक गीतात्मकता का प्रधान कारण है, इसकी भाषा भी विचारों की सूक्ष्मता को प्रकट करने में समर्थ हो गई है। खड़ी बोली की पूर्व समय की कर्कशता बहुत कुछ दूर हो गई है और कवियों ने इसकी गीतात्मकता का सफलतापूर्वक विकास किया है। रवींद्रनाथ ठाकुर के मुक्तक गीतों से भी कवि यथेष्ट प्रभावित हुए। अंगरेजी के स्वच्छंदतावादी (Romantic) कवियों के अध्ययन से भी हिंदी के कवियों को अपनी कविता में मुक्तक-गीतात्मकता के लाने की प्रेरणा मिली।

आधुनिक समय नवीन प्रयोगों का समय है। प्रयोगात्मक युग (जो अपने असंतोष के स्रोतों से पूर्णतया अवगत है, परंतु उन्हें दूर करने के साधनों के विषय में निश्चित नहीं है) की अभिव्यक्ति साहित्य के नवीन प्रयोगात्मक रूपों में होती है। आधुनिक काव्य में केवल आज की बौद्धिक हलचल नहीं लक्षित होती, वरन् काव्य के बाह्य रूपों पर भी इसका प्रभाव लक्षित होता है। कवि वृत्तों और छंदों के नवीन प्रयोगों में प्रयत्नशील हैं। छंदों की नवीन उद्भावना और प्रक्रिया में पूर्व समय से अधिक स्वतंत्रता स्वच्छंदता और लक्षित होती है कवियों को छंदों के प्रयोग में पूर्ण स्वतंत्रता है। इनका रूपविधान और योजना नवीन रचनाओं से अलग न होकर उनका अंग बन गई है। यह नवीन छंद-योजना परंपरा के विरुद्ध आधुनिक विद्रोह का अंग है। तत्कालीन परिणाम से संतुष्ट न होते हुए भी इन नवीन प्रयोगों का स्वागत करना चाहिए; क्योंकि इनसे कलापूर्ण नवीन लययुक्त छंदोद्भावना संभव है।

नवीन क्षेत्र में प्रवाहित होनेवाली एक नूतन काव्यधारा का जन्म हो रहा है। आधुनिक काव्य में क्रांतिवाद की प्रबलता इसका प्रमाण है। इसका एक कारण समाजवादी साहित्य की भरमार है, जो दैन्य के चित्रण में कभी-कभी सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। कवि मानवतावादी हैं। जनता की आधुनिक आर्थिक दुरवस्था ने उनको संसार की वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने को विवश किया है। ये केवल एक देश की स्वतंत्रता की कामना न कर समस्त मानव जाति का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण से उद्धार चाहते हैं। ये एक ऐसी व्यवस्था का संदेश सुना रहे हैं जिसमें महाजनों द्वारा दीनों का शोषण न हो सकेगा और सब शांति एवं सुख से रह सकेंगे। कवि क्रांतिवादी विचारों से प्रभावित हुए हैं। ये स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। कवियों के लिए इसका भावुकता से अधिक आर्थिक महत्त्व है। इनकी क्रांतिवादी प्रवृत्ति, वर्णनाश और वर्गनाश में सबसे अधिक लक्षित होती है। हिंदी-काव्य के इतिहास में क्रांतिवाद का नया पृष्ठ जुड़ रहा है।

आधुनिक काव्य का महत्त्व इस बात में है कि इसका मूल वास्तविकता में है। आज का समग्र जीवन आधुनिक कविता का कार्यक्षेत्र बन गया है। आधुनिक कवि के लिए कोई भी विषय भद्दा या काव्य के अनुपयुक्त नहीं है। सामान्य मानवता—विधवा, किसान, मजदूर, भिखारी—के सुख-दुःख से उसका अबाध संबंध है। सम-सामयिक जीवन के प्रति कवि की प्रजातंत्रात्मक उत्सुकता केवल दिखावा नहीं है। अधिकांश कवि इतने संपन्न नहीं हैं कि वे कभी-कभी गरीबों का जीवन देखने जाते हों और फिर फैशन के रूप में उसका वर्णन करते हों। संपूर्ण जीवन को—उसकी सुंदरता और कुरूपता के

सहित—स्वीकार कर कवि निर्भय होकर सचाई के साथ उसकी अभिव्यक्ति कर रहे हैं। कविता में कुरूपता का कारण यह है कि आज का कवि सच्चा है और वह जीवन की कुरूपता पर परदा नहीं डालना चाहता।

वर्तमान काव्य की गति स्वच्छंदतावाद से क्रांतिवाद की ओर है। स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्ति कवि के सौंदर्य की खोज और रूढ़ि से उद्धार की चेष्टा में लक्षित होती है। इसके दर्शन रहस्य की सूक्ष्म भावना, बौद्धिक उत्सुकता एवं जिज्ञासा और जीवन के सामान्य तथा साधारण दृश्यों के प्रति कवि के झुकाव में होते हैं। कवियों की स्वच्छंदतावादी मनोदृष्टि का पता परंपरा से प्राप्त छंदों के त्याग और स्वतंत्र तथा नवीन छंदोद्भावना से भी लगता है। नूतन छंदविधान के प्रयोगों के मूल में इसी की प्रेरणा है।

स्वच्छंदतावाद को वर्तमान काव्य का सामान्य लक्षण नहीं कहा जा सकता। वर्तमान काव्य में नूतन विचारों की इतनी धारा-प्रधाराओं का संगम हो रहा है कि किसी एक प्रवृत्ति को चुनकर उसे वर्तमान काव्य का सामान्य लक्षण घोषित करना बड़ा कठिन है। विभिन्न और विरोधी विचार वर्तमान कविता में बिल्कुल मिले-जुले दिखाई पड़ते हैं। स्वच्छंदतावाद और क्रांतिवाद एक दूसरे के साथ हैं।

वर्तमान कविता के संबंध में इतना कहने के बाद वर्तमान कवियों के विषय में दो-चार शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा। भावक्षेत्र में संपूर्ण जीवन और सचाई को अपनाने पर भी वर्तमान कवियों को भावाभिव्यक्ति के लिए जीवन की भाषा के उपयोग में कुछ संकोच हो रहा है। बहुत से कवियों की शैली संस्कृत-पदावली से ओत-प्रोत है। इसके अत्यधिक सेवन से

हिंदी भाषा की नैसर्गिक मधुरता के विकास का अवसर नहीं मिल रहा है। इसके कारण कवियों का संदेश भी जनता तक नहीं पहुँच सकता, क्योंकि इन कवियों की अत्यधिक संस्कृतगर्भ भाषा बहुत कम लोग समझ सकते हैं। यदि कविता को मृत और संकुचित होने से बचाना है तो इन कवियों की शैली में परिवर्तन परमावश्यक है। कविता में ओज और जीवन लाने के लिए कवियों को दैनिक जीवन की भाषा का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करना चाहिए। कविता कवि और पाठक के बीच भाववहन की स्वाभाविक और आनंददायिनी कला है। यह कतिपय चुने हुए विद्वानों के मनोरंजन और तमाशे के लिए क्लिष्ट पहेली नहीं है। इसके अर्थ की अनुभूति होनी चाहिए न कि इसके शब्दार्थ को जानने के लिए कोश की पद-पद पर आवश्यकता। जो भाषा हमारे जीवन के सुख-दुख की अभिव्यक्ति के उपयुक्त है उसका काव्यक्षेत्र में भी थोड़े कौशल से सफल व्यवहार हो सकता है। कवियों को आडंबरयुक्त और भड़कीली भाषा के चक्कर में न पड़कर सामान्य जीवन की भाषा का उपयोग करना चाहिए।

कभी कभी हमारे कवि समालोचना को बड़ी हेय दृष्टि से देखते हैं और अपने अनोखेपन के विचार में डूबे रहते हैं। क्रोधपूर्ण वाद-विवाद में पड़ना कवि के लिए हानिकारक है, क्योंकि उसका कुप्रभाव कविता पर भी पड़ता है। प्रचार के फेर में न पड़कर कवियों को भावगांभीर्य और सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

इस अध्याय के आरंभ में दिए हुए विभिन्न प्रवृत्तियों के संक्षिप्त विवरण से, एक उत्थान से दूसरे उत्थान में, इनके स्वाभाविक विकास की गति का पता चलता है। हमें किसी ऐसी प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते जिसके प्रादुर्भाव का कारण न बताया

जा सके। एक उत्थान से दूसरे उत्थान में किसी प्रवृत्ति में अनायास परिवर्तन नहीं हुआ है। हम देखते हैं कि हमारे समय की कविता का प्रादुर्भाव आधुनिक जीवन से हुआ है और यह जीवन पूर्वसमय से प्रभावित हुआ है। हम जानते हैं कि प्रत्येक उत्थान की कुछ अपनी विशिष्टता होती है जो उसे दूसरे उत्थानों से अलग करती है। इसी प्रकार हिंदी की आधुनिक कविता के तीन उत्थानों की अपनी अपनी विशिष्टता है जो उन्हें एक दूसरे से (परस्पर विरोधी न होने पर भी) अलग करती है। प्रथम उत्थान की सबसे बड़ी विशेषता भाव परिवर्तन है। द्विवेदी-युग भाषा-परिवर्तन के लिए विख्यात है और तृतीय उत्थान की विशेषता अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली है। भावों की नवीनता से क्रमशः भाषा और प्रक्रिया की नवीनता में कोई अस्वाभाविकता नहीं लक्षित होती। ये उत्थान एक दूसरे से अलग न होकर एक दूसरे से मिले और जुड़े हुए वर्तमान हिंदी-कविता के स्वाभाविक विकास और प्रगति की कथा कह रहे हैं।

यह निर्विवाद है कि आधुनिक हिंदी-काव्य का क्षेत्र पूर्ववर्ती कालों से कहीं अधिक विस्तृत है। काव्य के लिए आज के समस्त भावों तथा भापा का द्वार उन्मुक्त है। कभी-कभी इसकी वर्तमान अव्यवस्थित दशा को देखकर कुछ लोग इसके उज्ज्वल भविष्य के विषय में शंकित हो उठते हैं। इस संबंध में यह न भूलना चाहिए कि परिवर्तन और संक्रांति के युग में जब नई-नई अनुभूतियों का साहित्य में समावेश होता है और रूढ़िगत एवं प्राचीन अभिव्यंजना-पद्धति को छोड़कर नए प्रयोगों का आरंभ होता है तब प्रत्येक प्रकार की कला एवं काव्य में थोड़े समय के लिए अव्यवस्था और उपद्रव अनिवार्य सा हो जाता है; परंतु ऐसी अवस्था अधिक समय तक नहीं रहती और ये कठि-

नाइयाँ अनतिक्रम्य नहीं होतीं। दोष तथा अभाव के होते हुए भी काव्य का वर्तमान स्वतंत्र विकास इसके स्वस्थ एवं आशापूर्ण भविष्य का द्योतक है। आधुनिक काव्य में सामयिक और शाश्वत महत्त्व की पर्याप्त सामग्री है। मानसिक संकीर्णता और सहज द्वेष को छोड़ कर समानुभूतिपूर्वक अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को आधुनिक काव्य की कथा और संदेश में बहुत कुछ मिलेगा।